





# भारतीय काव्यशास्त्र : नई व्याख्या

### डॉॅं० राममूर्ति त्रिपाठी

प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

एकमात्र वितरक

# साहित्य भवना पालिमिटेड

इलाहाबाद-३

# 🔘 डाँ० राममूर्ति त्रिपाठी

संस्करण	प्रथम, १६७४ ई०
प्रकाशक	राका प्रकाशन ४०-ए, मोतीलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद–२
वितरक	साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड जीरो रोड, इलाहाबाद-३
मुद्रक	पर्वतीय मुद्रणालय १८, राय रामचरनदास रोड, इलाहाबाद-२
आवरण	शिव गोविन्द पाण्डेय
मृ्ल्य	चौदह रुपये मात्र

स्मृतिरोष पुण्य**र**लोक डॉ॰ गोपाल न्यास को स्मृतिकोष प्रव्यविकारक को गोपाल क्याप्स केंद्र

#### प्राक्कथन

हिन्दी समीक्षा-क्षेत्र में यह आवाज बार-बार उठती है कि हिन्दी के 'अपने' समीक्षा-शास्त्र का निर्माण और विकास होना चाहिए । अपने समय के चिन्तन को देखते हुए सजग समीक्षकों के अन्तरतम से निकलने वाली यह आवाज इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि अपने समीक्षा-शास्त्र के निर्माण और विकास में कहीं कोई गत्यवरोध है और यह अकारण नहीं है। कहीं कुछ है जो 'अपने' को 'पहचानने' नहीं देता है, फलतः निर्माण और विकास में गत्यवरोध आ जाता है। भारतीय मानस 'आत्मशक्ति' का एहसास खो चुका है, फलतः वह आत्म-प्रत्यभिज्ञा की दिशा अनुद्घाटित ही रहने दे रहा है और जब ऐसा है तब निर्मित तथा विकसित कैसे हो ? जिस राष्ट्र की नई चेतना 'अपने' को 'हीन' समझकर 'ऊँचा' बनने की चाह से दूसरे राष्ट्र का अंधाधुंध अनुकरण करने में लग जाय, उससे क्या आशा की जाय ? जो लोग थोड़ा 'अपनी' ओर मुड़कर देखना चाहते हैं या देखने लगते हैं, उन्हें नव निर्माताओं की परिधि से काटकर पृथक् कर दिया जाता है। नये से नये ज्ञानालोक में अपनी विवेक-शक्ति का परिमार्जन कीजिए, पर नियोजित कीजिए उसे 'अपने' स्वभाव में निहित संभावनाओं के विकास के लिए। किन्तु यह सब जिस कपिलसमाधि से साध्य हैं, वर्तमान ढाँचे की निशाचरी वृत्तियाँ उस समाधि में साधक को जाने ही नहीं देतीं।

सर्जना के क्षेत्र में हिंदी साहित्य की प्रातिभ क्षमता निश्चय ही सामने आई है, पर सर्जक अपने उत्तरदायित्व की अपेक्षा समीक्षक के उत्तरदायित्व का ध्यान ज्यादा जोर से वहन करना-कराना चाहता है। वह यह नहीं सोचता कि सर्जना काल की निर्मम भट्ठी पर दस-बीस वर्ष स्वयं पच-पचा ले फिर जब वह आत्मशक्ति के बल पर कालजयी बन जाय, तब थिराहट में समीक्षक निहित 'शक्ति' या प्रतिमान को उभारे। यहाँ तो निकट अतीत के प्रयासों में दिखाई यह पड़ता है कि तुम नहीं तो मैं ही समीक्षा करूँगा और तुम मेरी प्रशंसात्मक समीक्षा नहीं करोगे तो मैं तुम्हें ही उखाड़ दूँगा। नई प्रतिभाओं का सारा श्रम आन्दोलनों और धाराओं को नए शीर्षक श्रदान कर विकृत अहम्मन्यता की पुष्टि करने में नियोजित हो रहा है।

कुछ नए अधीत चिन्तक और समीक्षक जब यह कहते हैं कि भाव कविता का शील है, रस आत्मा हो न हो—तब पूर्वार्द्ध से सहमत होकर भी उत्तरा ई

चिन्त्य हो जाता है। बावजूद इसके 'भाव कविता का शील है' यह उद्घोष किसी राष्ट्र की प्रकृति का अतिक्रमण कर कविता की प्रकृति से अवश्य जुट जाता है। जब अद्यतन चितक यह मानता है कि सर्जनात्मक अनुभूति को वहन करने वाले सटीक और अपरिवर्तनीय अर्थवान शब्द कविता में सब कुछ हैं, तब वह कविता के अपने स्वभाव का निश्चय ही दीप्त रूप मुखर करता है। कविता के स्वभाव-समुद्र में समय-समय पर बुलबुले की भाँति उतराने वाली 'विसंगति', 'सपाट बयानी' आदि को प्रतिमान के स्तर पर रखना बहुत स्थायी को महत्त्व देना नहीं है। कविता की प्रवृत्ति और उसके बाद राष्ट्र की प्रकृति को न झेल सकने का ही यह परिणाम था कि प्रगतिवाद जैसा आन्दोलन हिन्दी के सर्जना-त्मक साहित्याकाश में लूक की तरह आया और चला गया। जो कविता जरूरत की कविता हो, हाथों की छटपटाहट हो, वह काल की निर्मम भट्टी पर चढ़ने के बाद कितनी मात्रा में कालजयी होगी-कहा नहीं जा सकता। फिर इनसे कौन से प्रतिमान स्पष्ट होंगे ? यह ठीक है कि कविता में चिरंतन और सदातन को अद्यतन के माध्यम से ही व्यक्त किया जाता है, पर ऐसे स्रष्टा में भी तो कहीं चिरंतन और सदातन की परख, पहचान, आस्था और झुकाव हो। समीक्षा रचना या सर्जना की अनुधाविनी है, सखा है, शासक है, अतः समीक्षा का गत्यवरोध आदि दूर करना है तो सर्जक की आत्मशक्ति की परख अतीत में घुसकर करनी होगी और अपने स्वभाव की संभावनाओं को ही साहित्य के रूप में मूर्त करना होगा।

भारतीय कान्यशास्त्र 'अतीत' का है, इसमें कोई संदेह नहीं, परन्तु उसमें निरूपित भेद-प्रभेदों की तह में अनुस्यूत 'सामान्य' इतनी संभावनाओं का है कि उसका पुनरुज्जीवन वर्तमान किन्तु 'अपने' को अभिव्यक्त करने वाले अद्यतन सर्जन के संदर्भ में किया जा सकता है। प्रस्तुत कृति इसी संदर्भ का प्रयास है। मूल्य और महत्त्व सहृदय चिन्तकों के हाथ में जाने पर ही तय होगा।

कृति के प्रकाशन में योग देने वाले मित्रवर डॉ॰ पारसनाथ तिवारी तथा मुद्रण में समय की गित से अधिक सिक्रिय श्री रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी' को धन्यवाद दिए बिना इस संदर्भ का कर्तंच्य अधूरा रह जायगा। अंततः कृति के आकार ग्रहण करने में साक्षात्-असाक्षात् जिसका भी सहयोग हो, सब के प्रति आभार।

विश्वविद्यालय आवास कोठी रोड, उज्जैन २ दिसम्बर, १९७३ ई०

राममूर्ति त्रिपाठी

## अनुक्रम

<ul> <li>भारतीय काव्यशास्त्र : वर्तमान सन्दर्भ में</li> </ul>	•••	9
• भाष्य और समीक्षा	• • •	39
• समीक्षा और भारतीय काव्य-सिद्धान्त	•••	30
• पुरातन और अद्यतन आचार्यों की दृष्टि में काव्यानुभूति		
• पुरातन और अद्यतन साहित्य और साधारण प्रतिमान		
• आलोचना के नये मान	•••	प्र
<ul> <li>वर्तमान साहित्य और आस्था</li> </ul>	•••	Ę,
<ul> <li>भावकत्व और कल्पना</li> </ul>		६
• नई कृतियाँ : पुराना मूल्यांकन—		
पुरानी कृतियाँ: नया मूल्यांकन	• • •	७ः
● वर्तमान साहित्य में 'यथार्थ' के बदलते रूप	•••	5
• समीक्षा के बदलते प्रतिमान	•••	-25
• समीक्षण और मूल्यांकन	•••	90
<ul> <li>काव्य की आत्मा का प्रश्न और रस की स्थिति</li> </ul>		900
• समीक्षा और शोध: समस्या और समाधान	•••	998
<ul> <li>नवलेखन: स्वरूप और सम्भावनाएँ</li> </ul>	• • •	928
• नव्यशास्त्रीय समीक्षा के शिखर: आचार्य रामचन्द्र		
<b>शुक्ल</b>		928
• भारतीय काव्यशास्त्र और उसकी सम्भावनाएँ :	•••	
शुक्लोत्तर समीक्षा के सन्दर्भ में	•••	935
• भारतीय काव्यशास्त्र के पुनराख्याता : आचार्य नन्द	4 dis-	
दुलारे वाजपेयी	•••	9 ሂ ३
• भारतीय काव्यशास्त्र के पूनराख्याता : डॉ० नगेन्द्र	• • •	953

. . .

HAT !- IT

the second section of the period क विश्व हैं। इस की बहु के किया है। AND THE PROPERTY OF THE PERSON OF THE PARTY STATE OF THE PARTY PARTY STAT of the State of Charles and Charles of the

是 特 明

# एक मारतीय काव्यशास्त्र : वर्तमान सन्दर्भ में

是是 1- 任何期间10mm中间10mm

### त्रात्र । प्रदेशके सामा प्रमाणिक प्रित्त के प्रमाणिक स्थापन कर्णा कर्णा । स्थापन क्षेत्रक स्थापन स्था

্বিক প্রকর্মিনার পর্যালন বিষয়ের স্থানিয়ের বিষয়ের বিষয়ের সাহিত্যালয় করিছে। বিষয়ের সংগ্রাহী প্রতিষ্ঠানির করি চারী চারী সংযাগের উপনিয়ার সাহিত্যালয় করিছে।

ं गार एक वं लागत में वंशाया विवास कि प्राप्त की विवास

काव्य के शास्त्र से अभिप्राय उसके शासन से है—नियम-विधान से है। शास्त्र इसलिए 'शास्त्र' माना जाता है कि वह शासन करता है—किवयों को निरंकुश होने से रोकता है। कितपय साहित्यशास्त्रियों ने काव्यशास्त्र या काव्यशासन की जगह 'काव्यानुशासन' शब्द का ठीक उसी प्रकार प्रयोग किया है जैसे व्याकरण के भारतीय चितकों ने 'शब्दानुशासन' का। महाभाष्यकार पतंजिल ने शब्द प्रयुक्त—शब्द-लक्ष्य—का अनुगामी रहकर शब्दशासन की बात कही है, लक्ष्य को ध्यान में रखकर लक्षणों का विचार किया है, न कि लक्षणों के द्वारा लक्ष्य का स्वरूप निर्धारित किया है। कहा भी गया है—''लक्ष्यंकच-क्षुष्काः वैयाकरणाः।'' ठीक इसी प्रकार जब हेमचन्द्र या वाग्भट 'काव्यानुशासन' की बात करते हैं अथवा दशरूपककार उत्कृष्ट रचनाओं को देखकर नियम बनाने की युक्ति प्रदिशत करते हैं तब वे भी शब्दिवदों की भाँति शासन नहीं अनुशासन का ही समर्थन करते हैं। काव्य का अनुशासन ही काव्य का शास्त्र है।

बात यह है कि शासन या नियम-निर्माण बुद्धि का कार्य है और काव्य उसकी अपेक्षा ओर भी महत्त्वपूर्ण किसी सर्जनात्मक शक्ति का—जो केवल संश्लेष को जानती है, समग्र से परिचित है—उसके द्वारा की गई सृष्टि में कौन कहाँ से आकर किस अनुपात में किस तरह आवयिवक विकास की अखण्ड प्रक्रिया में जुट गया, इसका उसे बता नहीं। यह अवश्य मानने की बात है कि हर किवता उस सर्जनात्मक शिक्त का प्रसव नहीं होती। कौन-सी रचना सर्जनात्मक शिक्त की प्रसूति है—इसका निकष भी सब का हृदय नहीं हो सकता। तभी तो किसी को लिखना पड़ा कि 'तार सप्तक' लाला भगवानदीन के हाथों पड़कर अपना प्राप्य नहीं पा सकता। सहृदय समीक्षक या समझदार

को काव्यधारा और जीवनधारा के सम्पर्क में रहकर अपनी समझ या ग्रहण-शीलता को निरन्तर ताजा रखना पड़ता है। जिस समझदार में इस ग्रहणशील वृत्ति की ताजगी अन्य दोनों सम्पर्कों के अभाव में मर जाती है, उसमें अनुशासन की क्षमता नहीं आ सकती—वह अनुरूप प्रतिमान नहीं निर्धारित कर सकता।

कतिपय चिंतकों की घारणा तो यह है कि न तो काव्य का अनुशासन तात्त्विक भूमिका पर सम्भव है और न काव्य के लिए उसकी कोई आवश्यकता ही है। पहली बात इसलिए मान्य है कि कविता अपने हर प्रयास में सर्जना-त्मक शक्ति 'नवता' से संवलित रहती है, अतः अनुशासन रखने वाली बुद्धि हमेशा पीछे ही रह जाती है और दूसरी बात भारतीय काव्यशास्त्रियों के साक्ष्य पर इसलिए सही है कि वे काव्य को महज आस्वाद की वस्तु मानते हैं-उनका सर्वाधिक मान्य रसात्मक प्रतिमान केवल आस्वाद की निरतिशयता या तारतिमकता बताता है। निरित्रायता रस की अपनी स्वरूपगत विशेषता है जबिक तारतिमकता ग्राहक के संस्कार और व्यंजक सामग्री की । वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्रियों के रसात्मक प्रतिमान में आस्वाद या प्रीति के साथ-साथ ब्यूत्पत्ति अथवा मूल्य की बात इस कदर अपरिहार्य अंग बन गई है कि उसे अलग से न कहकर भी कह दिया गया है। इसीलिए रसात्मक प्रतिमान के विषय में यह कहना कि वह मूल्यांकन की ओर उन्मुख नहीं है सही भी है और नहीं भी । सही इसलिए कि वह काव्य का लक्ष्य चर्वणा या आस्वादमात्र मानता है, और नहीं भी इसलिए कि आस्वाद-उत्पादक-अवयव समाज-निर्धारित-औचित्य (मूल्य) गिंभत होते ही हैं अन्यथा 'आस्वाद' की निष्पत्ति ही न हो सकेगी। तभी तो आनंदवर्द्धन ने कहा —

### अनौचित्यादृते नान्यद्रसमंगस्यकारणम् । औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ।।

यह औचित्य सामाजिक मूल्य ही है जिसे रसिसद्धांती काव्येतर मूल्य कह दिया करते हैं—वस्तुत: यह पक्षपाती उदग्र दृष्टि की परिणित है। औचित्य या मूल्य वह तत्त्व है जो जीवन और काव्य के भेद को समाप्त करता है। वह काव्येतर होकर भी काव्य का है—यदि ठीक ढंग के सोचा जाए। निष्कर्ष यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र काव्यानुशासन, काव्य का रसात्मक प्रतिमान—सब-कुछ है, अर्थात् प्रतिमान भी, आस्वाद प्रक्रिया भी और साथ ही आस्वाद भी। निस्संदेह यह बड़ा ही समर्थ प्रतिमान है। वर्तमान जीवन और जगत् में उन

तमाम औचित्य-नियामक मूंल्यों का विघटन चल रहा है जिन्हें रस-निष्पत्ति के लिए अनिवार्य समझा जाता है। इसलिए अनुरूप सामग्री की योजना ही सम्भव नहीं है। मनुष्य ने, उसके द्वारा निर्मित समाज ने अपनी सुदीर्घ यात्रा में जिन मानवीय मूल्यों को अजित किया है वे टूट रहे हैं। मेरा विश्वास तो यह है कि वे टूट नहीं रहे हैं वरन् पुनः प्राणार्जन की आन्तरालिक प्रक्रिया में हैं। यदि जीवन, जगत् और किवता में कोई सर्जनात्मक शक्ति है तो उसकी सार्थकता, उसके अस्तित्व का प्रमाण इसी में है कि संघटन और विघटन उभयविध प्रक्रिया में निर्माण की ओर ही अग्रसर हों। डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी प्रशन किया है कि विद्रोह और संघर्ष किसके प्रति? जिस डाली पर मानव और समाज वैठा है, उसी के प्रति?

जो भी हों, सवाल यह है कि जो प्रवृत्ति छाय।वाद के अनन्तर हिन्दी साहित्य में अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुई है, उसको व्याख्यायित करने में, उसके सौन्दर्य-परीक्षण में, उसको समझने-समझाने में भारतीय काव्यशास्त्र कहाँ तक समर्थ है ? सवाल इतना ही नहीं है बल्कि यह भी है कि भारतीय प्रतिमानों में ऐसी संभावनाएँ भी हैं क्या—जिन्हें छायावादोत्तर नई काव्यधारा को व्याख्यायित करने में उपयुक्त किया जा सकता है ? 'भाषा और संवेदनाकार' ने तो स्पष्ट घोषणा कर दी है कि नई काव्यधारा के सौन्दर्य-विश्लेषण में प्राचीन भारतीय प्रतिमान अक्षम हैं, उनमें अब ऐसी कोई संभावना भी नहीं शेष है जिसे नई काव्यधारा के सन्दर्भ में उघाड़ा जा सके। भारतीय काव्यशास्त्र से अपरिचित ऐसे तमाम काव्यचितक हैं जिनके उद्धरण इस संदर्भ में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

छायावादोत्तर काव्यप्रवृतियों और उसके आलोचकों की बात तो विचार-णीय है ही, एक समय था जब स्वच्छन्दतावादी या छायावाद के समीक्षक ही यह कहने लग गये थे कि काव्य के उस रूप के सौन्दर्य-परीक्षण में पुरातन भारतीय प्रतिमान अपर्याप्त हो गये हैं। परन्तु ज्यों-ज्यों छायावादी आस्वाद और भारतीय प्रतिमान (रस-ध्विन)नजदीक आते गये, त्यों-त्यों उनका अजनबी-पन मिटता गया। एक तरफ़ आचार्य नन्ददुलारे वाजपयी 'भाविनरूपण के पद्धतिबद्ध रूप' को हेय बताते हुए भी युगोचित परिष्कार के साथ 'रस' को काव्य की निर्विवाद आत्मा घोषित करते हैं और दूसरी ओर प्रसाद जी 'छाया या प्रतीयमान' अर्थ को काव्य का सर्वस्व कहते हैं। उक्त स्थापनाओं द्वारा इन किवयों और आलोचकों ने भारतीय प्रतिमानों में निहित संभावनाओं को देखा है और उसे छायावादी साहित्य के लिए भी उपयोगी माना है। स्वच्छन्दतावादी साहित्य के विषय में कतिपय चिन्तकों की यह घारणा भी थी कि इस साहित्य से अभिव्यक्त सौन्दर्य का संवेदन काव्यगत विषय से आगे बढकर किव की अन्तरआत्मा के साक्षात्कार से संभव है (क्योंकि ये लोग सौन्दर्य को आत्मनिष्ठ मानते हैं) जबकि रस का ग्रहण काव्यगत विषय (विभावादि) से ही हो जाता है, अतः रसवादी प्रतिमान की बात फिर भी निर्थंक है। वस्तुतः यह आक्षेप रस के मध्यकालीन माध्यम-प्रधान अथवा ढाँचा-बद्ध विज्ञिहत रूप को ध्यान में रखकर किया गया है, न कि आनन्द-वर्द्धन और अभिनवगुष्त की मूल धारणा को समझकर। आनन्दवर्द्धन की रस विषयक धारणा पर्याप्त संभावनाओं से संवलित है। उन्होंने तो रस को ऐसी अनुकल मनोवृत्ति या चित्तदशा माना है जो काव्यवर्णित वस्तु या स्थितियों से उत्पन्न होती है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि ग्राहक काव्य विषय का ग्रहण करता हुआ रसावेश में किव की प्रतिभा का भी साक्षात्कार कर लेता है। इसी प्रकार प्रगतिवादी भी पहले 'रस' से मुँह विचकाते थे, किन्तु अन्ततः उन लोगों ने भी यह स्वीकार किया कि यदि रस को विजड़ित कर देने वाले जाल को हटा दिया जाय तो रसवादी सरणि उन लोगों के बहत काम की है।

'नई किवता' के मर्मजों ने इसकी मूल प्रेरक वृत्ति को गैर-रोमांटिक कहा और अपनी सर्जनात्मकता में किवता को अपिरभाषेय माना। बताया यह भी कि 'किवता क्या है', यह समझने के लिए किवता क्या नहीं है, यह समझना होगा। इसी सन्दर्भ में यह कहा गया कि 'किवता में भावावेग या रोमांटिक मनःस्थिति का होना अनिवायं नहीं।' छायावाद और प्रगतिवाद उभयत्र भावावेग की संस्थिति मानी गई—एक का अवलंबन प्रकृति या नारी और दूसरे का धुएँ में सना मजदूर। फलतः रसात्मक प्रतिमान या अनुभावन की समस्या यहाँ तक कोई समस्या नहीं थी। समस्या वहाँ से आरम्भ हुई जहाँ काव्य सम्बन्धी पुरानी धारणाओं—छन्द, भावावेग आदि—को निषिद्ध मानकर भी किवता या सर्जनात्मकता की चुनौती का निर्वाह किया जाने लगा, जहाँ सर्जनशीलता के नये आयाम उद्घाटित किये गये—इसे भाषिक सर्जनात्मकता कहा गया।

इस प्रकार 'नयी कविता' में प्रायः समस्त पुरातन घारणाओं, कलात्मक उपकरणों तथा क्रमागत जीवन-मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह और प्रस्थान की बात इस आशा से की गई कि काव्योचित सर्जनात्मकता या नवता अंकुरित होने योग्य भूमियाँ और भी हैं—उनकी ओर भी दृष्टिपात होना चाहिए। कहा तो यह भी गया है कि 'नयी काव्यधारा' में जिस अनुभूति ने अभिव्यक्ति पाई है उसकी बुनावट और बनावट अपनी गुणात्मक विशेषताओं में भिन्न हो गई है और उसका कारण तेजी से होने वाले जीवनगत गुणात्मक परिवर्तन हैं। इस प्रकार ऊपर-ऊपर से विचार करने वालों ने यह स्थिर कर दिया है कि प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र या उसके द्वारा निरूपित काव्य प्रतिमान जिस 'लक्ष्य' को सामने रखकर बने थे, वह लक्ष्य अब अपनी समस्त विशेषताओं के साथ निःशेष हो चुका है। आज का 'नया किव' अथवा 'युवाकिव' जो कुछ दे रहा है, उसके लिए भारतीय प्रतिमानों में कोई सम्भावना शेष नहीं है। आज सामान्य, समाहिति, सामंजस्य और संश्लेष की जगह विशेष, व्यक्ति, बिखराव, द्वन्द्व और खण्ड-खण्ड की स्थितियाँ हैं। इस स्थिति में भारतीय काव्यशास्त्र को 'नयी काव्यधारा' के मूल्यांकन में या तो निःशेष मान लिया जाए अथवा उसकी नई व्याख्या द्वारा शेष सम्भावना स्पष्ट की जाय।

इसके पूर्व कि उक्त दोनों विकल्पों में से किसी एक की नयी कान्यधारा के सन्दर्भ में पुष्टि करें, एक बार पुन: देख लें कि ग्राह्म कान्य-धारा में भाव या भावना, सामान्य या न्यापकता और सामञ्जस्य या सौन्दर्य की वृत्ति कहीं शेष है या नहीं। साथ ही यह भी देखें कि अस्ति और नास्ति पक्ष वाली रचनाओं में किसे इस धारा की चरम उपलब्धि स्वीकार किया गया है? प्रतिमान का निकष चरम उपलब्धि की रचनाएँ ही मानी जानी चाहिए। उन्हीं से प्रतिमान निकाले भी जाने चाहिए।

डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ग़ैर-रोमाण्टिक काव्य की सम्भावनाओं पर विचार करते हुये कहा है कि कविता के लिए भावावेग अनिवार्य नहीं हैं। मतलब भावावेग निषिद्ध भी नहीं हैं। स्वयं अज्ञेय में भावावेग की स्थितियाँ मिलती हैं और इन स्थितियों में उत्तम रचनाएँ भी आई हैं। साथ ही यह भी लक्षित करने की बात है कि भावगत आवेग का निषेध हुआ— सामान्य भावबोध का नहीं, ताकि अनाविष्ट दशा का यथार्थ भी अभिव्यक्ति पा सके। भावबोध या रागात्मकता की स्वीकृति के साथ-साथ इस बात पर बल अवश्य दिया कि उन्हें उभारने वाले जटिल-जटिलतर रागात्मक सम्बन्धों को अधिक प्रकाश में लाया जाय। इसीलिए अज्ञेय प्रभृति लक्ष्यकारों का कहना है कि नई काव्यधारा में राग की जगह रागात्मक सम्बन्धों ने महत्त्व पा लिया है। कविता इसीलिए आज पहले की तुलना में जटिल-जटिलतर हो रही है क्योंकि सम्बन्ध वैसे हो

गये हैं । पुरानी कविता जहाँ भीतर (भाव) से वाहर (रूप) की ओर आती थी, नयी किवता बाहर (जिटल सम्बन्धों) से भीतर (भाव) की ओर आ रही है । भोगे हुये जीवन से उपलब्ध राग या भाव को उसकी प्रामाणिक यथार्थता में चित्रित करने के लिए यह प्रयत्न अवश्य हुआ है कि उसे न तो गलदश्रुभावुकता से रँगा जाय और न ओढ़ी हुई आइडियोलाजी से विकृत किया जाय । नई किवता की दिशा में दिखाई पड़ने वाली कितपय शिथिलताओं की प्रतिक्रिया में युवा-किव अपने आक्रोश और अनौपचारिक अभिव्यक्ति में आगे बढ़े और 'अकिवता' या 'किवतांतर' तक पहुँच गये । दूसरी ओर नयी किवता में जिस भावुकता या भावना का स्वर दवे-मुँदे ढंग से रिस रहा था, नवगीत में वह समस्त युगानुरूप कलात्मक उपकरणों के साथ अपना स्वतन्त्र प्रस्थान लेकर चला । नई किवता के भावात्मक और अ-भावात्मक प्रवृत्तियों के ये दो सीमान्तगामी शिखर हैं—इनके बीच अन्यान्य प्रवृत्तियों की हरी-भरी घाटियाँ भी हैं ।

युवालेखन के विषय में मर्मज्ञों की विविध धारणाएँ मिलती हैं। श्री ओमानन्द सारस्वत आदि की घारणा है कि युवालेखन में कितपय कृतियाँ या कृतिकार ऐसे हैं जिनमें काव्य या किव का अन्वेष्य 'सहज' उभरता हुआ लिक्षत हो रहा है। 'क्ष त्र ज्ञ' के सम्पादक को डर है कि समकालीन जीवन सन्दर्भों और केन्द्रीय स्थितियों से सीधे साक्षात्कार की चुनौती को अप्रासंगिक करने पर युवालेखन कहीं सम्भावनाहीन एकरसता का शिकार न हो जाय। उनकी धारणा यह है कि आक्रोश और विद्रोह का बेमानीपन अब स्वतः सिद्ध हो चुका है, चूँकि किसी ठोस बुनियादी चिन्तन के अभाव में नाराज भंगिमाओं की कोई तर्क-संगित नहीं है।

इस प्रकार नई काव्य-प्रवृत्ति में युवालेखन की अभी इतनी समीपी प्रवृत्ति है कि उसकी वयस्कता परीक्षणीय है। इसकी ऊँचाई, गहराई तथा प्रसार और व्यापकता अभी कोई सुस्थिर रूप नहीं ग्रहण कर सके हैं। फलतः न तो इस पर कोई प्रतिमान लागू किया जा सकता है और न इससे कोई प्रतिमान गढ़ा जा सकता है। दूसरी बात यह है कि उस विद्रोह और विरोध में संभावनाहीन एकरसता का भय होता है, जिसके मूल में किसी मूल्य के प्रति आस्था नहीं है। ऐसा आस्थाहीन संघर्ष क्षयी और शुष्क हो जाता है। जहाँ मूल्यान्वेषण का बीज भाव नहीं है, वहाँ का विद्रोह और संघर्ष सर्जनात्मक नहीं वरन् अराजक और विध्वंसक होता है। एक तरफ़ भारत के सामूहिक

मन में व्यवसायी युग द्वारा दिमत मूल्य-प्राण, जातीय मनोवृत्ति का बाहर आने के लिए द्वन्द्व और संघर्ष तथा दूसरी ओर व्यवसायी और अवसरवादी बलवती शक्तियों से पराजित—फलतः आचार ग्रहण करने में असमर्थ—इस दलदल का युवालेखन अजीव फाँसी भोग रहा है। इस संघर्ष का सर्वाधिक प्राणवत्ता में भोग निराला और मुक्तिबोध ने किया था—उनकी रचना ही इसकी साक्षी है। इसीलिए नई काव्य-प्रवृत्तियों के मर्मज्ञों का निर्णय है कि मुक्तिबोध और उनकी रचनाएँ नई काव्य-प्रवृत्तियों के चरम उपलिब्ध हैं।

क्या ही अच्छा हो कि इसी चरम उपलब्धि को केन्द्र में रखकर भारतीय काव्य-शास्त्र के प्रतिमानों की परीक्षा की जाय और देखा जाय कि वे अपने पूर्व-व्याख्यात रूप में ही यहाँ लागू हो सकते हैं अथवा नई व्याख्या के साथ ? निराला से लेकर मुक्तिबोध तक 'राम की शक्ति पूजा', 'असाध्य वीणा' एवं 'आशंका के दीप : अँधेरे में' अथवा 'ब्रह्मराक्षस' को विभिन्न रुचियों के लोगों ने एकमत से कविता और उत्कृष्ट कविता कहा है। विचारणीय है कि इन्हें कविता या उत्कृष्ट कविता कहने का आधार क्या माना गया है ? क्या इसलिए कि इनमें घुटन, त्रास, खंड, वैयक्तिकता, असौन्दर्य, असामंजस्य, असमाहिति, द्वन्द्व, बौद्धिकता, निर्मूल्य विद्रोह, संघर्ष और रुक्षता है ? या कोई उनसे बड़ी चीज है ? क्या ये रचनाएँ इसलिए उत्कृष्ट हैं कि इनमें कोई आकर्षण नहीं है—एक बार पढ़ने पर ये बासी लगने लगती हैं ? क्या है इन रचनाओं में जो इन्हें निरन्तर नवता और ताजगी दे रहा है—विभिन्न भूमिकाओं के लोगों को एक राह पर चला रहा है ?

काव्य के सम्बन्ध में विचार करने वाला प्रत्येक आलोचक इस बात से सहमत है कि काव्य और अनुभूति (या संवेदना) का सहज तथा अविच्छेद्य सम्बन्ध है। बहस और विवाद केवल इस बात पर है कि आज काव्य में अनुभूति और संवेदना का अनुपात क्या है? उसका नियोजन किस स्तर पर है? साथ ही उसकी बुनावट और बनावट कैसी है? विचारणीय यह है कि 'नई कविता' और 'युवाकविता' की केन्द्रीय वृक्ति क्या है—संवेदना या ज्ञान? यहाँ 'संवेदना' और 'अनुभूति' की चर्चा विशेषतः इसलिए की जा रही है कि 'रस' से उसका सीधा सम्बन्ध है। संवेदना और अनुभूति पहले भी काव्य में महत्त्वपूर्ण थी और आज भी, अन्तर यह आ गया है कि जहाँ पहले रूप और व्यापार की योजना संवेदना, अनुभूति, राग या भाव से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती थी, आज वे सम्बन्ध जटिल-जटिलतर हो गये हैं। इसीलिए जो (राग) वस्तु

काव्य में सदा से अविशेष नहीं है, वह तो अविशेष है ही, पर युगीन प्रभाव के रूप में आज महत्त्व पा गये हैं—ये जिटलतर रागात्मक सम्बन्ध । अद्यतन किवता में 'अनुभूति' के स्वरूप पर विचार करते हुए भी श्री विजयदेव नारायण साही एवं डॉ॰ नामवर सिंह तो उसे हीरे की संरचना से उपमित करते हैं—जहाँ संरचना ही संरचना है और कुछ है ही नहीं । यदि आज की उत्कृष्ट किवता में अनुभूति ही निखालिस है—किसी अन्य विजातीय द्रव्य का वहाँ मिश्रण ही नहीं है—तब तो 'रस' (अनुभूतिमात्र) के विपक्ष में कुछ कहने को मिलता ही नहीं । यदि 'अनुभूति' के स्वरूप के विषय में ही कोई गहरा मतभेद हो तो उसे स्पष्ट उभरकर आना चाहिए । जिस प्रकार 'रस' का विरोध करते हुए उसकी स्वीकृति में अर्थवाद (व्याख्या) की अपेक्षा शर्त के रूप में प्रस्तुत की जाती है, वैसे ही मेरी भी जिज्ञासा है कि ये नव्य समीक्षक जिस 'अनुभूति' की बुनावट को हीरे की संरचना से उपमित करते हैं उसका भी विवरण और समन्वय व्याख्या के आधार पर दें, तभी बात आगे बढ़ सकती है ।

जब डॉ॰ नामवर सिंह उत्क्रुष्ट काव्य के प्रतिमान के रूप में अर्थवान् शब्द के माध्यम से आवयविक अखण्डता की बात करते हैं, मुक्तिबोध ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान की चर्चा चलाते हैं, ध्वनियों और चित्रों के साथ संवेदना प्रभाव के संवाद और आनुरूप्य पर बल देते हैं, गिरिजाकुमार माथुर संवेदना की कलात्मक अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं, काव्य के संदर्भ में भावपक्ष, बिम्बपक्ष और नादपक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रत्यभिज्ञा को महत्त्व देते हैं, जब जगदीश गुप्त अनुभूति और अभिव्यक्ति की सच्चाई को ही काव्योचित 'नवता' का मूलमनत्र कहते हैं, जब 'अज्ञेय' सर्जनात्मक शक्ति के अस्तित्त्व की पहचान एकांगिता की संभावना के निःशेष होने में स्वीकार करते हैं<sub>ऽ</sub> जब पंत आदि छायावादी झंकार में चित्र और चित्र में झंकार की स<mark>म</mark>रसता को काव्य का निकल मानते हैं, तब सुदूरवर्ती भारतीय आचार्य कुंतक, अभिनवगुष्त और आन्दवर्द्धन—का यह उद्घोष कि अलंकार और अलंकार्य की तात्त्वक भूमि पर अखण्डता, काव्योचित उपकरणों की परिवृत्यसहता, काव्य की सहज स्फूर्ति भी हमें निराश नहीं करते। अन्दर प्रविष्ट होकर सहानुभूति के साथ देखने पर ये सारे-के-सारे प्रतिमान काव्य के समस्त उपकरणों में एक सहजता की माँग पर केन्द्रित जान पड़ते हैं। भेद प्रतिमान की मूल वृति में नहीं है—युगोचित काव्यकृतियों के अनुरूप उनसे निर्गत उपरूपों में है। ये उपरूप जड़ और विकृत हो सकते हैं—इन्हीं को मूल वृत्ति मानकर एक-दूसरे का खण्डन हो सकता है, पर यह सब स्वयं का अज्ञान है जो खाने खींचता है और कलह करवाता है। संदर्भ-सापेक्ष प्रतिमान भी प्रतिमान है, पर देखना यह है कि संदर्भ-सापेक्ष रिष्मयों के विकरण की क्षमता प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में है या नहीं। यदि नहीं तो नई व्याख्या की बात ही व्यर्थ है और हाँ तो अभी तो वे सम्भावनाएँ ही युगोचित रंगों से व्यक्त हो सकती हैं—नई व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि उन प्रतिमानों की मूलवृत्ति को परखा जाय और उसे सामयिक काव्य पर लागू किया जाय—उसके उपरूप निर्मित किये जाएँ।

भारतीय काव्यशास्त्र या कोई काव्यशास्त्र आलोचक का बौद्धिक प्रयास है—बुद्धि द्वारा ऐसे प्रतिमान का निर्माण है जो यथासम्भव काव्य के सौन्दर्य को अपरिणत प्रज्ञ जन तक भी पहुँचा दे। यदि सर्जनात्मक शक्ति बुद्धि से परें कोई क्षमता है तो बौद्धिक ढाँचों में काव्य का बहुत कुछ आ जाने पर भी कुछ शेष रह ही जाएगा, इसीलिए इस भूमि तक पहुँचकर जो लोग मूल्यांकन, मानदण्ड और प्रतिमान पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाना चाहते हैं, वे गलत नहों हैं। बुद्धि और सर्जनात्मक अनुभूति इन द्विविध शक्तियों का अर्धनारीश्वर मनुष्य एक तरफ़ अपने अथाह आत्माभिव्यंजन में स्वभावानुसार संतोष पाता है तो दूसरी ओर उसको बौद्धिक ढाँचों या खानों में बाँधने के प्रयास में भी; दोनों ही उसका स्वभाव हैं। तत्त्वतः जो भी सही हो, स्वभावतः दोनों चलते रहेंगे। अन्ततः प्रतिमान भी अपनी अखण्डता में उसी सहज और अथाह की ओर संकेत करके अपनी सीमा स्पष्ट करते हैं।

अभिप्राय यह कि बौद्धिक वैभव के प्रदर्शन का मानवीय स्वभाव शास्त्रतिर्माण की प्रेरणा देता है। काव्यशास्त्र का निर्माण करते हुये बुद्धि ने पहला
खाना खींचा कथ्य और कथन सरिण का, वर्ण्य और वर्णना का। काव्य इन
दोनों की अखण्ड स्थिति है, फिर भी महत्त्व इसी वर्ण्य (अनुभूति) को दिया
गया और कभी 'वर्णना' को। (संकल्पात्मक अनुभूति ही काव्य है, 'वर्णनाकाव्यमुच्यते')। 'वर्णनाकाव्यमुच्यते' की वर्तमान प्रतिध्विन 'भाषिक सर्जनात्मकता'
है। आनन्दवर्द्धन ने भी ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में वो ऐसे उदाहरणों को
लेकर जिनमें वर्ण्य एक है, फिर भी 'नवता' काव्य की आत्मा को लेकर, पूर्व
पक्ष के रूप में उसका भार 'उक्ति वैचित्र्य' पर मढ़ा है। बाद में विचार किया
है—''किमिदमुक्तिवैचित्र्यम् । वाच्यवाचकयोरिवनाभावेन प्रवृत्तः, वाच्यानां च काव्ये
प्रतिभासमानानां यद्भूपं तत्तु प्राह्माविशेषाभेदेनैव प्रतीयये, तेनोक्तिवैचित्र्यवादिना

वाच्य-वैचित्र्यमिनच्छताप्यवश्मेवाभ्युगन्तव्यम्" अर्थात् यह उक्तिगत काव्योचित 'नवता' (भाषिक सर्जनात्मकता) है क्या ? उक्ति वही न जो वाच्यविशेष का प्रतिपादन करने वाली वाणी होती है ? तो फिर उक्तिवैचित्र्य का मतलब वाच्यवैचित्र्य नहीं है ? क्या कभी वाच्यिनरपेक्ष वाचक की और वाचक-निरपेक्ष वाच्य की कल्पना संभव है ? एक-दूसरे का प्रयोग तो परस्पर सापेक्ष ही होता है । काव्य में वाच्य वस्तु और व्यापार जब विवात्मक रूप में ग्राहक की प्रतिभा पर प्रतिभाभित होते हैं तब वैयक्तिक विशेषता को साथ लिये हुये । निष्कर्ष यह कि उक्तिवैचित्र्य या भाषिक सर्जनात्मकता की वात करने वाले को चाहे अतचाहे वाच्यवैचित्र्य या वाच्यगत काव्योचित नवता को स्वीकार करना ही पढ़ेगा । सारांश यह कि सर्जना शक्तिजन्य काव्योचित 'नवता' काव्य के समूचे रूप से सम्बद्ध है—उसे काटकर देखना संगत नहीं है ।

भारतीय काव्यशास्त्र या काव्य-प्रतिमान की बात करते हुये कहा यह जा रहा था कि बुद्धि कतिपय कल्पित खण्डों को लेकर विश्लेषणार्थ अग्रसर होती है। सर्जनात्मक अनुभूति अपने-आप में आदि और अन्त में उसी प्रकार अखण्ड होती है जैसे धरती की क्षमता विशेषता (गन्ध) पुष्प के आदि और अन्त में (आदि में एक सर्जनात्मक शक्ति के रूप में और अन्त में सौन्दर्य या गंध के रूप में) । विश्लेषण के लिये इस मध्यवर्ती रूप को खण्ड-खण्ड कर दिया जाता है । काव्य भी अपने आदि रूप में एक सर्जनात्मक क्षमता है और मुक्तिबोध के शब्दों में अन्ततः एक संश्लिष्ट सौन्दर्यानुभव। वे इस सौन्दर्यानुभव को जीवनानुभव द्वारा प्रदत्त मानते हैं। उन्होंने कहा है कि ''संवेदनात्मक उद्देश्य विधायक कल्पना की क्रिया को चिलत करते हैं। इन संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार जीवनानुभवों के तत्त्व कल्पना के संघटन विधानकारी हाथों से निराले और तरह-तरह के रूपों में प्रकट होते हैं। इस प्रकार जीवनानुभवों के तरह-तरह के पैटर्न कल्पना तैयार करती है, किन्तु उसकी क्रिया संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुशासन में रहती है। उनके अनुसार इस पूरी प्रक्रिया में सौन्दर्या-नुभव तब घटित होता है जब मनःपटल पर विवित कल्पनाओं, रूपों में डूबकर मन साधारण जीवन की अपनी निजबद्धता का परित्याग कर देता है .....संक्षेप में तन्मयता और तटस्थता-निजबद्धता से मन:पटल पर अंकित विंबों में अपने स्वयं की व्यस्तता-संलग्नता--इन दो द्वन्द्वों की एक मनोदशात्मक परिणति ही सौन्दर्यानुभव है। ... इसीलिये सौन्दर्यानुभव जीवन के सारस्वरूप का प्रगाढ़, मार्मिक अनुभव है।" मुक्तिबोध को इतना लम्बा सोद्देश्य उद्घरित किया गया है।

भारतीय काव्यशास्त्र ने भी एक मनोदशात्मक परिणित विशेष (चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः न च तदस्ति कस्तु कित्रियधःन चित्रवृत्तिविशेष-मुपजनयित, तदनुरूपादनेवा किव-विषयतैव तस्य न स्यात्) को ही काव्य का लक्ष्य कहा है। अन्तर वहाँ आ गया है जहाँ युगोचित रूप, व्यापार और मानवीय सम्बन्ध बदल गये हैं—अन्तर सामग्री का है। इसी सामग्री को कथ्य और कथन में बाँटकर भारतीय काव्यशास्त्र ने जिन प्रतिमानों (वस्तुपरक रस सिद्धान्त, कलापरक अलंकार, रीति, वक्रोक्ति) की चर्चा की थी 'ध्विनिसिद्धान्त' ने सबको आत्मसात् कर एक स्वस्थ रूप दिया। ध्विनिसिद्धान्त अपनी समग्रता से एक सग्रक्त काव्य प्रतिमान है और खण्डता में वस्तुसिद्धान्त (रस ध्विन) और कलासिद्धान्त (वस्तु ध्विन, अलंकार ध्विन)। इसीलिये ध्वन्यालोककार ने कहा है कि अभ्यास काल, पुनः प्राणार्जन काल या संक्रान्तिकाल में किवता चाहे जैसी हो किन्तु 'प्राप्तपरिणतीनां तु ध्विनरेवकाव्यमितिस्थितमेतत्" अर्थात् अभ्यासार्थियों के काव्य को आप चाहे जो कहें—पर परिणतावस्था में तो जो काव्य होता है, वह 'ध्विन' ही है—ध्विनकाव्य ही है।

ऊपर जिन तीन आधुनिक उत्कृष्ट रचनाओं की बात कही गई है उस पर भारतीय काव्यशास्त्र अर्थात् ध्वन्यात्मक प्रतिमान पूरे तौर पर लागू होता है। कविता वही उत्कृष्ट होती है जो अभिव्यक्तिगत सहजता से हर समय के लोगों के संवेदना तंतुओं को स्पंदित कर सके (जिनके तंतु मर चुके हों उनकी बात अलग है) अथवा हर युग के अनुरूप, प्रत्येक परिवेश के अनुरूप व्याख्या की संभावनाएँ अपने भीतर रखे। इन तीनों परिणत कविताओं में ये दोनों शर्तें मिलती हैं जो ध्वन्यात्मक प्रतिमान में निहित हैं। ध्वन्यालोककार ने ही कहा है कि महाकवि वह है जिसके शब्दों की झंकार हर युग वाले को अनुरूप सुनाई दे और पुन:-पुन: तन्मयकारिता पैदा कर सके। 'निराला' की 'राम की शक्ति पूजा', 'अज्ञेय' की 'असाध्य वीणा' और मुक्तिबोध की 'ब्रह्म राक्षस' या 'आशंका के दीप अँधेरे में'-इन सबमें दोनों बातें लागू होती हैं। 'राम की शक्ति पूजा' में राम के साथ तादातम्य अनुभव करता हुआ पाठक बार-बार करुणा से भर उठता है। राम के आँसू के साथ-साथ पाठक के आँसू ढूलक पड़ते हैं। 'ब्रह्मराक्षस' में क्बेरनाथ राय ने रसबोधक तत्त्वों का अस्तित्त्व देखा है जिनके कारण उन्हें (या किसी को) मुक्तिबोध की रचनाएँ बासी नहीं लगतीं। 'असाध्य वीणा' में भी कोई ऐसी चीज़ है जो उसे कोरी दार्शनिक स्थापना होंने से बचाती है। व्यक्तित्व विलयन अथवा समर्पण जो रस सिद्धान्त की एक शर्त है - वह 'असाध्य वीणा' की रीढ़ है। निष्कर्ष यह कि जहाँ एक ओर इन

विताओं में मानवीय संवेदन तंतुओं को स्पंदित कर अपने को निरन्तर ताजी बनाये रखने की क्षमता है, वहाँ बदलते हुए परिवेशों के अनुरूप नई 'वस्तु' झंकृत करने की भी क्षमता है। 'राम की शक्ति पूजा' में निराला का वैयक्तिक जीवन-संघर्ष तात्क'लिक स्वातंत्र्य संग्राम में विदेशी आसुरी शक्ति के समक्ष नैतिक शक्ति से जूझते हुए गाँधी, मानस जगत् में निरन्तर चल रहे आसुरी और मानवी शक्ति का द्वन्द्व और संकल्प की अंततः विजय अथवा सार्वभौम भूमिका पर चल रहे निरन्तर सत् और असत् का संघर्ष--कुछ भी बदलते परिवेशों के अनुरूप वस्तुध्विन निकाली जा सकती है। इसी प्रकार 'असाध्यवीणा' से भी काव्यात्मक सर्जना के माध्यम से शाख्वत विराट् सर्जना की रहस्यमयी प्रक्रिया का संकेत झंकृत है। 'ब्रह्मराक्षस' में एक शाश्वत सत्य तो यही है जो जदा-सदा के लिए मनोविज्ञान-सिद्ध उतर सकता है कि जातीय दमित वृत्तियाँ दोहरी यातना भोगती हैं--एक तरफ़ अकालग्रस्त जातीय सात्विक वृत्तियों का भारतीय ब्रह्मराक्षस मन की बावली में निवास करता है और दूसरी ओर उसके बाहर आती आवाजें साम्प्रतिक व्यवसायवादी वृत्ति से दबा दी जाती हैं। इस वस्तु ध्विन के अतिरिक्त अन्य प्रकार की ध्विनियाँ भी यहाँ संभावित हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वस्तुपक्ष और कलापक्ष—दोनों को आत्मसात् करता हुआ तात्विक भूमिका का संकेतक ध्वनिसिद्धान्त भी अपने मूलरूप में ज्यों-का-त्यों प्रतिमान के रूप में ग्राह्य है। हाँ, तात्कालिक लक्ष्यों को देखकर जो खाने और ढाँचे तात्कालिक विवेचकों ने अवान्तर उपभेद के रूप में कहे हैं—उन्हें यथासंभव मानकर या लाँघकर नये उपरूपों की रचना का दायित्व आज के स्वस्थ समीक्षक पर है। अभिप्राय यह कि भारतीय साहित्य शास्त्र की मूल वृत्ति तो आज भी यथावत् ग्राह्य है—उपरूप नए हो सकते हैं। काव्य में जिस अभिधा और लक्षणा की बात कही गई है—उन्हें व्यंजनामुखी कर दिया गया है और व्यंजना के ग्रहण की सामर्थ्य अंततः प्रतिभा पर छोड़कर उसकी संभावनाओं का द्वार उन्मुक्त रखा गया है। कहा है—

## "···प्रतिभाजुवाम् योऽन्योर्थो व्यज्यते यत्र व्यापारो व्यतिरेव सा।"

भारतीय काव्यशास्त्र ने 'प्रतिभा' को अनन्त सिद्ध करने के लिए ही ध्यनिसिद्धान्त की स्थापना कर रखी है। कहा जाता है कि ग़ैर-रोमांटिक 'नई कविता' अथवा 'युवालेखन' का मुल्यांकन छायावादी छद्म संस्कारों से मुक्त समझदार ही कर सकते हैं। ऐसे छद्म संस्कारों से आक्रान्त भावुक सहृदय नई

किवता का मूल्यांकन नहीं, अवमूल्यन कर बैठते हैं। ऐसे लोगों को छायावादी रोमानियत और सौन्दर्यबोध तथा आइडियालाजी के अवशेष ही आकृष्ट करते हैं, नई धारा के प्रासाद नहीं। इसीलिए मैंने प्रतिमानों पर विचार करने के लिए किवता (चरम उपलिब्ध) चुनी है—छायावादी या किसी वाद से आक्रान्त रचना नहीं।

### STERNING TO THE COLUMN THE STATE OF THE STAT

वर्तमान संदर्भ में न केवल साहित्य की सर्जनात्मक विधाओं के ही पूर्व 'नया' या 'नई' विशेषण जोड़ देने की पद्धति परिलक्षित होती है—अपितु 'समीक्षा' के पूर्व भी वह विशेषण जोड़ा जाने लगा है। डाँ० रामस्वरूप चतुर्वेदी 'नयी समीक्षा' कहने की जगह 'समीक्षा का वर्तमान स्वरूप' कहना चाहते हैं। ऐसा कह कर दोनों ही पुराने अथवा अतीत से नए अथवा वर्तमान की विशेषता उसभी रचनात्मकता में इंगित करना चाहते हैं। इस चिन्तन परम्परा में मेरा यह कहना है कि उक्त विशेषणों द्वारा जिसकी ओर संकेत किया गया है, वह समीक्षा की स्वरूपगत विशेषता है। अतः 'समीक्षा' संज्ञा में ही इतनी शक्ति या सामर्थ्य है कि वह अभीष्ट (नये चिन्तकों को अभीष्ट) रचनात्मक अर्थ स्वयं प्रदान कर सकती है—विशेषण की अपेक्षा उसे नहीं है। प्रवाह में कभी-कभी यह अवश्य होता है कि संज्ञा अपनी विशेषताएँ खो देती है, अतः स्वरूपगत खोई हुई विशेषता का बोध कराने के लिए भी विशेषण का प्रयोग सार्थक माना जाता है। अभिप्राय यह कि विशेषण परिस्थिति विशेष में स्वरूपगत विशेषता का भी बोध कराने के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं, पर उनकी अधिकांश सार्थकता आगन्तुक विशेषता के बोध में ही मानी जाती है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में जहाँ तक समीक्षा के स्वरूप का सम्बन्ध है, मैं यह उचित मानता हूँ कि सर्जना की भाँति समीक्षा को भी एक अविच्छिन्न प्रवहमान धारा के रूप में लेना चाहिए, उसमें विभिन्न विशेषण जोड़ कर मूल रूप से उसे विच्छिन्न नहीं करना चाहिए, परम्परा से उसे पृथक् नहीं करना चाहिए। गत्यात्मक अथवा रचनात्मक प्रकृति की सिक्रयतावश उभरने वाली विशेषताएँ किसी काल विशेष में ही बँधी नहीं हैं, काल प्रवाह में प्रवहमान प्रत्येक गत्यात्मक प्रकृति संविलत धर्मी में संभावित है। फलता उसे काल विशेष अथवा देश विशेष में ही बाँध कर निर्दिष्ट करना ठीक नहीं है। उसे निर्विशेष 'समीक्षा' ही रहने देना चाहिए।

व्युत्पत्तिमूलक अर्थ (सम्यक् ईक्षा अथवा बुद्धि पूर्वक भलीभाँति परखना) की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि समीक्षा की विशेषता आलोच्य कृति के दोष एवं गुणों के समुद्घाटन में है। दोष-गुण, खरा-खोटा, अच्छा-बुरा, प्रशस्त-अप्रशस्त भाव का संकेत या निर्णय देने के लिए किसी प्रतिमान की आवश्कता होगी। प्रतिमान प्रतिमेय या मेय के बाद ही बनते हैं, क्योंकि वह उसके लिए हैं। प्रतिमान मेय या लक्ष्य के अनुरूप उसी को सामने रख कर निकाले जाते हैं। समस्या यह खड़ी होती है कि प्रतिमान जिस कृति को सामने रख कर तैयार किए जाते हैं, उससे भिन्न पर उन्हें लागू करना क्या पूर्व-ग्रह नहीं है ? नये चिन्तकों का यही तो आक्षेप है कि सर्जना सदा नई प्रसूति है, 'नव' की रचना करती है और 'नव' अपने मान के लिए अपने भीतर से अपना (नया) प्रतिमान पैदा करती है। प्रतिभा की हर सच्ची प्रसूति अपने अनुरूप प्रतिमान अपने भीतर से निर्मित करती है। अन्य पूर्ववर्ती कृतियों के अनुरूप निर्मित प्रतिमान या सौंदर्य-नियम से दूसरी 'नव' रचना का शासन या नियम रचनात्मकता का या तो प्रतिबंधक हो जायगा अथवा प्रतिमान में अक्षम और अपर्याप्त । नये चिन्तकों का यह कहना है कि नियमानुधावी एवं स्वतंत्र की सूझवूझ से हीन समीक्षक समीक्षा को जड़ीभूत कर देते हैं-उसकी गतिमयता को निःशेष कर देते हैं। इसलिये वे निर्णयात्मक समीक्षा को सच्ची और रचनात्मक समीक्षा कहने में असहमति व्यक्त करते हैं और व्याख्यात्मक समीक्षा को पुष्कल ठहराते हैं।

वस्तुतः समीक्षा की वास्तविक स्थिति और विशेषता-जिसकी सम्भावना व्याख्यात्मक समीक्षा में की जाती है-का संकेत प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र में भी मिलता है। फलतः इसे कोई सर्वथा नवीन उद्भावना नहीं समझनी चाहिए। अभिनव गुप्त अथवा आनन्दवर्द्धन ने किसी न किसी प्रकार रसवत्ता का, आत्मा की भाँति व्यापक अस्तित्व स्वीकार करते हुए भी सर्वत्र उसी को प्रतिमान मानने की बात का विरोध किया है। उन्होंने उसमें नायक को रसांध कहा है-जिसने हर कृति की व्याख्या रस को ही केन्द्र में रख कर की या करनी चाही है। उनका कहना है कि हर सच्चे समीक्षक को चाहिए कि वह यथासम्भव सहानुभूतिपूर्वक रचना के अध्ययन तथा आस्वाद के माध्यम से रचनाकार के साथ तादात्म्यापन्न हो जाय। इसी स्थिति में समीक्षक रचना की मूलवर्तिनी मनःस्थिति सौंदर्य की केन्द्रीय वृत्ति और उसको काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने में उपयोगी उपकरणों की तारतमित स्थिति—इन सबका साक्षात्कार कर लेता है। इस प्रकार मूलवृत्ति तथा अभिव्यक्ति के समस्त उपकरणों और उनसे सम्बद्ध सर्जना-प्रक्रिया—सबका

समग्रता में साक्षात्कार कर समीक्षक पुनः सर्जना करता है। जहाँ रचनाकार की मानस प्रक्रिया का साक्षात्कार करने के लिए समीक्षक को तादात्म्य की भूमिका यथासम्भव निबाहनी पड़ती है वहीं समीक्षात्मक पुनःसर्जना के यथासम्भव अनासक्त उपस्थापन में ताटस्थ्य की भी विणका ग्रहण करनी पड़ती है। यह एक सच्चे समीक्षक की अद्भुत सामर्थ्य है कि वह तादात्म्य और ताटस्थ्य की परस्पर विरोधी स्थितियों में रह सकता है। इस प्रकार की समीक्षा व्याख्यात्मक समीक्षा है, और इसमें किसी पूर्व निर्धारित प्रतिमान से खरा-खोटा का निर्णय नहीं होता, प्रत्युत जो है उसे अनावृत कर दिया जाता है। इस प्रक्रिया से समीक्षा में जड़ीभाव की स्थित नहीं आती और उसकी रचनात्मकता बनी रहती है।

समीक्षा की (जड़ता विरोधी) रचनात्मकता तो निर्विवाद मान्य है, परन्तु उस रचनात्मकता का स्वरूप क्या है ? विचारणीय यह भी है । सर्जनात्मक (Creative) कृतियों के मूल में रहने वाली रचनात्मकता से अलोचनात्मक (Critical) कृतियों में रहने वाली रचनात्मकता किस प्रकार भिन्न है ? कारण, रचनात्मकता संश्लेष है, अतः एक दूसरा कैसे हो सकता है ? क्या समीक्षा अर्थात् विश्लेष को रचना अर्थात् संश्लेष कहना परस्पर विरुद्ध नहीं है ? तब क्या समीक्षा को रचनात्मक न माना जाय, जड़ कहा जाय ? किया क्या जाय, यह भी एक समस्या है ।

इस समस्या का मेरी समझ में समाधान यह है कि रचनात्मकता आलोचनातमक (Critical) कृतियों में जहाँ संश्लेष पर आधारित है, वहाँ ऐसी कृतियों
में रचनात्मकता रचनाकार की 'दृष्टि' सम्पन्नता से आती है। यदि समीक्षक
सूझ-वूझ का है तो उसकी समीक्षा जड़ नहीं हो सकती। आचार्य शुक्ल की 'दृष्टि'
प्रख्यात है, अतः उन्होंने हिन्दी समीक्षा को बँधे हुए प्रतिमानों से हटाकर नया
रूप प्रदान किया। यह बात दूसरी है कि उनकी 'दृष्टि' ने रुचि-भिन्न साहित्य
को उसका प्राप्य नहीं दिया, साथ ही युगानुरूप निमित होती हुई कृतियों के
प्रतिरूप अथवा अनुरूप होता गया और अंततः अपनी सर्जनात्मकता खो दी।
पर इससे यह निष्कर्ष निकालना ठीक न होगा कि Critical कृतियों की
रचनात्मकता के लिए यह अनावश्यक है। बात यह है 'दृष्टि' सूझबूझ या बुद्धि
ही है। सर्जनात्मक शक्ति में निहित सौंदर्य की आभव्यक्ति के अनुरूप बुद्धि
व्यवस्था का ढाँचा खड़ा कर देती है, जो वृत्त बन कर सर्जनात्मक शक्ति को
धेरे रहती है। सर्जना जब उस वृत्त को अपने अनुरूप नहीं पाती, तो तोड़कर

आगे बढ़ती है। बुद्धि वृत्त बनाती है और सर्जना सीधी बढ़ती है। बौद्धिक व्यवस्था सर्जनात्मक विकास के अनुरूप हो, तो वह ग्राह्य है और विरूप हो तो त्याज्य। निर्जीव तथाकथित व्यवस्था में बँधना बुरा है, स्वस्थ व्यवस्था से होकर सर्जना का गुजरना बुरा नहीं है, वरन् वह तो होना ही चाहिए। व्यवस्था जड़ होती है और सर्जना गितशील; यही कारण है कि सर्जकों में व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना लक्षित होती है। लेकिन यह भी सर्जना का अतिचार है कि वह स्वस्थ व्यवस्था का तिरस्कार करे। इस प्रकार इन तमाम बातों से प्रस्तुत सदन्भें में निष्कर्ष यह है कि रचना या सर्जना की क्षमता या प्रकृति समीक्षा में भी होती है; अन्तर इतना ही है कि सर्जनात्मक (Creative) कृतियों में वह संक्लेष प्रधान है और समीक्षात्मक कृतियों में वृद्धि प्रधान होने से वहाँ विश्लेष ही समभव है। समीक्षा विश्लेषण ही है, संक्लिष्ट का संक्लेष नहीं।

इस पर से भी यह विचारणीय है कि फिर क्या Creative कृतियों के मूल में 'दृष्टि' नहीं होती और Critical कृतियों में संश्लेष की जगह विश्लेष या विखराव ही होता है ? संश्लेष भावना पर आधारित है और विश्लेष बुद्धि पर; फलतः क्या जहाँ संश्लेष है वहाँ भावना ही भावना है और जहाँ विश्लेष है, यहाँ बुद्धि ही बुद्धि है ?

वास्तव में चाहे सर्जना अर्थात् Creative कृति हो या Critical, भावना और बुद्धि उभयत्र सिक्रय है। महादेवी की उन रचनाओं को लें, जहाँ दर्शन एवं भावना के तानेवाने से कोई किवता बुनी हो, वहाँ व्याख्याकार यदि भावना को पकड़ कर स्वयं भावनामय नहीं हो जाता, तो बुद्धि को ठीक दिशा नहीं मिलती। व्याख्याता जितना ही भाव-मग्न होता जाता है, बुद्धि भी उतनी ही तीब्र होती जाती है। घनानन्द की ऐसी तमाम रचनाएँ उद्धृत की जा सकती हैं जिनमें भावना और बुद्धि का सामंजस्य है। भावना के तरल प्रवाह में उससे अविच्छेच बुद्धि या दृष्टि सहज ही खुलने लगती है।

'श्रवण नयनमय नयन श्रवणमय आज हो रही कैसी उलझन ?' की व्याख्या केलिए यह आवश्यक है कि एक ओर समीक्षक प्रतीक्षारत नायिका की मानस दशा का सामर्थ्यवण साक्षात्कार करे और दूसरी ओर यह भी सोचे कि इस दशा का प्रभाव क्या होता है, कैसे हर इंद्रिय में प्रिय के साक्षात्कार की प्रतिस्पर्द्धा जग जाती है। जिस समीक्षक की भावना इस स्थित के साक्षात्कार

तक नहीं जग सकती, उसकी बुद्धि इन उक्तियों की संगति लगाने में असमर्थ होगी। इसी प्रकार कवियता या सर्जक कलाकार भी काव्यात्मक सृष्टि के पूर्व उमड़ती हुई भावराणि को संगत आकार देने के लिए बुद्धि की सहायता लेता है। लोक व्यवहार की भूमिका की अनुभूति इतनी अदम्य वेग की होती है कि उसके पीछे विवेक का सूत्र उसे बाँध नहीं पाता । इसीलिए वर्ड सवर्थ ने काव्य के अदम्य भावावेग को सर्जना के उपयुक्त तभी माना है जब वह शांति के क्षणों में पुनः व्यवस्थित रूप से स्मृत की जाती है। निष्कर्ष यह कि भावना और बुद्धि (Creative तथा Critical) उभयत्र सक्रिय हैं, पर घनानन्द के शब्दों में Creative कृति में 'रीझि सुजान सची पटरानी' होती है और 'बची बुधि बावरी ह्वंकिर दासी'। क्रोचे भी अभिव्यंजना की प्रक्रिया में संवेदन, संयमन तथा अभिव्यंजन का स्तर मानता है। दार्शनिक भी मृष्टि के निमित्त मूल चेतना के उस स्तर को उपयोगी मानता है जहाँ वांछित मृष्टि के अनुरूप सामग्री ही व्यवस्थित ढंग से अभिव्यक्ति पाने के लिए उद्ग्रीव हो, शेष तह में दबी पड़ी हो। यही दबी-उभरी स्थिति विषमता या वैषम्य की स्थिति है, जो सर्जना मात्र के लिए उपयोगी है। यही कारण है कि शांकर वेदांतियों की ब्रह्म को 'ईश्वर' स्तर पर मृष्टि के निमित्त उतारना पड़ता है, बल्लभ मता-न्यायियों को 'पुरुषोत्तम' नहीं 'अक्षरब्रह्म' से सृष्ट्यात्मक क्षरण की कल्पना करनी पड़ती है। अस्तु, कहना यहाँ यही है कि हर व्यक्ति जब कुछ संदर्भानुरूप कहना चाहता है, तो अतिरिक्त अन्य बातों को दबा कर प्रासंगिक सामग्री पर ही प्रातिभ किरणों को केन्द्रित कर देता है, उतना ही अंश प्रकाशित होता है, उसी की व्यवस्थित अभिव्यंजना आरम्भ हो जाती है, मुध्टि होने लगती है। रही बात यह कि सर्जना में भावना का प्राधान्य हो या बुद्धि का। ग़ैर-रोमिण्टक भाव-बोध की संभावनाओं को उजागर करने में व्यस्त नये रचनाकार भावना को हटाकर उसकी जगह बुद्धि को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, और बात यहाँ तक बढ़ जाती है कि 'बुद्धि' भी 'रस' बन जाती है। 'भाव-बोध', 'बुद्धि-रस' की संगति-असंगति पर हमें यहाँ कुछ सोचना-विचारना नहीं है, वह एक अतिरिक्त विषय है। यहाँ मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से इतना ही कहना चाहता हूँ कि क्रिया मात्र मनोवेग पर आधारित है, बुद्धि सहायक है मनोवेग को कार्य व्यापार से लिए केन्द्रित करने में। विचार चाहे जितने भी तीव, तीखे एवं स्थिर हों, मनोवेग के द्वारा ही हम व्यापार-अभिमुख हो सकेंगे। अतः सर्जनात्मक व्यापार के लिए भी मनोवेग का होना आवश्यक है। यह अवश्य है कि उसकी तह में कहीं बौद्धिकता गहरी होगी और कहीं

ष्ठिला। पीठिका में सिक्रिय रहने वाली बौद्धिकता रोमांस को घटा देती है, गम्भीरता ला देती है, आप चाहें तो उसे ग़ैर-रोमाण्टिक कह सकते हैं, कोई विशेष आपित्त की बात नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि Creative कृति या सृष्टि में रहेंगे बुद्धि और भावना या मनोवेग—दोनों ही, पर आगे रहेगी भावना और उसे हस्तावलम्ब देगी बुद्धि। भाव या मनोवेग के कारण संश्लेष संभव है, उस संश्लेष को व्यवस्थित करने में बुद्धि की उपयोगिता होगी।

उपर्युक्त तर्क के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि कृति भी एक व्यापार है और जब व्यापार मात्र के लिए मनोवेग या भावना अपेक्षित है तब समीक्षा के लिए भी अपेक्षित होगी और फिर इस स्थिति में पुनः रचना और समीक्षा का अन्तर घुंधला पड़ने लगता है, अर्थात् रचना और समीक्षा, दोनों के ही लिए मनोवेग और बुद्धि के कारण उभयत्र संश्लेष और विश्लेष की स्थिति होगी। इस गुत्थी को सुलझाने के लिए पुनः प्राधान्य की ही बात का सहारा लेना होगा।

समीक्षक कृति के समग्र अनुशीलन से प्रभावित होगा, न्योंकि प्रभावित ही न होगा तो कहने के लिए उन्मुख ही क्यों होगा ? जिस स्फुरणा को सर्जक कृति में बाँघता है, समीक्षक जब तक उसे पकड़ नहीं लेता, तब तक कुछ कहने के लिए मुखर ही नहीं हो सकता। स्फुरणा का समीक्षक द्वारा साक्षात्कार ही उसका प्रभावित होना है, संवादी स्थिति में आना है, तभी कुछ कहने को मनोवेग प्रेरित करता है। स्फुरणा एवं तज्जन्य मनोवेग समान रूप से सर्जक एवं समीक्षक को मुखर करते हैं, पर सर्जक जहाँ बुद्धि का संश्लेष में उपयोग करता है, वहाँ समीक्षक कृति से गृहीत समग्र प्रभाव की विस्तृत कुक्षि में संक्लिष्ट सर्जनात्मक कृति के प्रत्येक ताना-बाना को बुद्धि द्वारा इस प्रकार विश्लेषित करता है कि वह विश्लेषण भी समग्र प्रभाव को मूर्त करने में उत्तरोत्तर संक्ष्लिष्ट होते जाते हैं, पाठक के लिए समीक्षा मूल प्रभाव को ग्रहण कराने में साधक होती है। समीक्षा में निश्चय ही बौद्धिक विश्लेषण की प्रक्रिया अपेक्षाकृत अधिक मुखर होती है, पर यह विश्लेषण तभी सार्थक है जब कि कृतिकार की मूल संवेदना और अधिक स्पष्ट एवं उद्ग्रीव होकर सामने आ जाय । यह सारा विश्लेषणात्मक व्यापार मूल प्रभाव या संवेदना की ओर केन्द्रित होता है, अतः किसी दृष्टि से यहाँ भी संश्लेष है, सर्जना है, रचनात्मकता है।

इस प्रसंग में एक अतिरिक्त प्रश्न यह खड़ा होता है कि मूल संवेदना (Sensibility) सर्जक और समीक्षक की एक ही होती है या भिन्न ? प्राचीन आचार्यों में भट्ट तौत का कहना है 'नायकस्य कवे: श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः' मूज नायक, अनुकर्ता, किव तथा गृहीता पाठक या समीक्षक की मूल संवेदनाएँ एक ही या अधिक से अधिक कहें तो समान ही होती हैं। सर्जक मूल संवेदना को मूर्त करता है और समीक्षक उसी मूल संवेदना को ग्रहण करता है और इस प्रकार उघाड़ कर रखता है कि सामान्य पाठक या श्रोता भी उस मूल संवेदना का साक्षात्कार कर ले।

यदि समीक्षक कृतिकार की मूल संवेदना को तटस्थ होकर विश्लेषण करता हुआ यथासंभव ज्यों का त्यों पाठक तक पहुँचा देता है तो कदाचित् वह अपने मध्यस्य के कार्य में ज्यादा सफल माना जाता है। लेकिन ऊपर समीक्षा की रचनात्मकता का स्पष्टीकरण देते हुये यह कहा जा चुका है कि तदर्थ समीक्षक का 'दृष्टि'-सम्पन्न होना आवश्क होता है और यह दृष्टि उसकी अपनी होती है। अतः इस बात को यदि मान लिया जाय, तब यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रचियता की मूल संवेदना, जिसमें उसकी निजी दृष्टि, जीवन-दर्शन तथा जीवनानुभव का रासायनिक मिश्रण है, से समीक्षक की मूल संवेदना, जो कृति के माध्यम से सम्भव है, एक भी है और भिन्न भी। एक इस माने में कि समीक्षक कृति द्वारा कृतिकार की मूल संवेदना का साक्षात्कार न कर सका, उसको अपना न बना सका, तो उसका कार्य समीक्षण ही न हो सकेगा। भिन्न इस माने में कि समीक्ष्य कृति की मूल संवेदना (किव की जीवनदृष्टि) समीक्षक की 'दृष्टि' से रंजित हो जाती है, तब मूल संवेदना-दृष्टि (समीक्षक), मिलकर अपनी समग्रता में भिन्न हो जाती है। इस प्रकार एक नई समस्या यह खड़ी होती है कि यदि समीक्षक 'दृष्टि' सम्पन्न नहीं है तो उसकी समीक्षा रचनात्मक न होगी, जिसका होना आवश्यक है और 'दृष्टि'-सम्पन्न है तो तटस्थतापूर्वक निबाही जाने वाली समीक्षक की अपनी जिम्मेदारी पूरी नहीं होगी। सर्जना और समीक्षा, सृष्टि और आलोचना में प्रायः यह अंतर माना जाता है कि पहले में रचयिता अपना व्यक्तित्व भी प्रक्षिप्त करता है, सृष्टि में स्रष्टा की छाप होती है, समीक्षा में अनासक्ति और तटस्थतावश वह सब न होना चाहिए। निबंध बौद्धिक होता हुआ भी 'दृष्टि'-मूलक होने के कारण एक सृष्टि है, रचना है, Creative विधा है, आलोचना में उसकी अपेक्षा अधिक तटस्थता की माँग है। यदि तटस्थता विगलित हो जाय, तो समीक्षक 'कृति-'परक वक्तव्य न देकर आत्मपरक वक्तव्य देने लगता है और ऐसी समीक्षा प्रभावात्मक न होकर अपना वांछित स्त

खो देती है। इस उलझन की स्थित में मैं इतना ही कह सकता हूँ कि सर्वाधिक तटस्थता तो यांत्रिक ही हो सकती है। उसकी अपेक्षा कम तटस्थता पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष की श्रृंखला अथवा केवल परीक्षण-प्रयोगात्मक निष्कर्ष की विश्लेषण-मुखी तार्किक श्रृंखला में बंधी हुई शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक निबन्धों में हो सकती है। आलोचक की तटस्थता एक तरफ निबन्धकार की बौद्धिकता के साथ-साथ अपनी अपेक्षाकृत अधिक तटस्थता में उल्लेख्य है तो दूसरी ओर यांत्रिक तथा शुद्ध तार्किक निबन्धों की तुलना में अपेक्षाकृत कम तटस्थता में । समीक्षक या आलोचक की तटस्थता इसी मात्रा की हो सकती है, निरपेक्ष नहीं। कदाचित् इसीलिए भट्ट तौत ने मूल संवेदना को समान कहा है, एक नहीं।

उदाहरण के लिए हम आचार्य शुक्ल की समीक्षा को ही लें। सूर-साहित्य की उन्होंने समीक्षा की । भ्रमरगीतसार की मूलवर्तिनी अनुभूतियों का उन्होंने बड़ी क्षमता के साथ साक्षात्कार किया और भावभंगिमाओं का बड़ी बारीकी के साथ विश्लेषण किया। सुर की अपनी अनुभूतियों के मूल में जो वल्लभ का जीवन-दर्शन मिश्रित था, उसके साथ (दृष्टि अनुभूति) मूल संवेदना का साक्षात्कार किया । लेकिन उसके समीक्षणात्मक-पूनरुपस्थापन या पूनः सर्जन में अपनी लोक मंगलकारी 'दृष्टि' जोड़ दी। फल यह हुआ कि कवि की मूल संवेदना में निहित दृष्टि की समीक्षक की दृष्टि से संगति नहीं हो सकी, फलसः समीक्षा में रचयिता की दृष्टि के बदले समीक्षक की दृष्टि उभर गई और कृतिकार की मूल संवेदना कट-पिट कर रह गई। इस प्रकार समीक्षक के दृष्टि-सम्पन्न होने का दुष्परिणाम भी होता है, अर्थात् रचनात्मकता की जगह विध्वंसात्मकता भी आ सकती है। तब क्या समीक्षक के दृष्टि-सम्पन्न होने का अर्थ इतना ही मान लिया जाय कि वह कृतिकार की मूल संवेदना को ठीक-ठीक पकड़ सके, पकड़ने की क्षमता एख सके। कृतिकार की मूल संवेदना को पकड कर काव्यात्मक परिणति में अपेक्षित तन्तुओं की संश्लेषणोपयोगी तारतिमक स्थिति का साक्षात्कार कर उसे समग्र प्रभावोत्पादी ढंग से रख देने की क्षमता ही समीक्षक की दृष्ट्-सम्पन्नता है-क्या उसकी दृष्ट का इतना ही अर्थ किया जाय ? यदि समीक्षक केवल मध्यस्थ है, तो उसकी दृष्टि का यह अर्थ किया जा सकता है। समीक्षक में यह क्षमता तो होनी चाहिए कि वह कृतियों में डब कर प्रभाव ग्रहण करे और फिर ऊपर उठकर स्वयं देखे और दूसरों को उसकी अच्छाइयाँ और खामियाँ दिखाये, उसके रचनातंतुओं का अनावरण करे। यथासम्भव तादात्म्य और ताटस्थ्य की बात तो माननी ही पड़ेगी। एक ही

समीक्षक जब अच्छाइयों और खामियों को दिखाने लगता है तब उसका आचार्यत्व उभार पर होता है और जब तन्तुओं का अनावरण कर ज्यों का त्यों प्रभाव पर्यवसायी उपस्थापन करता है तब उसकी मध्यस्थता सक्रिय रहती है। इस प्रकार समीक्षा की रचनात्मकता दो कारणों से सिद्ध हुई। एक तो यह कि उसका विश्लेषण मूल प्रभावीत्पादकपर्यवसायी होता है, फलतः विश्लेषणात्मक होकर भी संश्लिष्ट या केन्द्रमुखी होता है, प्रभाव विकिरण की प्रक्रिया संश्लेषगामी मनोवेग-सापेक्ष होती है। दूसरे, यह कि रचनात्मकता या नवता के लिए समीक्षक की नवताग्राही दृष्टि सक्रिय रहती है। दृष्टि की जो दो व्याख्याएँ ऊपर की गईं, उनमें से एक 'निजी दृष्टि' है, जिसके उदाहरण आचार्य शुक्त हैं और दूसरी वह 'भावियत्री प्रतिभा' नामक दृष्टि है जो रचनाकार की मूल संवेदना से लेकर काव्यात्मक आकार-ग्रहण की समस्त रचना-प्रक्रिया को ठीक-ठीक साक्षात्कार कर लेती है और केन्द्रीय वृत्ति को व्यक्त करने में उपकरणों की तारतिमक स्थिति का प्रभावपर्यवसायी दिशा में उद्घाटन कर देती है। अभिनव गुण्त एवं आनन्दवर्द्धन ने उस दृष्टि को "तत्त्वार्थदिशिनी बुद्धि" कहा है-- "बुद्धौ तत्त्वार्थदिशिन्यां झटित्येवावभासते"। दोनों ने माना है कि ग्रहीता रसावेश या प्रभावावेश में निरायास कवि की प्रतिभा का साक्षात्कार लेता है। "सरस्वती स्वादुतदर्थवस्तु निष्यंदमाना महता कवीनाम्।" ''अत्रोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।" वाग्रूपा सरस्वती या कृति तत्त्वदर्शीबुद्धि-सम्पन्न गृहीता को प्रभावगामी उपकरणों के साक्षात्कार में निमग्न करती हुई महाकवि की प्रतिभा का साक्षात्कार करा देती है। प्रतिभा और कुछ नहीं, कवि की अपूर्व वस्तु-निर्माण-क्षम प्रज्ञा ही है । आधुनिक भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि प्रभावावेश में ग्राहक रचयिता की समस्त रचना-प्रक्रिया का साक्षात्कार कर लेता है। इस प्रकार समीक्षा के संदर्भ में शुक्ल जी को उदाहरण रखकर की गई 'दृष्टि' की व्याख्या भिन्न है और आनंद तथा अभिनव गुप्त को सामने रखकर की गई दृष्टि की व्याख्या भिन्न है। यदि समीक्षक मध्यस्य है तो आनंद और अभिनव की 'दृष्टि'-परक व्याख्या ग्राह्म है। मध्यस्थ नहीं, अपितु कुछ अपनी नई कहना समीक्षा का रूप है, तो शुक्ल जी को ध्यान में रखकर की गई 'दृष्टि' की व्याख्या ग्राह्म है। मैं तो मध्यस्थ वाले पक्ष को ही संगत समझता हूँ। निजी दृष्टि को प्रमुखता देने वाला समीक्षक समीक्षक से अधिक Creative हो जाता है। मध्यस्थ की समीक्षा-मृष्टि इतने ही अर्थ में रचनात्मक या नई है कि उसने 'नये' को 'नये' रूप में ही रख दिया, पुराने प्रतिमानों में उसे कसकर मृत नहीं कर दिया।

अवार्यत्व, मध्यस्थता तथा निजी दृष्टिमूलक सर्जकता। प्रथम के उद्रेक में मुधार की भावना होगी, खरा-खोटा बताया जायगा, दूसरे के उद्रेक में कृति की मूल संवेदना एवं सर्जना-प्रक्रिया का तटस्थ उद्घाटन होगा और तीसरे में संवेदना के साथ कुछ और (निजी दृष्टि) भी जुटेगा। में समीक्षा को तीसरे अर्थ में रचना नहीं मानता, कारण यह है कि निजी दृष्टिकोण की केन्द्रीयता होने से ऐसी समीक्षा स्वयं एक Creative विधा के पास जाने लगती है, क्योंकि उसमें व्यक्तित्व का प्रक्षेप मुखर हो जाता है, अनासक्ति की भूमिका भंग होनी लगती है। यद्यपि अनासक्ति आपेक्षिक ही होती है, यह मान लिया गया है, तथापि उसे भी स्पष्ट कर दिया गया है। आचार्यत्व का समुद्रेक होने पर 'समीक्षा' की जगह 'शिक्षा' लेने लगेगी। अतः 'मध्यस्थता' वाली वृक्ति ही मुझे प्रशस्त जान पड़ती है।

संप्रति, यह प्रश्न खड़ा हो सकता है कि मध्यस्थ रह कर आलोच्य कृति की जो समीक्षा होती है, उसमें पूर्वागत प्रतिमानों की कोई उपयोगिता है या नहीं ? क्या कोई प्रतिमान शाश्वत न सही, तो अपेक्षाकृत शाश्वत चिरन्तन हो सकता है या नहीं ? इसी के साथ-साथ एक प्रश्न और भी जुड़ा हुआ है कि सैद्धांतिक समीक्षा समीक्षा है या नहीं ? आचार्यों के समस्त प्रयासों की, शासन की, शास्त्र की कोई उपयोगिता है या नहीं ?

जहाँ तक पूर्वागत प्रतिमानों या लक्षणों का सम्बन्ध है, कृति की मूल संवेदना, सौंदर्य, भाव या प्रभाव के विक्लेषण में अनायास उपयोगी प्रतीत हों तो वे उपयोगी हो भी सकते हैं। आनन्दवर्द्धन ने काव्य की 'नवता' को स्पष्ट करते हुए दृष्टांत प्रकृति जगत का दिया है—कहा है 'सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः' काव्य में जो कुछ नया आता है वह इतना नया नहीं होता कि पाठक को उसका पूर्व परिचय ही न हो। वृक्ष की पत्ती 'नई' है, का अर्थ यह नहीं कि पत्ती के जो लक्षण पूर्व निर्धारित हैं, वे इस पर लागू ही नहीं हो सकते। लागू हो सकते हैं, पर यह नहीं कहा जा सकता कि अनन्त वैचित्र्य संविलत सर्जना शक्ति की समस्त संभावनाएँ पूर्व-कार्यों की ही भाँति निष्चित हो गई। वास्तव में काव्योपकरण एक पूर्वाननुभूत प्रभग्न की समष्टि एकता के संदर्भ में होने से नये से लगते हैं। अतः पुराने लक्षणों या प्रतिमानों का उपयोग हो सकता है, पर उन्हीं में सारी 'नवता' प्रतिमित है, यह नहीं। इसीलिए समीक्षक के लिए प्राथमिक उपादेयता है उसकी अपनी निजी सूझ-बूझ की, तत्त्वार्थ-दिशनी बुद्धि की, शक्त भावियती प्रतिभा की, जिसके निर्देशन में पुराने प्रतिमान

उपयोगी भी हो सकते हैं, अनुपयोगी भी, साथ ही आलोच्य-कृति के सहारे नये भी गढ़े जा सकते हैं।

जहाँ तक सैंद्धांतिक समीक्षा की बात है, स्पष्ट है कि वह अपने आप में समीक्षा नहीं है। आलोचना के संदर्भ में माध्यम का कार्य कर सकने में उसकी उपयोगिता है, वहीं वह रचनात्मक प्रायोगिक समीक्षा का अंग है। अपने आप में उसकी उपयोगिता निसर्गलब्ध भावकता को व्यवस्थित और पुष्ट बनाने के लिए, उसमें निखार लाने के लिए, है। समीक्षक की सूझ-बूझ को सक्षम करने में, विभिन्न परम्पराओं की विशेषताओं से अभिज्ञ बनाकर सक्रिय करने में सैंद्धांतिक समीक्षा की उपयोगिता है।

रही अपेक्षाकृत शायवत या चिरन्तन प्रतिमान की बात । ध्वनित रस को भी आत्मसात् करने वाले ध्वनि सिद्धांत में मैं उसकी संभावना देखता हूँ। ध्वनिकार ने कहा है—

### उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुः प्रकाशयन् । शब्दो व्यञ्जकतां विश्वव् ध्वन्युक्तेर्विषयोभवेत् ।।

अर्थात् वाञ्छित चारुता किव के द्वारा प्रयुक्त जिस उक्ति से भिन्न उक्ति द्वारा कथमि प्रकाशित न हो सके, वही उक्ति 'ध्विन' है-वही शब्द सटीक और सही शब्द है। किव आत्मसंवेदना की अभिव्यक्ति के लिए उसी के निमित्त कभी संघर्ष करता है, कभी अनायास पा लेता है। इस प्रकार ध्विन संबंधी उक्त धारणा काव्य के क्षेत्र में तब तक स्थिर प्रतिमान है जब तक वह अशंकात्मक नहीं हो जाता।

इस प्रकार इस समस्त विचार-विवेचन से निष्कर्ष यह निकला कि:-

- (क) समीक्षा भी रचनात्मक होती है।
- (ख) रचनात्मकता के लिए तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि अपेक्षित है।
- (ग) समीक्षक की मध्यस्थता का निर्वाह इसी दृष्टि से संभव है।
- (घ) समीक्षा इस दृष्टि से भी सर्जना है कि समीक्षक अपना समग्र विश्लेषण मूल संवेदना ग्रहण के बाद आरम्भ करता है और पाठक में वैसा ही प्रभाव उत्पन्न हो, इस दृष्टि से उसका समस्त विश्लेषण एकोन्मुख-प्रभावोत्पादगामी होता है।
- (ङ) समीक्षक के लिए उसकी सूझ-बूझ ही प्रमुख है, पूर्वागत प्रतिमान अनुगामी हो सकते हैं।

d first son the tour out for

- (च) सैद्धांतिक समीक्षा प्रायोगिक समीक्षा का अंग बनकर ही समीक्षा है, उपादेय है। निसर्गजात सूझ-बूझ को निखार देने में भी उसकी उपयोगिता है।
  - (छ) अपेक्षाकृत शास्त्रत प्रतिमान की संभावना ध्वनि सिद्धांत में निहित है।

### [प्रहात] मधीला का शंग है। अपने साम

पूर्ववर्ती निबंध में यह कहा गया है कि सर्जक की मूल संवेदना का (सहानुभूतिमूलक) साक्षात्कार पूर्वक सर्जनात्मक पुनराख्यान ही आलोचना है। इस स्थापना पर कई आपित्तयाँ उठाई जाती हैं। एक तो यह कि यदि 'मूल संवेदना' का पुनराख्यान एक आलोचक ने कर दिया तो फिर अन्य आलोचक को उस विषय में कहना क्या रह गया ? और शेष रह नहीं गया तो दूसरा आलोचक क्या कहेगा ? पर व्यवहार में देखा यह जाता है कि एक 'उवंशी' पर अनेक दिगाजों ने कलमें चलाई और चलाई जा रही हैं। दूसरी आपित्त यह भी उठाई जाती है कि यदि कृति की मूलवर्तिनी संवेदना का पुनराख्यान एक बार होना ही उसकी आलोचना का अंतिम रूप है तो आलोचना द्वारा पुनर्मूल्यांकन निरवकाश हो जायगा। तीसरी आपित्त यह खड़ी की जाती है कि यदि आलोचना रचनात्मक या सर्जनात्मक है तो उसकी 'नवता' कहाँ है ? कारण यह है कि 'संवेदना' सर्जक और आलोचक की एक ही है।

जहाँ तक पहली आपित्त का संबंध है 'मूल संवेदना' को पकड़ लेने पर भी उसके स्पष्टीकरण के अनेक पक्ष हो सकते हैं। एक पक्ष तो यह है कि मूल संवेदना का अभिव्यंजक उपकरण के संदर्भ में आनुरूप्य का परीक्षण या विश्लेषण। इस परीक्षण में आनुरूप्य और औचित्य का विश्लेषण न जाने कितनी दृष्टियों से हो सकता है और कितनी गहराई में भी हो सकता है। अभिव्यंजक उपकरण अपने लयात्मक अथवा सांगीतिक पक्ष से लेकर वर्ण, पदांश, पद, वाक्य की ध्वन्यात्मक झंकृति पक्ष और यथायोग्य अर्थ चित्र पक्ष तक अंगी सौंदर्य या प्रभाव के अभिव्यंजन में तारतिमकता के साथ संलग्न है। मूल संवेदना का साक्षात्कार कर लेने पर भी एक ही व्यक्ति अपनी ज्ञान की सीमाओं में इन सभी दृष्टियों से उक्त आनुरूप्य माप ले, व्याख्यात कर दे—यह संभव नहीं है। आज 'शैली विज्ञान' की बड़ी चर्चा है। अभिव्यंजक उपकरणों की मूल संवेदना के एकाधिक बार व्याख्यात हो जाने के बाद भी इस दृष्टि सेआज नूतनता की संभावना है—पुनः आलोचन की संभावना है। मूल संवेदना

के साक्षात्कार के बावजूद अभिव्यंजक उपकरण पक्ष से जहाँ नवनवोद्भूत दृष्टिभेद से आलोचन की संभावना शेष है वहीं मूल संवेदना के सामाजिक, मानसिक, प्राणिशास्त्रीय आदि न जाने कौन-कौन सी आविष्कृत और आविष्क्रियमाण दृष्टियाँ हो सकती हैं जिनके आलोक में मूल संवेदना के घटक उपादानों का विश्लेषण किया जा सकता है। इस प्रकार किसी भी पक्ष—मूल संवेदना के संघटक अथवा अभिव्यंजक—से एक आलोचक द्वारा कुछ कह दिए जाने के बाद भी दृष्टिभेद और ज्ञानविस्तार के आनन्त्य से उस पर निरन्तर कुछ न कुछ कहा जा सकता है। अतः एक आलोचक द्वारा एक बार मूल संवेदना का उद्घाटन कर दिए जाने के बाद पुनः वह कृति आलोचना के लिए निरवकाश हो जायगो, यह सोचना ही निरर्थक है।

दूसरी आपित यह उठाई जाती है कि यदि 'मूल संवेदना' का साक्षात्कारपूर्वक सर्जनात्मक पुनराख्यान ही आलोचन है तो फिर पुनर्मूल्यांकन की सावकाशता कहाँ रही ? वास्तव में पुनर्मूल्यांकन का प्रश्न मूल्यांकन की प्रक्रिया पूरी
हो जाने के बाद उठता है । मूल्यांकन का आशय कृति के उन गुणों के अंकन से
है जो अपने युग विशेष में आकर्षण के बिन्दु बने हुये हैं । औसतन ग्राहक समाज
में रुचि के बदल जाने से, दृष्टि में गुणात्मक परिवर्तन आ जाने से जब पूर्वांकित
गुण आकर्ष ग के केन्द्र नहीं रह जाते और उस दृष्टि से उनकी उपादेयता समाप्त
हो जाती है, तब उसका पुनर्मूल्यांकन आवश्यक होता है—बदले हुये युग में उसकी
उपादेयता पुनः परीक्षित होती है । इस प्रकार मूल्यांकन अथवा पुनर्मूल्यांकन
का संबंध कृति की 'उपादेयता' से है । आलोचना उपादेयता-अनुपादेयता
से पृथक् हटकर 'जो है' उसके तटस्थ विश्लेषण से संबद्ध है । अतः 'आलोचना'
से 'पुनर्मूल्यांकन' की निरवकाशता सिद्ध होती है—यह समझ ठीक नहीं है ।

प्रश्न फिर भी किया जा सकता है कि तब क्या आलोचना से मूल्यांकन या पुनर्मूल्यांकन का कोई सम्बन्ध नहीं है ? मैं तो समझता हूँ कि यदि कोई संबंध हो सकता है तो इतना ही कि आलोचक 'मूल संवेदना' के घटक और व्यंजक का तटस्थ व्याख्यान कर देता है, जिसमें उपादेयता अर्थात् निर्णायक गुणों या विशेषताओं को भी पाया जा सकता है। रिचार्ड्स तो उस कृति को सर्वाधिक मूल्यवान् समझेगा जिसमें सर्वाधिक संतुलन (मनोवेगों में) लाने की शक्ति हो। वहरहाल, मूल्य वे गुण या विशेषताएँ ही हैं जो आकृष्ट करें, आकर्षक प्रभाव छोड़ें, मनोवेगों में संतुलन ला दें। ईस प्रकार यदि आलोचन का लक्ष्य 'मूल संवेदना' का तटस्थ सर्जनात्मक व्याख्यान है—वह उपादेय हो या न हो तो—

मूल्यांकन का लक्ष्य आकर्षण-स्रोत गुणों के निर्धारण या अनिर्धारण में है। आलोचना मूल्यांकन में तहायक अवश्य हो सकती है।

कहा जाता है कि मूल्यांकित करने वाली औसत 'युगरुचि' या 'युगदृष्टि' में गुणात्मक परिवर्तन उदित होने पर पुनर्मूल्यांकन की बात उठती है। आचार्य शुक्ल ने सूर की विरह व्यंजना को मूल्यांकित करते हुये उसे दो कौड़ी का ठहरा दिया। मध्यकाल की 'दृष्टि' या 'रुचि' अध्यात्म या सम्प्रदाय रंजित थी जिसके कारण सूर की विरह-व्यंजना तुलसी की विरह-व्यंजना से बहुत ऊँची मानी जाती थी। शुक्ल जी ने बदली हुई 'दृष्टि' या 'रुचि' से, जो बुद्धिवाद-रंजित थी, उसका पुनर्मूल्यांकन किया। मैंने पहले निबंध में इस बृत्ति को 'आलोचन' से भिन्न कहा था।

तीसरा प्रश्न यह किया जाता है कि यदि किव की 'मूल संवेदना' ही आलोचक का भी प्रस्थान-पाथेय है (अपनी एकरूपता में) तो आलोचना की सर्जनात्मकता या नवता कहाँ मानी जाय ? इस प्रश्न के समाधान में दो उत्तर दिए जा सकते हैं। एक तो यह कि 'मूल संवेदना' ही आलोचक की व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण 'कुछ और' होकर गृहीत होती है, अत: आलोचना इसी 'कुछ और' के कारण सर्जनात्मक हो जाती है। जिस प्रकार सर्जक व्यक्ति के काव्योचित मानस पर लोक की टकराहट क्रियेटिव या सर्जक साहित्य का प्रसव करती है उसी प्रकार आलोचक व्यक्ति के आलोचनोचित मानस पर क्रियेटिव की टकराहट आलोचनात्मक साहित्य का प्रसव । अतः जिस प्रकार की व्यक्तिगत टकराहट से औरों की टकराहट की अपेक्षा वह 'नवता' पैदा करता है उसी प्रकार टकराहट से एक आलोचक भी अन्य की अपेक्षा 'नवता' पैदा करता है। कहा जा सकता है कि सर्जंक टकराहट के प्रतिक्रियात्मक स्वर में अपने व्यक्तित्व का प्रतिक्षेप करता है, जब कि आलोचक आलोच्य कृति की टकराहट से उत्पन्न झं कृति को सर्जं क की मूल संवेदना के प्रतिबिंब रूप में ग्रहण कर यथावत् व्यक्त करना चाहता है। तभी तो आलोचक की तटस्थ वृत्ति आलोचन में उपादेय मानी जाती है। अतः दोनों की टकराहट-समुत्पन्न ध्वनियों में व्यक्ति-प्रतिक्षेप होने और न होने के कारण उक्त विध 'नवता' ठीक-ठीक वन नहीं पाती । दूसरी बात यह भी है कि आलोचक के मानस पर आलोच्य कृति की टकराहट से उत्पन्न प्रतिक्रिया आलोचक-आलोचक रूप व्यक्ति-भेद से उत्पन्न होने के कारण 'नई' है ? दोनों ही विकल्पों के विषय में एक ही प्रश्न खड़ा होता है कि जो 'मूल वेदना' आलोचक द्वारा गृहीत होती है, वह 'मात्रात्मक भेद' के कारण भिन्न है या 'गुणात्मक'। यदि मात्रात्मक भेद है तो 'मूल संवेदना' का रूप ऐसा नहीं

हो जाता कि वह सर्वथा भिन्न होने के कारण 'नई' कही जाय और यदि 'गुणात्मक' भेद हो जाता है तब वह 'मूल संवेदना' ही नहीं है, गुणात्मक भेद होने से कोई भिन्न चीज ही है। फिर उस बिन्दु से प्रस्थान करने पर वह व्याख्यान मूल कृति की आलोचना ही नहीं होगा।

इस प्रसंग में साधारणीकरण का भी प्रश्न निहित है । 'व्यक्ति' के कारण जो बार-बार 'नवता' की बात उठाई जा रही है, क्या वह जन्मजात सामाजिक प्रकृति के काव्य के लिए आत्यंतिक रूप में उचित है ? भाषा का माध्यम पकड़ने के कारण काव्य सामाजिक है, समाज-संवेद्य है, पर-संवेद्य है। अतः उचित यह है कि कवि 'जिसका' वर्णन करे उसका बोध्य रूप उभयबोध (ল্লড্टা-ग्राहक) साधारण हो । व्यक्तिगत स्तर पर 'वस्तु' अवश्य भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देगी, अतः प्रत्येक 'व्यक्ति-गृहीत' 'वस्तु' अपनी समग्रता में भिन्न-भिन्न हो सकती है पर 'कवि-वर्णित-वस्तु' में अभिन्नता या 'स्व-पर-बोध-साधारणता' होनी ही चाहिए। बात यह है कि 'वस्तु' व्यक्ति-गृहीत होकर भी विशेष अंश में 'सामान्य' तो रहती है, अन्यथा व्यवहार निभाना असंभव हो जायगा । वेदान्तियों का 'दृष्टि-सृष्टिवाद' व्यवहार के लायक नहीं है । प्रत्येक 'वस्तु' में व्यक्ति गृहीत होने पर भी 'व्यक्ति-रूप' के साथ 'व्याव-हारिक रूप' भी रहता है। कवि सामाजिक काव्य में 'व्यावहारिक रूप' को रखना चाहता है और सहानुभूति-अंजन-अंजित प्रातिभ नेत्र उसी को पकड़ते भी हैं। इस दृष्टि से आलोचना में 'नवता' का उन्मेष 'व्यक्ति'-ग्राह्यता-निमित्तक तो संभव नहीं है।

इस प्रसंग में आनुषंगिक रूप से एक प्रश्न और उठता है और वह है कि जहाँ एक ओर शुक्ल जी यह कहते हैं कि काव्य का निर्माण भी सामान्य भाव-भूमि पर होना चाहिए और काव्य का ग्रहण भी, वहीं दूसरी ओर पश्चिमी समीक्षकों की भाँति यह भी कहते हुए सुने जाते हैं कि काव्य का विषय 'व्यक्ति' होता है और शास्त्र का 'जाति'। क्रोचे ने भी ऐसी ही बात कही है। क्रोचे और शुक्ल जी ने ही नहीं, प्रसिद्ध भारतीय काव्यशास्त्री आनंदवर्द्धन ने भी कहा है—वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्भ पं तत्तु ग्राहचविशेषाभेदेनैव प्रतीयते। बात इनके यहाँ भी काव्य में 'नवता' व्यक्ति रूप से ही प्रतीत होने में है। यदि काव्यगत विणत अर्थ 'सामान्य' या 'जाति' रूप से प्रतीत होने, तब तो फिर यही कहना पड़ता कि वाल्मीिक प्रणीत काव्य से भिन्न सभी परवर्ती काव्य उच्छिट या बासी हो जायेंगे। बात यों है कि इन आचारों की दृष्टि से काव्य की अंतरात्मा रस है और उसकी संख्या नियत है। रसानु-

भूति में उपयोगी वे जिस रूप में अनुभूत होकर होते हैं-वह 'असाधारण' नहीं साधारण हैं, सामान्य हैं। व्यक्तिगत रूप से भेदक विशेषताओं से शून्य होकर अपनी जातिरूपता में व्यंजक उपकरण परिमित हो जायेंगे ओर परिमित वस्तुएँ पूर्व विणत होने से कुछ नया रह ही नहीं जाता, फिर और परवर्ती कवियों की वर्णना में 'नवता' क्या चीज है ? कहा गया है—

'अत्र केचिदाचक्षीरन्—यथा सामान्यात्मना वस्तूनि वाच्यतां प्रतिपद्यन्ते न विशेषात्मना तानि हि स्वयमनुभूतानां मुखादीनां तन्निमित्तानां च स्वरूपमन्य-त्रारोपयिद्भः स्वपरानुभूतरूपसामान्यमात्राश्रयेणोपनिबध्यन्ते कविभिः। न हि तैरतीतमनागतं वर्तमानं च परिचितात्रिस्वलक्षणं योगिभिरिव प्रत्यक्षीक्रियते; तच्चानुभाव्यनुभवसामान्यं सर्वप्रतिसाधारणं परिमितत्वात् पुरातननामेव गोचरीभूतम्, तस्या विषयस्यानुपपत्तेः। अतएव स प्रकारविशेषो यैरद्यतनैरभिनवत्वेन प्रतीयते तेषामभिमानमात्रमेव भणितिकृतं वैचित्र्यमात्र-

अर्थात् शब्दात्मक काव्य से वस्तु 'जाति' रूप से वाच्य होती है, 'विशेष' रूप में नहीं। वे भी स्वयम् अनुभूत भावों और उनके निमित्तों का अन्यत्र आरोप करते हुए स्व-पर-संवेद्य सामान्य रूप का ही आश्रयण किव करता है। वह योगी की भाँति अतीत, अनागत एवं वर्तमान में विद्यमान व्यक्तिगत विशेषताओं से युक्त प्रत्येक वर्ण्य पदार्थ का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं करता। फलतः स्वपरानुभव सामान्य प्रतिपत्ता मात्र संवेद्य रूप को ही शब्दों में बाँधता है। इस प्रकार होता यह है कि जाति रूप से प्रतीत होने के कारण जातियों के पारिमत्य वश उनकी सीमा पुरातन किवयों के काव्यों में ही समाप्त हो जाती है—आगे के लोगों के लिए बचा ही क्या है? उन्हें नया कहने का अभिमान मात्र ही है—वस्तुतः वहाँ नया कुछ है नहीं। केवल उक्तिवैचित्रय मात्र है।

पूर्व पक्ष की इस पीठिका पर आनंदवर्द्धन का उत्तर बड़ा ही क्रान्तिकारी है, जो साधारणीकरण सिद्धान्त के विरुद्ध जाता सा लगता है। उनका कहना है—'स्वभावोऽयं वाच्यानां चेतनानामचेतनानां च यदवस्थाभेददेशभेदकाल-भेदात् स्वालक्षण्य भेदाच्चानन्तता भवित।" "वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमाना-नां यद्भूपं तत्तु ग्राह्य विशेषाभेदेनैव प्रतीयते"—अर्थात् शब्द की अमिधा शक्ति से जिन चेतन अथवा अचेतन रूप वाच्याथों की प्रतीति होती है, वे देश भेद, स्थान भेद तथा काल भेद से नहीं, अपितु व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण अनन्त होते हैं।...काव्य में प्रतिभा समान वाच्य का रूप प्रत्यक्ष प्रमाण ग्राह्य है जो अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं से संवलित होकर प्रतीत होता है। निष्कर्ष यह कि 'नवता'

या 'सर्जनात्मकता' के निमित्त काव्य में व्यक्तिगत विशेषताओं का प्रत्यय आवश्यक है। इस पक्ष में तर्क ही नहीं, अनुभव भी साथ देता है। मान लीजिए दो काव्य प्रांगार रस के हैं- एक में 'क' आलम्बन है और दूसरे में 'ख'। पर साधारणी-करण की 'सामान्यपरता' वाली बात ऐकांतिक और आत्यंतिक रूप में मान ली जाय, तब तो दोनों काच्यों से प्रतीत 'शृंगार' में अंतर नहीं होना चाहिए । कारण, आलंबनादि व्यक्तिगत विशेषताओं से संविलत होकर तो प्रतीत होते नहीं, 'सामान्य' रूप से ही होते हैं। अत: व्यंजक उपकरणगत भेदक विशेषताओं के विलयन से व्यंग्य प्रतीतिगत भी भेद का प्रत्यय किस प्रकार तर्कसंगत होगा, जबिक अनुभव इसके विरुद्ध जाता है ? आलम्बन भेद से भिन्न-भिन्न कृतियों का एक ही रस नया-नया आस्त्राद देता है। ऐसा नहीं लगता कि 'क' आलम्बन-गर्भा कृति के आस्वाद से 'ग' आलम्बन-गर्भा कृति का आस्वाद एक ही है, प्रत्युत इसके विपरीत ही प्रतीति जाती है। अतः इसी प्रतीति के अनुरोध से आनंदवर्द्धन का समर्थन करते हुए अभिनव गुप्त कहते हैं कि आपत्तिगण शब्द की शक्ति चाहे 'सामान्य' में माने या 'जातिमान्' अथवा 'अपोह' में, इन मतभेदों के बावजूद वाक्यार्थबोध में 'विशेष' का सद्भाव विकार करना ही पड़ेगा। चाहे 'अन्विताभिद्यानवाद' माना जाय अथवा 'अभिहितान्वयवाद' स्वीकार किया जाय, शाब्दबोध को 'अनुभवात्मक' कोटि में परिगणित करने के निमित्त इस स्तर (वाक्यार्थबोध स्तर) पर 'विशेष' का समावेश करना या मानना ही होगा— अन्यथा 'तर्क' और 'युक्ति' में अन्तर है। तर्क निर्लक्ष्य वाक्य योजना है और 'यूक्ति' लक्ष्य सिद्धि के निमित्त है। युक्ति या उपाय भी 'उपेय' तक पहुंचा देने के बाद 'हेय' मान लिए जाते हैं। तर्क से तो कुछ सिद्ध हो नहीं सकता, अनु-भव की भी दुर्गति हो जायगी। एक ही रस या भाव की आलम्बनगत भेद से प्रतीति-भेद सर्वानुभव सिद्ध है, अतः सर्वानुभवसिद्ध का उपपत्ति के निमित्त वाक्यार्थवोध स्तरों में भी प्रत्यक्ष बोघ की भाँति 'विशेष' का संनिवेश मानना ही वडेगा। अपरोक्ष तथा शाब्दबोघ जैसी परोक्ष प्रतीतियों में सिद्ध अंतर की रक्षा के निमित्त इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि अपरोक्ष या प्रत्यक्षानुभूति का, 'विशेष' का स्रोत वह स्वयम् है, जबिक शाब्द-प्रतीति में या समान ⁴विशेष' का स्रोत पूर्व प्रत्यक्ष गृहीत 'विशेष' है-अथवा उसके आधार पर उद्भूत उससे भिन्न फलतः 'नव' है। इसीलिए शाब्द प्रतीति के स्थलों में आचार्य आनन्दवर्द्धन ने 'गृहीताविशेषाभेदेन' न कहकर 'ग्राह्मविशेषाभेदेन' कहना अधिक उचित समझा। अब तक कहने का संपिण्डित अर्थ यह हुआ कि 'प्रत्यक्ष' बोध स्थल की भाँति शाब्द स्थलों में भी 'विशेष' का प्रत्यय होता है और यही 'विशेष'

नवता का स्रोत है । पद से पदार्थ की उपस्थित चाहे 'सामान्यात्मा' हो या 'अपोह' अथवा 'विशेषात्मा' वाक्य से वाक्यार्थ की प्रतीति 'विशेष'गर्भ अवश्य होगी—इसमें तार्किकों और अनुभवियों दोनों का संवाद है, किसी का भी मतभेद नहीं। तब भी यह अवश्य अनुभविकाम्य रह जाता है कि 'विशेष' किस मात्रा में काव्यास्वाद के व्यंजक उपकरणों में साधारणीकरण के वावजूद रह जाता है। आचार्य शुक्ल ने तो 'व्यक्ति' को 'व्यक्ति' ही रहने दिया, साधारणीकरण तद्वत् धर्म का बता दिया और कह दिया कि बात समान्त। 'भावना' (या 'भावकत्व') 'व्यक्ति' का भी कुछ करती अवश्य है। कहाँ तक करती है, कितना करती है, दो टूक कहना अनुभवाधृत होने से कठिन ही नहीं, असंभव भी है।

फ़िलहाल यह तय है कि 'नवता' का स्रोत 'विशेष' है। पर 'काव्य' के 'सर्जनात्मक' पक्ष की 'नवता' से आलोचक की आलोचना में 'नवता' कैसे ? फलतः वह 'सर्जनात्मक' कैसे ? उत्तर में यही कहना पड़ेगा कि जिस प्रकार लोकानुभव पर आघृत होती हुई भी काव्यानुभूति में 'नवता' है वैसे ही 'काव्यानुभूति' पर आघृत होती हुए भी आलोचक की 'संवेदना' में भी 'विशेष' वश 'नवता' है ही। 'नवता' का एक स्रोत तो यह हुआ। इस स्रोत में 'मूल संवेदना' के घटकों (भाव तथा विचार) का यथातथ्य रहना संभव है- उसमें ग्राहक का 'विशेष' उतना ही है जितना 'व्यक्ति' गृहीत होने से संभव है। यह 'विशेष' ऐसा नहीं है कि 'मूल संवेदना' में कोई गुणात्मक अंतर आ जाय। शुक्ल जी ने 'सूर की विरह व्यंजना' का आलोचन की जगह 'मूल्यांकन' कर दिया। परिणाम यह हुआ कि 'मूल संवेदना' यथातथ्य न रह सकी और उसमें गुणात्मक अंतर आ गया।

'नवता' के अन्य स्रोत 'मूल संवेदना' के यथावत् रहने के वावजूद उसके अछूते पक्ष हैं जिनका उद्घाटन बाद के लोग करते रहते हैं और अपनी समीक्षा को सर्जनात्मक बनाए रखते हैं। अछूते पक्षों से मेरा अभिष्राय द्विमुख है। एक तो यह कि ज्ञात दृष्टियों (रचना समकालीन) से अछूता और दूसरा भविष्य में उद्भिन्न होने वाली 'दृष्टियाँ'। ये दृष्टियाँ 'संवेदन-घटक दृष्टि' से भिन्न हैं—उसकी व्याख्या के निमित्त। इस प्रकार आलोचना 'मूल संवेदना' का ही सर्जनात्मक पुनराख्यान है, इस स्थापना पर अब तक के किए गए आक्षेपों के ये समाधान हैं——भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन के आलोक में।

the of the first party and

相解 时间 工厂 美国的 如原果 可知是中国的

## दो | भाष्य और समीक्षा

कहा जाता है कि व्यवस्था जड़ होती है और सर्जनात्मकता गतिशील।
काव्य जिस शक्ति का प्रसव है वह अपनी प्रकृति में सर्जनात्मक है, इसीलिए
काव्य को सृष्टि या रचना भी कहा जाता है, इसीलिए गतिशील माना जाता
है। नवता गितमयता में ही सम्भावित है और जहाँ नवता है वहीं रमणीयता
है—सौन्दर्य है, आकर्षण है। फिर राजशेखर ने यह क्यों कहा—शास्त्रपूर्वकत्वात्
काव्यानां, पूर्वशास्त्रेष्वभिनिविशेत? क्या शास्त्र व्यवस्था नहीं है? शास्त्र
शासन के ही कारण तो शास्त्र है। शासन व्यवस्था नहीं तो और क्या है?
राजशेखर ने शास्त्र को भी परिभाषित कर दिया अतः उसने भी अपनी निश्चित
सार्थकता में गितमयता की सम्भावना खो दी। इस प्रकार शास्त्र या शासन
की परिधि स्थिर और जड़ हो जाने पर उसमें ही रखा जाने वाला काव्य अपने
स्वरूप में, नवता में किस प्रकार स्थिर हो सकेगा? इनका तो आदेश है—
''गृहीत विद्योपविद्यः काव्यक्रियाय प्रयतेत''। इनकी तो धारणा है कि काव्य
गतिमय जीवन का नहीं, चारों विद्याओं का सरस नि:ध्यंद है।

की गए को विश्वाद अपूजा प्रचान केंद्रा एको है। स्वाकेन्द्रा है विकासकों है नको क्रम प्रदेश है और अमेदिन एको के राज्य है रिवास कर है।

ing the party of t

काव्य कारण की दृष्टि से भी विचार करते हुए इन्होंने जिस शक्ति को अकेले काव्य हेतु के रूप में स्वीकार किया है उसके उद्भासन के लिए समाधि और अभ्यास—बाहच और आन्तर—दोनों ही प्रकार के प्रयत्न स्वीकार किए हैं। अभ्यास के अन्तर्गत शास्त्रपरिशीलन भी आ सकता है। उन्होंने यह भी तो स्वीकार किया है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति से मुक्त किव ही (उत्कृष्ट किव क्या) सच्चा कि है। व्युत्पत्ति भी तो यायावर के मतसे उचित और अनुचितका विवेक ही है, जो उचित और अनुचित के अभ्यास साध्य ज्ञान से ही सम्भव है। वे मानते हैं कि प्रतिभा और व्युपत्ति दोनों समवेत रूप में ही उपादेय हैं। इनकी दृष्टि में सौन्दर्य के समुन्मेष में जो स्थान रूप एवं लावण्य का है वही काव्य के चरम पाक में प्रतिभाअ र व्युत्पत्ति का है। इन्होंने तो यहाँ तक कि अन्यान्य आचार्यों से अपना मतभेद प्रकट करते हुए यह भी स्वीकार कर लिया कि प्रकृति मधुर द्राक्षा को भी चासनी की अपेक्षा होती है, क्योंकि एक ही लक्ष्य से

की गई दो क्रियाएँ दुगुना प्रभाव पैदा करती हैं। राजशेखर को वैसा उत्कर्ष श्रेयस्कर जान पड़ता है जो अनेकविघ गुणों के एकत्र सन्निपात से ही सम्भव है। अतः कवित्व के लिए शक्ति के अतिरिक्त बुद्धि या विवेक (व्युपित्त) और अभ्यास भी अपेक्षित है। इनकी सम्मिलित कारणता से काव्य में उत्कर्ष आता है। इसीलिए जहाँ कवित्व के लिए वे केवल शक्ति को कारण कहते हैं वहाँ समाधि और अभ्यास को उसके उद्भासन में पहले ही डाल देते हैं। उत्कर्ष के लिए और गुणों का भी सहावस्थान आवश्यक मानते हैं। निष्कर्ष यह है कि काव्य हेतु की दृष्टि से भी उन्होंने शास्त्राभ्यास का बंघन लगा रखा है जिससे उपर्युक्त विरोध की स्थित और भी पुष्ट होती है।

समस्या या विरोध केवल निर्माण पक्ष में नहीं, ग्रहण अथवा ग्रहण पूर्वेक भावन के पक्ष से भी है। राजशेखर ने प्रतिभा के दो भेद किये हैं कारियत्री अथवा भावियत्री । पहले का आश्रय कारक है और दूसरे का भावक । भावक के लिए भावन आवश्यक है। नाट्यशास्त्रकार ने भावक की बात भाव के सैद्धान्तिक स्वरूप का (भावयन्ति इति भावाः) स्पष्टीकरण करते हुए की है। भावन अथवा भावकत्व का उल्लेख अपौरुषेय वेद वाक्यों में [जो विधायक हैं], भावना की स्वीकृति देने वाले मीमांसकों की परम्परा के अनुधावी भट्टनायक ने भी शब्दात्मक काव्य के सामर्थ्य के रूप में किया है। अभिनव गुप्त ने इस भावकत्व को काव्य के शब्द पक्ष में ही नहीं अपितु अर्थपक्ष में भी स्थापित किया है और अन्ततः उसे व्यञ्जना से एक रूप कर दिया है। इस व्यञ्जना की पर्यायवाची भावना से राजशेखर की भावकगत भावना दो वातों में भिन्न है--एक तो वह शब्दार्थात्मक अचेतन काव्य से हटकर चेतन द्रष्टा में स्थापित कर दी गयी और दूसरे व्यंजना के समुन्मेष में जहाँ ध्वनिवादियों ने अन्य विध वैशिष्ट्य के साथ प्रतिभा को कारण बताया, वहाँ राजशेखर ने प्रतिभा को ही भावक-गत भावना कहा और उसे भावियत्री संज्ञा प्रदान की। यह हुआ अंतर्भाष्य या समीक्षा जिसे अवान्तरार्थ विच्छेद भी कहा गया है। अब आइये प्रकृत विषय पर, भाष्य पर, मुख्य आक्षेप पर । तो भावन या ग्रहणपूर्वक विक्लेषण की दृष्टि से इन्होंने जो विचार प्रस्तुत किये हैं उसे भी उक्त विरोध का ही स्वरूप उभरता है और वह इस प्रकार-

राजेश्वर का कहना है कि भावक का कार्य है—गुण दोष का विवेक। उन्होंने अपने आशय की पुष्टि में स्वयं कहा है—

"कस्त्वं भोः कविरस्मि, काप्यभिनवा सृष्टिः सखे पठ्यताम्, त्यक्ता काव्यकथैव संप्रति मया, कस्मादिदं, श्रूयताम् ।

यः सम्यग्विवितक्ति दोषगुणयोः सारं स्वयं सत्कविः, सोऽस्मिन् भावक एव नास्त्यथ भवद्दैवान्न निर्मत्सरः ॥ १

इस आधार पर निश्चय यह हुआ कि भावक काव्य का गुण-दोष बतलाता है। गुण-दोष का वस्तुमुखी निर्णय ातिमानिक दृष्टि पर आधृत है। ऐसी दृष्टि का स्वयं निर्माण प्रतिमानों के अभ्यास से होगा और प्रतिमानों का बोध शास्त्र के परिशीलन से ही सम्भव है। इस प्रकार इन पूर्व निर्धारित प्रतिमानों के शासन में रहने की आकांक्षा से लिखने वाले किव की कृति किस प्रकार गितिशील हो सकेगी? नयी और रमणीय वन सकेगी? वह सर्जनात्मक शक्ति का प्रसव कैसा होगा? जबिक ये मानते हैं—सा केवलं काव्ये हेतु:।

दूसरी समस्या काव्यमीमांसा जैसी प्राचीन काव्यशास्त्र की कृतियों की वर्तमान भारतीय काव्य-परम्परा के सन्दर्भ में उपयोगिता की भी है। क्या इन कृतियों की सार्थकता अपने ही समय की कृतियों की सीमा में थी या आज भी इसकी कोई चरितार्थता है? आज ये कृतियाँ वर्तमान सन्दर्भों में उठी हुई काव्य-समस्याओं के समाधान में कोई आलोक प्रदान करती हैं या इनका अध्ययन केवल नाम मात्र की वृद्धि तक ही सीमित रह गया है? व्यवस्था या शास्त्र के भार से दबी फलतः कसमसाती आज की नई काव्य चेतनाया सर्जनात्मक शक्ति पर्याप्त आक्रोश से परिपूर्ण है। अतः विचार यह भी करना है कि इन शास्त्रों में चिंचत प्रतिमानों की वर्तमान सन्दर्भ में कोई सम्भावना शेष है या नहीं? नये भावकों का यह आक्षेप है कि भारतीय भावकता की धारा अवरुद्ध हो गई है। वह अपने पुरखों की रचनाओं के हाथ में लगे घी की गंध का प्रचार कर रही है।

जहाँ तक पहली समस्या का सम्बन्ध है, लोक और परलोक की स्वस्थ दिशा में कुछ लोग नैस्गिक प्रेरणा वश चलते हैं और अधिकांश शास्त्र, समाज और शासन के विधि निषेध वश । निःसन्देह इन दोनों में प्रथम जितना श्लाध्य है तना दूसरा नहीं । लेकिन देशकाल भेद से निर्मित सामाजिक मान्यताओं, शासकीय मान्यताओं से अपरिचित रहने वाला व्यक्ति प्रेरणा प्रसूत सद्वृत्तियों का भी कार्यान्वयन समाज की अविरोधी दिशा में नहीं कर सकता। अतः व्यक्तिगत सम्भावनाओं को समाज में रहकर चरितार्थ करने के लिए दोनों का

१. कविगत भावना भिन्न है और भावकगत भावना भिन्न है क्योंकि न केवल दोनों का स्वरूप ही भिन्न है, अपितु विषय भी भिन्न है—"एकः सूते कनकमुपलस्तत् परीक्षाक्षमोऽन्यः।

ही समन्वय आवश्यक है—प्रेरणा भी और जीवन्त परम्परा भी। उत्कर्ष तो समन्वय से ही साध्य है। ठीक इसी प्रकार का मत राजशेखर का भी है। काव्य के क्षेत्र में प्रेरणा का स्थानापन्न, शक्ति (कवित्ववीजभूतसंस्कार विशेष) तथा परम्परागत विधि निषेध का तो है ही शास्त्र । शक्ति या प्रेरणा का देश-कालोचित विकास समकालीन वौद्धिक मान्यताओं या व्यवस्थाओं के बीच से ही होता है। हाँ, व्यवस्था सर्जनात्म विकास के अनुरूप जब तक रहेगी तब तक ग्राह्म है और जब वह विकास में अवरोधक लगने लगे तब त्याज्य है। यह परख सहज सूझ-बूझ या प्रतिभा सम्पन्न लोगों में ही होती है, अतः वे लोक की सर्जनात्मक चेतना के विकास के अनुरूप व्यवस्था का निर्माण कर लेते हैं। सर्जना शक्ति स्वयं उस सीमा में नहीं वैधती, अतः वह उसे तोड़कर फिर आगे बढती है। निष्कर्ष यह कि व्यवस्थाएँ और मान्यताएँ नई पुरानी होती रहती हैं. पर सर्जनात्मक चेतना अपने अनुरूप और विरूप इन आवरणों को ग्रहण करती तथा तोड़ती हुई बढ़ती चली जाती है। इसीलिए राजशेखर प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों को काव्य के उत्कर्ष में निमित्त मानते हैं। राजशेखर का यह कहना कि ''सकलविधस्थानैकायतनं पंचदशं काव्य विद्यास्थानमिति यायावरीयः, तद्धिशास्त्राण्यनुधावन्ति" अर्थात् काव्य समस्त विद्यास्थानों का एक मात्र आयतन है क्योंकि शास्त्र उसका अनुधावन करते हैं इस सन्दर्भ में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। काव्य, शास्त्र अर्थात् परम्परागत जीवन्त व्यवस्था के बीच से होकर चले और शास्त्र काव्य अथवा लक्ष्य की सर्जनाशक्ति प्रमूत काट्यात्मक सृष्टि के अनुरूप निर्मित होता रहे। शास्त्र शासन ही नहीं, अनुशासन भी है। पहले सद्वृत्तियाँ या सर्जनात्मक शक्ति मूर्त्त होती है और पश्चात् उसी के अनुरूप विधान बनते हैं। इसीलिए हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन लिखा-वाग्भट्ट ने उसी का अनुसरण किया । निष्कर्ष यह कि सर्जनात्मक शक्ति व्यवस्था में बँधती नहीं है, व्यवस्था से होकर गुजरती है। जहाँ तक काव्य के निर्माण की शास्त्रपूर्वक होने की बात है या भावन में पूर्वनिर्धारित प्रतिमानों के प्रयोग का सम्बन्ध है, यह सब सहजा प्रतिभा के लिए कम और उत्पाद्या के लिए अधिक है। कहा ही है—स्वभावशुद्धम् हि न संस्कारमपेक्षते। कवित्व या महाकवित्व के लिए नवता की शर्त भी राजशेखर ने स्वीकार की है—

### शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किंचन नूतनम्। उल्लिखेत च न प्राच्यं मन्यतां स महाकविः।।

े नूतन-दर्शन सरस्वती या सहजा प्रतिभा कराती है जो जन्मान्तर संस्कार से उत्पन्न है, इसीलिए काव्य पुरुष को इन्होंने सारस्वतेय कहा है। ऐसी प्रतिभा से सम्पन्न महाकिव यि सुप्त भी हो तो भी उसे सब कुछ दिखाई देता रहता है, उसमें यह क्षमता होती है कि ज्यक्ष एवं सहस्राक्ष भी नहीं देख पाते, जो चर्म चक्षु महाकिव को सूझता रहता है। लगता है कि उसके मित-दर्गण में सारा विश्व प्रतिबिबित हो रहा हो। ऐसे महात्माओं के समक्ष शब्द एवं अर्थ अहमहिमकया दौड़ते रहते हैं। इस प्रकार की तमाम बातें जो नूतनार्थदर्शी, नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा से सम्पन्न महाकिव के लिए सुनी जाती हैं, राजशेखर की इन बातों से सहमित यह सिद्ध करती है कि उन्हें सहज शक्ति या प्रतिभा में बड़ी आस्था है। इस प्रकार निश्चय ही किसी भी संस्कार की अपेक्षा न रखने वाली सहजा प्रतिभा निर्माण की दृष्टि से किन के लिए अनुपम है पर यदि कहीं स्वस्थ परम्परा या अनुरूप व्यवस्था का भी योग हो जाए तो सोने में सुहागा की स्थित हो जाती है, और वह राजशेखर को मान्य है। काव्य निर्माण के सन्दर्भ में बुद्धिमान शिष्य की बुद्धि नसर्गतः शास्त्र का अनुधावन करती है, उसे संस्कार की अपेक्षा नहीं है अर्थात् सहज शक्ति जिस रास्ते जाती, है व्यवस्था निर्मातः उसमें आ जाती है। यायावर का मत है— 'प्रतिभैव परिकरः" अर्थात् किन की काव्ययात्रा में केवल प्रतिभा ही परिकर है।

"न निसर्ग किवः………" इत्यादि से भी वे किव की निसर्ग शक्ति को महत्त्व देते प्रतीत होते हैं। ये सब बातें निश्चय ही सर्जनात्मक शक्ति को महत्ता देती हैं। शास्त्र निखार लाने में सहायक हो सकता है, इससे भी उन्हें ऐतराज नहीं है और सबसे बड़ी बात यह है कि—

### "इयं सा काव्यमीमांसा काव्यव्युत्पत्तिकारणम्"

यह 'काव्यमीमांसा' अव्युत्पन्न लोगों के लिए कुछ विधि निषेध की बातें वता रहा है, काव्य यात्रा के लिए शास्त्रज्ञान के अर्जन की बात कर रहा है— जिनके पास निसर्गत: सूझ-वूझ है उनके लिए यदि और भी उत्कर्ष काम्य हो तो शास्त्राभ्यास उनमें निखार ला सकता है। जो राजशेखर स्वभाव मधुर द्राक्षा में भी चासनी का संस्कार चाहता है, वह (शक्ति या तज्जन्य) सहजा प्रतिभ के निखार के लिए यदि व्युत्पत्ति की आवश्यकता माने तो आश्चर्य क्या है? यही बात भावन पक्ष से भी कही जा सकती है। सहजा भावियत्री ही किव के श्रम और अभिप्राय को समझकर लोक को समझा सकती है, दसों दिशाओं में उसके निबंध का प्रसार कर सकती है, उसके व्यापारतरु को निष्फल होने से बचा सकती है—सफल कर सकती है। अन्ततः वह किव का क्या-क्या लाभ नहीं कर सकती ? पूर्व निर्धारत प्रतिमानों के आधार पर ही यदि भावना ने किव्य का स्वरूप एवं वैशिष्ट्य उद्घाटित किया तो वह स्वयं में क्या रही ?

दोष गुण का विवेक स्वयं की सूझ-बूझ से भी सम्भव है-अतः काव्यमीमांसा के संदर्भ में उठायी गयी मौलिक आपित्तयाँ निरस्त हो जाती हैं। उनका मार्ग समन्वय का मार्ग है-अर्थात् सर्जनात्मक शक्ति की आपेक्षिक महत्ता उन्हें स्वीकार्य है, पर व्यवस्था भी उस विकास का अंग बनकर साथ दे तो निर्माण उत्कृष्ट होगा, अवरुद्ध नहीं।

रही दूसरी समस्या और वह यह कि इस या ऐसी प्राचीन कृतियों में जो प्रतिमान या प्रशासन घोषित किए गये हैं उनकी वर्तमान भारतीय काव्यधारा के सन्दर्भ में किसी चरितार्थता की सम्भावना है या नहीं ? मेरी तो धारणा है कि वह भी है। कतिपय प्रतिमान और विचार इतनी चिरंतन सम्भावनाओं से संवलित हैं कि उनके प्रकाशन की आवश्यकता है। समीक्षा या आलोचना के सन्दर्भ में आज जितने प्रश्न उठ रहे हैं, काव्यमीमांसागत भावक या भावियत्री प्रतिभा के विवेचन के सन्दर्भ में उनमें से बहुतों का समाधान विद्यमान है, जैसे समीक्षा का प्रशस्त रूप दोष गुण का निर्णय है या मूल भावभूमि या मन्तव्य तथा प्रकाशन में नियोजित उपकरणों की तारितमिक अवस्थिति का अनुरूप उद्घाटन ? अर्थात् निर्णयात्मक समीक्षा समीक्षा है या व्याख्यात्मक ? समीक्षा स्वयं में एक सृष्टि या सर्जना है या नहीं ? और सर्जनात्मक नहीं है तो क्या विजडित है ? यदि समीक्षा सर्जना है तो काव्यात्मक सृष्टि के मूल में रहने वाली सर्जना और भावनात्मक समीक्षा के मूल में रहने वाली सर्जना में क्या अन्तर है ? क्या किव के भावन और भावक के भावन में अन्तर नहीं है ? जिस भावभूमि पर काव्यतरु की प्रमृति हुई है, क्या वही भावभूमि भावनतरु के अंकूरण और प्रसार में अपेक्षित है या भिन्न ? एक तो कैसे और भिन्न तो कहाँ ? जिस प्रकार कवि का लक्ष्य पाठक को -आस्वाद कराना है उसी प्रकार भावक का लक्ष्य सामान्य पाठक तथा भावन के माध्यम से मूलकृति का आस्वाद पहुँचाना है या नहीं ? क्या भावक का व्यापार कृति को खंड-खंड विश्लेषित कर उसके संश्लिष्ट प्रभाव या सौन्दर्य की हत्या करना है ? भावक पहले कवि से तादातम्य कर उसकी मूल मनोभूमिका का साक्षात्कार करता है और फिर तटस्थ होकर सूझ-बूझ के साथ उसका मार्मिक व्याख्यान तथा विश्लेषण । क्या एक ही भावक में तादात्थ्य और ताटस्थ दोनों ही सम्भव हैं ? रचना की भावना में रचयिता की आनुवंशिकता और परिवेश, साथ ही मनोगुहा का अन्वेषण कहाँ तक उपादेय है ?ये तमाम साम्प्रतिक प्रश्न हैं जिनके अनुरूप संकेत और सम्भावनाएँ राजशेखर की पंक्तियों में मिल सकती हैं।

## तीन समीक्षा और भारतीय काव्य-सिद्धान्त

जनक नामें के होता है। यह से अने से अने से किया है की करी कर

FIGURE THE THE THE THE THE THE THE THE

समीक्षा में ईक्षा का सम्यक्त्व निहित रहता है। ईक्षा स्रष्टा भी करता है अपनी सृष्टि के निर्माण से पूर्व और ईक्षा सहृदय भी करता है सृष्टि की। प्रस्तुत सन्दर्भ में ईक्षा का विचार सहृदय ग्राहक की ओर से किया जा रहा है अत: ईक्षा केवल चाक्षुष व्यापार ही नहीं है, बुद्धिपूर्वक किया गया चाक्षुष व्यापार है । काव्य विश्लेषण के प्रसंग में ईक्षण व्यापार की परिसमाप्ति केवल बुद्धिपूर्वक किये गये चाक्षुष व्यापार तक ही नहीं अपितु बुद्धिपूर्वक किये गये चाक्षुष व्यापार की दोषगुणानुसन्धानात्मिका परिणति तक है । इस परिणति की दृष्टि से आरम्भ में चाहे आलोच्य सृष्टि से प्राथमिक सम्पर्क प्राप्ति के निमित्त बाह्य ज्ञानेन्द्रियों को माध्यम बनना पड़े, पर अन्ततः यह प्रकान्त ईक्षणा विशुद्ध बौद्धिक व्यापार ही मननात्मक या आलोचनात्मक अथवा ऊहापोहात्मक व्यापार के रूप में ही शेष रह जाता है। इस प्रक्रिया में ग्राहक पहले बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से एक समष्टि प्रभाव ग्रहण करता है, तदनन्तर इस समरस प्रभाव या आस्वाद के अभिन्यंजक ऊपकरणों के उस तारतिमक अवस्थान का समाधिपूर्वक साक्षात्कार करता है जो रचयिता के मानस में आलोच्य सृष्टि के निर्माण के सन्दर्भ में हुआ था। यदि ये उपकरण वास्तविक प्रतिभा की प्रसूति हैं तो इनमें प्रातिभ प्रसवात्मक उपकरण आनन्द-वर्द्धन के शब्दों में यत्नतः प्रत्यभिज्ञेय हैं। निष्कर्ष यह कि ईक्षा उपर्युक्त प्रकार की अपरोक्षानुभूति है। समीक्षक इस दृष्टि से साक्षात्कृतधर्मा ऋषि या द्रष्टा है। पर इस प्रकार की ईक्षा की अन्तिम परिणति केवल उन प्रातिभ उपकरणों की तारतिमक अवस्थिति का साक्षात्कार नहीं अपितु साक्षात्कार-पूर्वक सशक्त वाचिक प्रकाशन में है।

ऊपर ईक्षा का जो विवेचन किया गया है उससे दो निष्कर्ष स्पष्ट हैं जो एक विकल्प को जन्म देते हैं। विकल्प यह है कि ईक्षा आलोच्य सृष्टि का बुद्धिपूर्वक दर्शन तत्पुरस्तर दोषगुणोद्घाटन है जिसके लिये पूर्व निर्धारित प्रतिमान स्थिर कर दिये गये हैं अथवा ईक्षा स्रष्टा के मानस में काव्यसर्जनोचित उपकरणों के तारतामिक अवस्थान का साक्षात्कारपूर्वक वाचिक प्रकाशन तथा विदिध उपकरणों का अन्यतः प्रत्यभिज्ञान और उनका निरूपण ? जिन भारतीय आचार्यों ने लक्षण ग्रन्थों के निर्माण के माध्यम से काव्य-सिद्धान्त अथवा काब्योचित प्रतिमानों के स्थापन में इतनी प्रातिभ शक्ति का विनियोग किया उनका आशय ईक्षण में सम्यक्त्व का आधान करने की दृष्टि से पूर्ववर्ती विकल्प पर कहीं हो सकता है। कारण, सहृदय समीक्षक यदि तटस्थ रूप से निर्धारित प्रतिमानों की सहायता कृति की आलोचना में न ले सका तो ऐसी आलोचना में वैयक्तिक प्रतिक्रियात्मकता की सम्भावना हो सकती है जिसमें अपेक्षित तटस्थता का अभाव हो सकता है और ऐसा होने से ईक्षा में सम्यक्तव का होना संदिग्ध हो सकता है। आलोचक विरुद्ध धर्माश्रयी है। उसमें कृति की अन्तरात्मा की प्रत्यभिज्ञा के निमित्त तादातम्य की भावना तो अपेक्षित है ही, तादात्म्य द्वारा प्रत्यभिज्ञा के अनन्तर विश्लेषण के सन्दर्भ में तटस्थता की भी आवश्यकता है। यह तटस्थता पूर्व निर्धारित काव्य-सिद्धान्तों या प्रतिमानों के प्रयोग से ही सम्भव है, अन्यथा समीक्षक की वैयक्तिक एवं तदाचरित दोष गुणनिरूपण की सम्भावना हो सकती है।

दूसरा विकल्प भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, बिल्क वर्तमान समीक्षा धारा में तो यह माना जाता है कि यदि कृति प्रतिभाप्रसूत है तो उसमें नवता अवश्य होगी। और नवता होगी तो पुराने लक्ष्यों से निकाले गये प्रतिमान उसके लिये पर्याप्त नहीं होंगे और उस पर उन्हें कसना उनके महत्व निरूपण की वृष्टि से अनुचित होगा। अतः सच्चे अर्थों में देखा जाय तो प्रत्येक प्रातिभ मृष्टि का प्रतिमान उसी में निहित है, दूसरे लक्ष्य से निकृष्ट प्रतिमान दूसरे पर लागू कैसे किया जा सकता है? इस प्रश्न से पूर्व निर्धारित प्रतिमान किसी भी प्रातिभ मृष्टि की ईक्षा में सम्यक्त्व नहीं ला सकता है। फलतः समीक्षा प्रविगात प्रतिमानों या काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर गुणदोषोद्धाटन नहीं; अषितु प्रातिभ मृष्टि के मूल तन्तुओं की मन्त्रतः प्रत्यभिज्ञा और उनकी बारीकियों का वाचिक प्रकाशन के ही रूप में कहीं अधिक संगत है। यही कारण है कि इस नवालोक में पूर्ववर्ती विकल्प की समीक्षा को रूढ़ परम्परा विजडित, सम्भावनारहित, विश्वविद्यालयीन, अध्यापकीय और न जाने किन-किन आक्षेप्य शब्दों से स्मरण किया जाता है।

सचमुच प्रतिभा लोचनकार के शब्दों में अपूर्व वस्तु निर्माणक्षम प्रज्ञा, महिम भट्ट के निरूपण में 'साहि चक्षुर्भगवतस्तनीयमितिगीयते' तथा पण्डितराज

के रसगंगाधर में 'सा हि काव्यार्थानुकूल शब्दार्थोपस्थितिः' के रूप में स्मृत की गई है। प्रतिभा काव्य में निरूपणीय जिस वस्तु का दर्शन करती है वह केवल इसी माने में अपूर्व है कि वह प्रत्यक्ष प्रमाण या विम्बात्मक है। कारण, वस्तु या तो परोक्ष या सामान्य हो सकती है अथवा अपरोक्ष या अशेष विशेष संवलित । काव्यार्थात्मक वस्तु इसी माने में अपूर्व है कि वह उक्त दोनों लोकप्रसिद्ध एवं पूर्वानुभूत रूपों से भिन्न है। यही उसकी नवता है। आनन्दवर्द्धन ने नवता का रहस्योद्घाटन करते हुये कहा है- "सर्वे नवा इवाभान्ति काव्ये रस परिग्रहात्"। काव्यवर्ण्य यदि सर्वथा अदृष्टपूर्व हो तो वह अजायबघर हो जायगा, अतः रहता तो पूर्वदृष्ट ही है पर किव के मानस में समुच्छिलित काव्योचित अनुभूति के सरस प्रवाह में आपाद मस्तक भींग कर निकलने के बाद लगता है जैसे इन्हें इस रूप में पहले कभी देखा ही न हो। ऐसे अपूर्व अथवा नव विम्वार्थी का साक्षात्कार करने वाला प्रातिभ चक्षु सर्वमान्य रूप में प्रसिद्ध दो चर्मचक्षु तो नहीं है, वह कोई तृतीय ही है। काव्योचित अनुभूति एवं सामान्यानुभूति में अन्तर पण्डितराज की प्रतिभा-व्याख्या में निहित है। उनके मत से सामान्य अनुभूति और काव्यनिर्माणोपयोगी काव्यविहित पूर्ववर्ती अनुभूति दोनों में अन्तर यही है कि एक अनुरूप अभिन्यञ्जक माध्यम शब्दार्थ से हीन होती है और दूसरी सही शब्दों में ही उभरती है। वक्रोक्तिकार ने बहुत ठीक कहा है — अलंकृतस्य व काव्यत्वम्, न तु काव्यस्यालंकारः । वस्तुतः समझाने के लिये अलंकृति एवं अलंकार्य का भेद होता है अन्यथा काव्य का स्वरूप अखण्ड है-वह केवल काव्य है और कुछ नहीं। निष्कर्ष यह कि नवता संचालित काव्यसृष्टि की आलोचना पूर्वागत लक्ष्यों पर आधारित प्रतिमानों पर परख कर गुणदोषोद्-घाटन नहीं, वरन् उसके मूलवर्ती उपकरणों की तारतिमक स्थिति का समाधि या आकारपूर्वक यत्नतः प्रत्यभिज्ञान तथा उसका वाचिक प्रकाशन ही है।

समीक्षा की इस परवर्ती विकल्पना का समर्थन अभिनव गुप्त ने भी किया है और सर्वत्र रसात्मक प्रतिमान का प्रयोग करने वाले भट्टनायक को रसान्ध्र तक कह दिया है। उन्होंने कहा है कि किसी भी कृति की समीक्षा के लिये देखना यह आवश्यक है कि उसके संघटक उपकरणों में कि प्रतिभा का संरम्भ या अभिनिवेश किस पर है। वहीं उद्रिक्त एवं केन्द्रीय तथा मुख्य है। उसी को महत्त्व समीक्षक को भी देना चाहिये। जहाँ काव्यप्रभावकारी तत्व अनुभव से कोई अन्य ही प्रतीत हो वहाँ अनालोचित तथा पूर्वगृहीत प्रतिमान का प्रयोग अन्धता है—ऐसी ईक्षा में सम्यवत्व नहीं होगा। दशक्ष्पककार ने ठीक कहा है कि प्रतिमान असमर्थ आलोचकों के लिये कुछ दूर तक सहायक हैं। वास्तव में

तो समीक्षा की असिधार यात्रा में तात्कालिक निर्णय देने वाली स्वकीय भावियत्री प्रतिभा ही सर्वोपरि है। दशरूपककार ने नियमों का निर्देश करते हुये कहा तो सर्जकों के लिये है पर उसका उपयोग आलोचकों के सन्दर्भ में भी उपर्युक्त ढंग से हो सकता है। कदाचित् यही कारण है कि निर्णयात्मक समीक्षा की तुलना में व्याख्यात्मक समीक्षा आज अधिक संगत मानी जाती है। अस्तु।

समीक्षा के उपर्युक्त विवेचन के आलोक में जहाँ तक भारतीय काव्य सिद्धान्तों के प्रयोग और उपयोग का सम्बन्ध है उसका विचारित सुस्थ पक्ष यही है कि समीक्षक को समीक्षा यात्रा में कविप्रतिभासंरम्भगोचरीभूत तत्व का प्रातिभ आलोक में समर्थ साक्षात्कार करना चाहिये और फिर देखना चाहिये कि लक्ष्यीभूत सौन्दर्य या चमत्कार के समुद्घाटन में प्रयुक्त उपकरण कहाँ तक समर्थ हैं या नहीं हैं। भारतीय आचायों ने रस सिद्धान्त को सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण मानते हुए भी यह कहीं नहीं कहा है कि काव्य की महत्ता का उद्घाटन सर्वदा एवं सर्वत्र रसात्मक प्रतिमान की ही दृष्टि से किया जाना चाहिये। निर्माण के मूल में जो वृत्ति ही न होगी, प्रभाव ग्रहण की दृष्टि से काव्यवृक्ष की कलात्मक परिणति ही वह कहाँ तक हो सकेगी? इसलिये निर्माण के मूल में सिक्रयवृत्ति का साक्षात्कार किये बिना समीक्षा यात्रा की राह में एक भी पग नहीं दिया जा सकता।

भारतीय काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त ही एक ऐसा सिद्धान्त है जो सामा-जिक को केन्द्र में रखकर प्रतिष्ठापित किया गया है। वह काव्य को न तो असा-माजिक या वैयक्तिक मानने के पक्ष में है और न तो आध्यात्मिक। कारण, आध्यात्मिक भी अन्ततः वैयक्तिक ही है। सामाजिक वही है जिसमें सामाजिकता के संस्कार हों, सामाजिकता सम्पन्न हृदय के हृदय का संवाद वर्ण्य विषय के सामाजिक होने से ही सम्भव हो सकेगा। यह सामाजिकता औचित्य का पर्याय ही है, इसीलिये आनन्दवर्द्धन ने कहा है—

#### अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् । औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ।।

अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का कोई कारण नहीं और औचित्य का उपिनबन्ध रस की परा उपिनषत् है। रसात्मक सिद्धान्त में काव्यमूलक एवं काव्येतर मूल्य का प्रश्न नहीं उठता, वहाँ वे समरस हैं। जिन्हें कितपय समीक्षक काव्येतर मूल्य समझते हैं वे वस्तुतः अभिव्यंजक उपकरणगत औचित्य हैं जो समस्त उपकरण को रसपर्यवसायी बनाने में पूर्ण योग देते हैं। इसीलिये अभि-

नवगुष्त ने प्रीति को परमफल कहते हुए ब्युत्पित की निरायास संस्थित स्वीकार की है। इस प्रकार भारतीय काव्यचर्चा में रस सिद्धान्त को सर्वातिशायी मानते हुए भी उसी को प्रतिमान मानकर किसी भी कृति की समीक्षा का आग्रह नहीं किया गया। यदि काव्य मनुष्य के लिये है तो वह अपनी सामाजिकता ही में मनुष्य है—असामाजिकता में यदि गिरता है तो केवल पशु है और उठता है तो वैयक्तिक साघक। हाँ वर्तमान जीवन में सर्वजनसामान्यहिता वह मान्यताओं की अर्थी उठ रही है और वे हैं भी तो केवल मुखौटा। ऐसे जीवन का प्रतिफलन कहाँ तक सामाजिकता-गर्भ होगा? फलतः उसमें रसात्मकता की सम्भावना कहाँ होगी? पर ऐसी स्थितियाँ सक्रान्तिकालीन होती हैं। उनको स्थायी मानकर एक संगत सिद्धान्त का तिरस्कार भी नहीं किया जा सकता। लेकिन इन सबके बावजूद मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि समीक्षा में इस सिद्धान्त का ही प्रयोगरक खरे-खोटे का निर्णय करना चाहिये।

इसी सिद्धान्त के अतिरिक्त जितने भी अन्य भारतीय काव्यमत (अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्विनि, औचित्य) हैं वे सबके सब व्याख्योपयोगी ही हैं। हाँ, एक यह पृथक् प्रश्न है कि क्या इन तत्वों या उपकरणों के द्वारा आधुनिक काव्य बोध की व्याख्या की जा सकती है ? क्या इन सिद्धान्तों में ऐसी कोई सम्भावनाएँ निहित हैं या ये नि:शेष हो चुके हैं ?

इसप्रसंग में एक बात ध्यान देने की यह है कि उक्त सभी मतों को सिद्धान्त-मत कहना उचित नहीं है। मेरा तो मत है कि काव्य-सिद्धान्त के रूप में केवल ध्वित को लिया जा सकता है, जहाँ सभी इतर मत-गत तत्वों की एक अव-यवी के अन्तर्गत संगति व्यवस्थित हो गई है। मैं यह भी नहीं कहना चाहता कि आधुनिक काव्यबोध, आधुनिक काव्यानुभूति अथवा आधुनिक काव्यसौन्दर्य का विश्लेषण-व्याख्यान केवल उक्त तत्वों के द्वारा ही हो सकता है, ऐसा कहना पूर्वोक्त भारतीय समीक्षा संबंधी धारणा की अवहेलना है। जो भी तत्व काव्यानुभूति को उभारने में किव द्वारा प्रयुक्त किये गये हों उनके विवेचन के द्वारा काव्य मृष्टि की समीक्षा की जा सकती है। हाँ, इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि जो लोग अलंकार से केवल परिग-णित वचनभंगिमा (उपमोत्प्रेक्षा आदि) ही समझते हैं वे अलंकार की अन्तरात्मा नहीं समझते। भारतीय आचार्यों ने अलंकार को वाग्भंगिमा या वाग्विकल्प कहा है और उसे अनन्त समझा है। अलंकार कहने का एक काव्योचित अन्दाज है, अभिप्रेत के प्रकाशन का एक सशक्त ढंग है। अतः समीक्षा के सन्दर्भ में कोई

कथन पद्धति की भंगिमा का विश्लेषण करता है तो मैं नहीं समझता कि उसे वैसा क्यों नहीं करना चाहिये। अपृथायत्ननिवर्तत्व के रूप में अलंकार यदि नियोजित हो गये हैं तो काव्य-सौन्दर्य कितना निखर उठता है, यह दिखाना व्याख्या की दृष्टि से सर्वथा उपेक्षणीय है क्या ? काव्य-सौन्दर्य के व्याख्यान में यदि वह नादयोजना, लय योजना, वर्णयोजना, रंगयोजना, चित्रयोजना, वारभं-गिमा का विज्लेषण करता है—तो ठीक ही करता है। नियम विधान कुछ दूर तक ही समीक्षा में सहायक हैं। अन्त तक और पुष्कल रूप में अपनी सूझ-बूझ ही सहायक हो सकती है। यही बात रीतिवाद तथा वक्रतावाद के विषय में भी कही जा सकती है। रीति विशिष्ट पद रचना ही तो है। यह रचना का वैशिष्ट्य जो निर्माता को अभीष्ट, है उसका अनावरण उसकी सृष्टि के रहस्य को स्पष्ट ही करेगा। वक्रतावाद के विषय में तो कुन्तक का स्पष्ट कथन है-'स्वभावस्यौजस्येन परिपोषणमेव वक्रतायाः परं रहस्यम् ।'' सामान्यतः 'क्या साहित्यदर्पणकार जैसा पुराना विवेचक वक्रता को केवल अ**लं**कार समझता है और आचार्य गुक्ल उसे वाग्वैचित्र्यवाद के नजदीक रखना चाहते हैं? वास्तव में वक्रता वह कवि व्यापार है जो अपने मूल प्रस्थान में ही सम्मान्य तथा व्यवहारोपयोगी अनाकर्षक ढंग से पृथक् कर लेता है। वर्ण्य वस्तु के संबंध में उसकी धारणा है कि उसमें सहज निहित सौन्दर्य को ही प्रतिभा की कुदाली से उभारने की क्रिया ही कवि व्यापार है, वक्रता है। यह सारा प्रयत्न कुन्तक की दृष्टि में सौन्दर्यानुरोधी तथा रसानुरोधी ही हुआ करता है। कुन्तक ने स्पष्ट कहा है कि वह वक्रता ही है, कवि व्यापार ही है जो वर्णनीय पदार्थ स्वभाव को सुन्दर एवं सरस रूप में उभारकर, कुरेद कर ऊपर रख देता है। उत्कृष्ट स्वभाव वाले वर्णनीय पदार्थ में लीन सौन्दर्य को विना किसी प्रकार की प्रोढ़ौक्तिवश अथवा आलंकारिक लेप लगाये बिना उभार देना चाहिए । इसीलिए कुन्तक के यहाँ स्वभाव एवं रस वर्ण्य हैं ---अलंकार्य हैं। काव्य का प्रस्थान आज उस मोड़ पर है जहाँ आदर्श और स्वच्छन्दता नहीं, 'यथार्थ' चित्रणीय हो गया है। यदि वक्रोक्ति तथा यथार्थ दोनों को वाद के रूप में लें तब तो मूलवर्तिनी दृष्टि का भेद अवश्य है, अन्यया आगन्तुक आलेप से वस्तु के स्वभाव का चित्रण और परीक्षण दोनों ही साध्य है।

रसवादी समीक्षात्मक प्रतिमान एक सुखकर काव्याध्ययनजन्य प्रभाव तथा उसकी व्याख्या है। यदि किसी रचना के मूल में तथाविध सरस मनोदशा है, यदि कोई काव्योक्ति कवि हृदय का सरस समुच्छलन है—-ग्राहक ने उसका

साक्षात्कार किया है तो रसवादी व्याख्या का सहारा ले सकता है। बाद में चाहे रसवादी ढाँचा जैसा और जितना विजड़ित हो गया हो, पर मूलतः इसकी वड़ी ही व्यापक धारणा है। आनन्दवर्धन ने कहा है "चित्तवृत्तय एव रसाः" अर्थात् काव्यवर्ण्यं से प्रभावित चित्रवृत्तियाँ ही रस हैं । उन्होंने अपना आशय स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि काव्य में कुछ न कुछ विणत होगा ही और जो कुछ भी वर्णित होगा उससे पाठक, की मनोदशा तरंगायित होगी। कवि ऐसी वस्तु का वर्णन ही क्यों करेगा जिससे पाठक अप्रभावित रह जाय ? वास्तव में सब प्रकार का प्रभाव रस ही कहा जाय, यह बड़ा विचित्र लगता है। पर विश्वान्ति और रस को पर्याय मानने वाला साहित्यदार्शनिक और कह क्या सकता है ? आनन्द मात्र मन की एक विभ्रान्त दशा है (आत्मा की एक बिश्रान्त दशा है), वह अभावात्मक भी हो सकती है और भावात्मक भी। रसमयता, तन्मयीभाव, संवादभावात्मक विश्रान्ति दशा है। इसके लिये निर्माता एवं ग्राहक में जिस मात्रा तक संवाद होगा, दोनों के मानस में विम्ब-प्रतिबिम्ब भावात्मक स्थिति होगी उतनी ही तन्मयीभाव की स्थिति प्राप्त हो सकेगी। महिम भट्ट ने अपने व्यक्तिविवेक में स्पष्ट कहा है— "असन्त एवं रत्यादयः प्रतिविम्बकल्पा .....हृदयसंवादादास्वाद्यात्वमुपयन्तः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते।" वास्तव में ये वे चिन्तक हैं जो विजेय जन को सुकर ढंग से व्युत्पन्न करना चाहते हैं और कविव्यापार को विभावादिसंयोजनात्मा ही स्वीकार करते हैं। अस्तु, इस सिद्धान्त को समाप्त करने से पूर्व उस मूल वाक्य को पुनः दुहरा देना चाहता हुँ कि यदि ग्राहक को किसी कृति के मूल में इस दृष्टि एवं वृत्ति का साक्षात्कार करना हो तभी उसकी व्याख्या में, तारतिमक रूप से अवस्थित सौंदर्योपकरणों की व्याख्या उक्त सिद्धान्त की दृष्टि से की जाय।

किसी ने बहुत ठीक कहा था कि पशु से हमारी विशेषता यह है कि पशु जीवन निर्वाह के लिये जो कुछ पाता है उसे उसका मूल्य जान बूझकर अपनी ओर से देना नहीं पड़ता। उससे जबर्दस्ती वसूल लिया जाय—यह बात दूसरी है, पर मनुष्य के लिये ददातिप्रतिगृहणाति का विधान है और वह ज्ञानपूर्वक स्वयं करता भी है। वह समाज से जो कुछ लेता है बदले में साहित्य ही तो देता है। यह व्यापार सामाजिक ऋण का शोधन है। वह वर्ण्य की दोनों प्रकार—धर्षणीय तथा विध्येय—की सरणियों से होता रहा है। कालिदास ने शाकुन्तल में, कुमारसम्भव में द्वितीय प्रकार का सहारा लिया है। आज साहित्यकार में अधिकांश प्रथम प्रकार ही दृष्टिगोचर हो रहा है—यह भी ऋण शोधन की मानवीय भावना से प्रेरित होकर नहीं, अपितु सामाजिक यन्त्रणा

से पिसकर केवल आत्म चीत्कार, आक्नोश, ऋण एवं व्यंग्य के रूप में। यह अवश्य हुआ है कि वर्ण्य की गहराई चाहे कम हुई हो पर अभिव्यक्ति की यथार्थपरक बारीकियाँ और विधाएँ शिरश्चालनात्मक ढंग की आई हैं। आज वर्ण्य से अधिक साहित्यिकता वर्णना में केन्द्रित हो गई है। आलोचन से प्रमाद लेखन पर बहस के व्याज से की गई सम्पादकीय टिप्पणी में यह तथ्य स्पष्ट ही स्वीकार किया गया है।

इन बदले हुए सन्दर्भों एवं प्रसंगों में भी काव्य-समीक्षा के लिये भारतीय ध्विन-सिद्धान्त उतना ही उपादेय है जितना पहले था। इसकी पुष्टि नये साहित्य के पक्ष पर समीक्षकों की पंक्तियों को उद्धृत कर की जा सकती है और अन्यत्र मैंने की भी है। आज का समीक्षक भी इस तथ्य या सत्य से सहमत है कि किव को न केवल वर्ण्य के धरातल पर ही अपितु वर्णना के स्तर पर भी आत्मसंघर्ष करना पड़ता है। उनकी बात छोड़ें जिन्हें प्रतिभा प्रकृति प्रदत्त वरदान है। कारण, वे तो अनायास किसी अजान प्रक्रिया से वर्ण्य के अनुरूप अपरिवर्तनीय शब्दार्थ योजना कर ले जाते हैं। पर जिन्हें यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है उन्हें हर वर्ण्य के लिये सही शब्द की तलाश में आत्मसंघर्ष करना पड़ता है।

लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिये कि ध्वनि-सिद्धान्त केवल पद्धित या अभिव्यक्तिगत ही है। वस्तु, अलंकार तथा दोनों के आगे बढ़कर इस ध्विन के रूप में वह वस्तुगत भी है। इसिलये यह प्रतिमान अथवा व्याख्या-पद्धित सांगोपांग तथा पूर्ण है। यह ध्विन विशुद्ध सुखकर प्रभाव की दृष्टि से तो सर्वातिशायी है ही, अपने अभिव्यञ्जक उपकरणों में निहित औचित्य अथवा सामा-जिकता केकारण अपनी सामाजिक उपादेयता से भी 'सु' है। इस प्रकार बदले हुए वर्तमान सन्दर्भों में भी भारतीय काव्य-सिद्धान्त की महता तथा उपादेयता अक्षुण्ण है। मैं अन्य आविष्कृत सौन्दर्य उपकरणों का निषेध नहीं करता और न तो काव्य में वर्तमान किसी नवीन 'सु' का प्रत्याख्यान ही करता हूँ।

## चार पुरातन और अद्यतन आचार्यों की दृष्टि में कान्यानुभूति

Over come top a first of version points at figure out

काव्यानुभूति को ग्रहण करने की व्याख्या में आज विभिन्न दृष्टियाँ दिखाई पड़ रही हैं। प्राचीन धारा के भाववादी (पूर्वी और पिष्चमी) काव्यचितक रसानु-भूति या सौंदर्यानुभूति के पर्याय रूप में प्रायः 'काव्यानुभूति' शब्द का प्रयोग किया करते हैं। विज्ञान के प्रभाव में पलनेवाली नव-चेतना ने जहाँ सभी प्राचीन मान्यताओं पर एकबारगी प्रश्नवाचक चिह्न लगाया है—वहाँ 'काव्या-नुभूति' विषयक प्राचीन मान्यता भी अछूती नहीं रही है। विज्ञान के आलोक में उभरने वाली वस्तुमुखी-दृष्टि के काव्यचितकों में कुछ एक की धारणा यह है कि लोकानुभूति में ग्राहक 'मन' और ग्राह्म 'सामग्री' की जो दशा और स्थितियाँ होती हैं, उससे किसी माने में भिन्न शब्दानुभूति के क्षेत्र में न तो ग्राहक 'मन' की स्थिति होती है और न ग्राह्म 'काव्य-सामग्री' की, फलतः काव्यानुभूति भी लोकानुभूति से भिन्न नहीं है। यदि लोक-व्यवहार में लौकिक सामग्री ग्राहक के मानस पर सुखदुःखमयी प्रतिक्रिया डाल सकती है, तो काव्य-सामग्री भी सुखदुःखमयी प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकती है। यदि लोकानुभूति क्षोभकारिणी हो सकती है, तो काव्यानुभूति भी क्षोभकर होगी ही।

आचार्य रामचन्द्र गुक्ल उक्त धारणा में थोड़ा परिवर्तन करते हैं। वे मानते हैं कि काव्यानुभूति भी एक प्रकार की लौकिक अनुभूति ही है, परन्तु अन्य लोकानुभूतियों की भाँति काव्यानुभूति सुखदुःखमयी होती हुई भी क्षोभ-कारिणी नहीं होती। इसका कारण बताते हुए वे लोकानुभूति में सिक्रय 'मन' और 'काव्य सामग्री' की अपेक्षा काव्यानुभूति में 'सिक्रिय मन' और 'काव्य सामग्री' की कुछ विशेषतायें बताते हैं। काव्यानुभूति के लिए सिक्रय और ग्रहणशील मन 'स्व' एवम् 'पर' की रागद्धे षमयी भावना से, सांसारिक योग-क्षेम की भावना से—व्यक्तिगत लाभ और हानि की शंका से— सर्वथा मुक्त रहता है और काव्य-सामग्री में लौकिक सामग्री की अपेक्षा यह विशेषता होती है कि वह ग्राहक सहृदय मात्र में एक ही कोटि की भावातमक प्रतिक्रिया अनिवार्यतः

पैदा करती है। प्राचीन भाववादी चिंतकों के यहाँ काव्यानुभूति 'चर्वणा-विश्रांत' मानी जाती है जबिक शुक्ल जी उसे 'सत्कर्म-विश्रांत' मानते हैं। वे मानते हैं कि काव्य का लक्ष्य या सार्थकता यह है कि वह मानव को पाशविक संकीर्णता से ऊपर उठाता जाय और मानवीय भावनाओं को उत्तेजित करता हुआ सत्कर्म की ओर सिक्रिय कर दे। प्रगतिवादी भी काव्य का लक्ष्य मनोनुकूल भावनाओं को उत्तेजित मात्र कर देने में नहीं वरन् प्रगतिशील तत्वों की ओर सिक्रय कर देने में नहीं वरन् प्रगतिशील तत्वों की ओर सिक्रय कर देने में स्वीकार करते हैं। या वे कभी-कभी तो यह भी कह देते हैं कि भाववादी चिंतकों के 'रस' से उन वस्तुवादी चिंतकों को मतलव ही क्या है ? काव्य में यह पक्ष उनका विश्लेष्य ही नहीं है।

पश्चिमी मनोवैज्ञानिक काव्यिचितकों का सहारा लेकर कुछ नए आचार्यों ने काव्यानुभूति को अतिवार्यतः आनन्दमयी चेतना स्वीकार की है। इसका कारण वताते हुये कहा है कि एक तो काव्य-सामग्री सूक्ष्म विवात्मक होती है, दूसरे अव्यवस्थित संवेदनों में व्यवस्था लाने वाला काव्य का 'भावन व्यापार' है। इन कारणों से संवेदनों में संतुलन आ जाता है, फलतः काव्यानुभूति आनंदमयी हो जाती है।

भारतीय प्राचीन भाववादी चितकों ने तो काव्यानुभूति को मनोमय भूमिका पर प्रतिष्ठित कर दिया है।

उपर्युक्त सभी मत किसी न किसी प्रकार पूर्णतः या अंशतः आनंदमयता की बात करते हैं। आनंदमयता मनोरमण का ही दूसरा नाम है और मनोरमण का अभिप्राय है तल्लीन होना, व्यक्तित्व को क्षण भर के लिए भूल जाना, अपने और पराए के अंतर का विगलित हो जाना । काव्य सामग्री द्वारा जिस भाव में सहृदय का मनोरमण होता है उस भाव को सहृदय मात्र में उत्पन्न करने की क्षमता उस काव्य-सामग्री में हुआ करती है। इस प्रकार काव्यानुभूति में जहाँ तक आनन्द्रमय अनुभूति का स्थान है दो बातें आवश्यक हैं, एक तो व्यक्तित्व का विलयन और दूसरे काव्य-सामग्री का सामान्य होना, सब के प्रति समान रूप से भावोत्तेजक होना।

एक अन्य आचार्य हैं, जिनका कहना है कि काव्य द्वारा किव अपने अनुभूत 'रस' का प्रकाशन करता है। वह अपने वैयक्तिक अनुभूत सत्य को समिष्टिग्राह्य बनाना चाहता है, फलतः काव्य में विविध प्रयोगों का सहारा लेता है। इस अनुकूल 'सत्य' को वह सहृदय पाठक तक प्रेषित करना चाहता है। इनकी दृष्टि में समस्या यह खड़ी होती है कि वस्तुसत्य को ग्रहण करने की दो ही

दृष्टियाँ संभव हैं : 'आब्जेक्टिव' या वस्तुमुखी या तटस्थ अथवा 'सब्जेक्टिव' या आतम संस्कार प्रक्षिप्त । स्पष्ट है कि 'सत्य' को ग्रहण करने के लिए वैज्ञानिक दृष्टि से प्रथम प्रकार की ही दृष्टि उपादेय है । यदि हमने अंतःसंस्कारों से द्ष्टि को रंजित करके वस्तु का ग्रहण किया तो वस्तु दृष्टि राग की प्रतिच्छाया से संवलित होकर गृहीत होगी। इस स्थिति में वस्तु-सत्य अपने मूल रूप में गृहीत न हो सकेगा। इसलिये तटस्थ रहकर ही ग्राहक ऋषि जैसे कवि द्वारा प्रकाशित आत्मसत्य का ग्रहण कर सकता है । निष्कर्ष यह है कि इस आचार्य की दृष्टि से काव्यानुभूति कवि के व्यक्ति-सत्य का तटस्थ ग्राहक द्वारा किया जाने वाला ग्रहण है। इनका यह भी अभिप्राय है कि कवि के आत्म-सत्य या व्यक्ति-सत्य का ग्रहण ग्राहक अपने व्यक्तित्व की विवेक-शक्ति या वौद्धिक सजगता को खोकर नहीं कर सकता। इस प्रकार काव्य-अनुभूति की वेला में एक तरफ ग्राह्य 'व्यक्ति-सत्य' में कवि का व्यक्तित्व और दूसरी ओर ग्राहक-सहृदय का सजग व्यक्तित्व या विवेक-शक्ति दोनों का सह-अस्तित्व आवश्यक है । इन द्विविध व्यक्तियों के सह-अस्तित्व में ही होने वाली काव्यानुभूति 'सह-अनुभूति' है। फलतः काव्यानुभूति के लिये न तो ग्राहक के व्यक्तित्व का विलयन ही कहना युक्तियुक्त है और न तो ग्राह्म-सामग्री की व्यक्तित्द₌हीनता या सार्वभौमरूपता । इस प्रकार रसानुभूति के लिए जिन आधारों की अपेक्षा बताई <mark>जाती है वह</mark> प्रयोगवादी (नई) कविता के लिए अनावश्यक हैं। ऐसे काव्य की अनुभूति के लिए 'रसानुभूति' नहीं 'सहअनुभूति' शब्द का ही प्रयोग समुचित है ।

इस मत की समीक्षा करते हुए एक अन्य समीक्षक का कहना है कि सहअनुभूति में भी तीव्रता आते ही विवेक और व्यक्ति चेतना का लोप हो जाता
है। जहाँ नहीं हो पाता, वहाँ अनुभूति की क्षीणता अधिक होती है, रस चक्क में
उसके लिये भी स्थान है। इसलिए रसानुभूति और सह-अनुभूति में भेद नहीं
है—भेद का आभास मात्र है और सह-अनुभूति रसानुभूति से भिन्न नहीं, वरन्
प्रायः उनकी पूर्व दशा होती है। यह तो पाठक कि के साथ सह-अनुभूति ही
करता है, फिर चूँकि कि कि की अनुभूति प्रायः पाठक की अनुभूति से प्रबलतर
होती है, अतः पाठक की अनुभूति का उसमें विलय हो जाता है।

'सह-अनुभूति' संबंधी प्रस्तुत समीक्षण से मेरा मतभेद है। मतभेद का कारण यह है कि 'सह-अनुभूति' वाले चिंतक काव्यात्मक अभिव्यक्ति के मूल में 'व्यक्ति-गत संवेदन' अथवा 'बुद्धिवृत्ति' को उदग्र मानते हैं। वे मानते हैं कि युग का व्यंजित होने वाला व्यक्तित्व बौद्धिक है। यदि काव्य को वृक्ष-स्थानीय माना जाय तो कविगत बुद्धि वृत्ति को बीज-स्थानीय मानना पड़ेगा । इस प्रकार यदि बीज बुद्धि रूप है तो ग्राहकगत काव्य-वृक्ष की फलात्मक परिणति भी 'बुद्धि' रूप ही होगी। इसलिये चितनगृहीत 'व्यक्ति सत्य' या 'युग सत्य' या 'सत्य' का ग्राहक सजग व्यक्ति व्यक्तित्व-विलयकारिणी भावना में न मग्न होकर उत्तेजित वौद्धिक वृत्ति का अनुभव करेगा। परन्तु काव्य के संदर्भ में अकाव्य से काव्य का व्यावर्तक कवि-गत 'बुद्धिवृत्ति' नहीं प्रत्युत 'भाववृत्ति' है । इस सामान्य मान्यता से ही 'सह-अनुभूति' का संस्थापक अपना प्रस्थान भिन्न कर लेता है। ऐसी दशा में उसको 'सह-अनुभूति' से 'रसानुभूति' में मात्रा का ही भेद मानना युक्तिसंगत नहीं है। जहाँ तक व्यक्ति-संवेदन के कविगत बीज-स्थानीय होने का संबंध है उसका यदि काव्योचित परिष्कार किया जाय तो उसकी रसात्मक परिणति सहज संभव है । प्रगीत मात्र में जो वैयक्तिक अनुभूति (सब्जेक्टिविटी) अभिव्यंजित होती है वह लोकानुभूति में नहीं प्रत्युत प्रेरणाकाल में ही अभिव्यक्त होती है। 'प्रेरणा' का जो स्वरूप बताया गया है उसमें सार्व-भौम तत्वों का समावेश होता है। ऐसे ही सार्वभौम तत्वों से समन्वित वैयक्तिक भाव या वैयक्तिक संवेदन काव्य-वृक्ष के रूप में फैलकर कलात्मक परिणति रस' के रूप में ही करते हैं।

.

# पाँच | पुरातन और अद्यतन साहित्य | ग्रीर साधारण प्रतिमान

not be no schooling of ferrer police augmented the 'rip'

TOURS ON SHORESHE PRODUCT

प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य (काव्य) के मूल्यांकन के निमित्त जब शाश्वत प्रतिमान की वात पूछी जाती है तब कई जिज्ञासाएँ एक साथ खड़ी हो उठती हैं। पहली यह कि साहित्य या काव्य में प्राचीनता और अर्वाचीनता की पहचान अथवा भेदक रेखा क्या है? दूसरी यह कि परिवर्त नशील प्रकृति की मृष्टि मात्र में 'शाश्वत' की बात क्या संभव है? तीसरी यह कि क्या 'शाश्वत' से अभिप्राय 'कविता' और 'अकविता' अर्थात् काव्य और काव्येतर वाङ्मय के भेदक तत्व से तो नहीं है? चौथी यह कि क्या प्रतिमान प्राचीन और अर्वाचीन रुचि से परिचालित काव्य-सृष्टि के मूल्यांकन में मध्यमार्गी भी हो सकता है? इसी प्रकार की और जिज्ञासाएँ और समस्याएँ सम्भव हैं।

यों तो प्राचीनता और अर्वाचीनता दो ऐसे सापेक्ष शब्द हैं जो अविरल प्रवहमान काल के किसी भी खण्ड के लिए प्रयुक्त किये जा सकते हैं, परन्तू वर्तमान संदर्भ में प्राचीनता और अविचीनता की भेदक रेखा मैं विज्ञान और वैज्ञानिक प्रभाव को मानता हूँ। धर्माध्यात्म से आक्रान्त मानस जिस जिस साहित्य का उत्स है, वह प्राचीन और विज्ञान की उपलब्धियों से प्रभावित मानस जिस साहित्य का प्रभूति-स्रोत है, वह आधुनिक। 'सत्य' की अभिन्यक्ति अथवा अभिव्यक्ति के माध्यम से सत्य की तलाश दोनों प्राचीन और आधुनिक का ही लक्ष्य है, पर दोनों की प्रक्रिया, माध्यम और उपकरण भिन्न हैं। 'प्राचीन' सत्य को इन्द्रिय और बुद्धि से परे मानता था-फलतः सुचिन्तित विचार पद्धति, आन्तरिक भावना और लोकातीत तत्त्वों को महत्व देता था जब कि आधुनिक सत्य को इन्द्रिय, बुद्धि और प्रयोगों के माध्यम से जानना चाहता है और तदर्थ समस्त प्राचीन मान्यताओं को वर्जित कर स्वयं नयी जमीन तोड़ता है-कल्पना दर्शन और भावना की जगह यथार्थ ग़ैर-रोमान्टिक भावधारा को महत्व देता है। जहाँ प्राचीन 'भाव' से 'रूप' की ओर आता था, वहाँ अविचीन 'रूप' से 'भाव' की ओर जा रहा है। जहाँ प्राचीन 'राग' के उस्तेजक मूल रूप और व्यापारों की योजना करना अपना कवि-कर्म समझता था, वहाँ आधुनिक 'राग' की अपेक्षा रागात्मक जटिल सम्बन्धों की अभिव्यक्ति पर बल देता है। प्राचीन और आधुनिक दोनों ही अनुभूति को काव्य का मूल उत्स मानते हूए भी आज यह स्वीकार कर रहे हैं कि प्राचीन अनुभूति की बनावट और बुनावट के उपादान और उपकरण सर्वथा परिवर्तित हो गए हैं। इस मूल परिवर्तन के सन्दर्भ में उभयविध साहित्य के लिये अपेक्षित प्रतिमानों की भिन्नरूपता वाली माँग सहज अपेक्षित लगती है।

प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन के लिये तात्कालिक चिन्तकों ने जीवन और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में अपने प्रतिमान निर्धारित कर लिये थे। आधुनिक चिन्तक अभी संक्रान्ति और प्रयोग काल में हैं--ऐसी स्थिति में हैं जहाँ उन्होंने समस्त पुरातन मान्यताओं की वर्जना तो कर दी है, पर सर्जना के नाम पर अभी स्पष्ट नहीं हैं। व्यक्तिवादिता के कोलाहल में कहीं कुछ आता भी है, तो वहाँ ऐकमत्य नहीं लक्षित होता। प्राचीन चिन्तक जीवन मूल्यों को औचित्य में डाल देते थे और औचित्य-गर्भ उपकरणों से प्रतिपाद्य लोकोत्तर आह्लाद (रस) को काव्य का सर्वोत्कृष्ट प्रतिमान मानते थे। आधुनिक चिन्तकों ने नये साहित्य के संदर्भ में प्रतिमान पर इधर जो कुछ सोचा-विचारा है, उससे एक ही प्रतिमान सामने आता है और वह है-यथार्थ की अनुभूति या अनुभूति की यथार्थता । आज के कवि-अकवि का लक्ष्य है--यथार्थ को बेनकाब और नग्न रूप में रखना, हो सके तो नक़ाब पर आक्रोश और नक़ावधारियों पर व्यंग्य करना । ग्राहक की रुचि भी आज यही सोचती है। कलात्मक उपकरण भी अनुरूप-पद्धित से आविष्कृत किये जा रहे हैं। प्रयोगवाद तक शैली पक्ष ही आक्रामक था, आज तो वैचारिक पक्ष भी आक्रामक हो गया है। इस प्रकार मध्यकाल या प्राचीनकाल तथा आधुनिककाल के रचनाकारों की मनःस्थिति और तत्प्रसूत साहित्य के मूल्यांकन की रुचियाँ और प्रतिमान निश्चय ही भिन्न रहे हैं।

उक्त विभिन्न रुचियों से प्रसूत प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य को मूल्यां-कित करने के लिये मध्यममार्ग जैसी तो कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती; हाँ, यह अवश्य है कि कविता और अकविता अथवा काव्य और काव्येतर का भेदक कोई तत्व अवश्य है जिसे हम शाश्वत अथवा अपेक्षाकृत स्थिर प्रतिमान के नाम से कह सकते हैं।

अनुभूति को काव्य का केन्द्रीय तत्व प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही मानते हैं और सामान्य (कवि-अकवि-उभयगत जीवनानुभूति) अनुभूति से कवि की अनुभूति का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि किव की अनुभूति मुखर होती है और तद्भिन्न की सही शब्द के अभाव में गूँगी। वास्तव में जो काव्य के धरातल पर अनुभूति उभरती है—वह अपनी अनुभूति के अनुरूप सही शब्दों में ही उभरती है। इस बात को प्राचीन और अर्वाचीन चिंतक समान रूप से स्वीकार करते हैं। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन ने कहा है—

#### उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्व प्रकाशयन् । शब्दो व्यंजकतां विभ्रद्ध्वन्युक्तेविषयो भवेत् ॥

ध्वन्यात्मक शब्द ही काव्य है और ध्वन्यात्मक शब्द वह है जिसके अतिरिक्त और किसी शब्द से अन्यथा कथमपि अभीष्ट चारुता उत्पन्न न हो सके । दूसरी ओर अकविता तथा अन्य कला सन्दर्भ के लेखक और सर्जक डॉ० श्याम परमार यह कहते हैं कि उनका चित्रकार चित्र बना लेने पर भी शीर्षक के लिये सही शब्द की तलाश करता रहता है और सही शब्द मिल जाने पर अभिव्यक्ति की दिशा में राहत का अनुभव करता है। इस प्रकार प्राचीन और नवीन काव्य का प्रतिमान सही शब्द का प्रयोग मानते हैं। यह एक ऐसा शास्वत अथवा अपेक्षाकृत सही प्रतिमान है जो कविता के साथ-साथ विद्यमान रहेगा।

Countries and its form the first formal of the special of the spec

no and the principal from the factor that are all the court from the

grand a lingua che sa nerva agranda nervi internaria i en la financia. La ringua di cara cara ligra che a crea con lingua crea con il financia con

我们的特殊。不是是这种政策,因为不可可能的。 的现在分词战器

उद्भीब परि प्राप्तिक प्रकार का का का की कि पिता प्राप्तिक प्राप्तिक प्राप्तिक प्राप्तिक प्राप्तिक प्राप्तिक प्र

## छ | आलोचना के नये मान

हिन्दी साहित्य के संदर्भ में (अथवा हिन्दी की नयी किवता के संदर्भ में) जब हम आलोचना के नये मान पर विचार करते हैं तो एक बारगी अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं । पहला यह कि 'मान' से अभिप्राय क्या है ? यह कि 'मान' में 'नया' और 'पुराना' विशेषण क्या डाल देता है ? यह कि 'नया' और 'पुराना' अपनी परिभाषिकता में स्थिर भी हो पाते हैं या अपनी शाश्वत सापेक्षता में अपरिभाषेय ही ठहरते हैं ? क्या 'नया' और 'पुराना' से रहित 'मान' स्ततः भी अपने आप में कोई अर्थ रखता है ? इस रूप में वह शाश्वत है ? जगत् और संसार में क्या कुछ शाश्वत होता भी है और नहीं तो क्या आपेक्षिक स्थायित्व भी उसे नहीं मिल सकता ?

असुपूर्णिक को अन्तर स्वयः सारते हुए क्षेत्रते हैं कि व्यक्ति भी अनुपूर्णि सृष्यं होतो है और सब्द्रियालकी सारी यात्र के अभाग में मूर्ति । यारतम में की मान्य कि सर्वकाल प्रदासन्तर सुन्तर्था हुन्तर्था सुन्तर्था सब्द्री सन्तरी अनुपूर्णि की अनुष्य सब्द्री सन्तरी स

'मान' या 'नया मान' या 'नये मान' का सम्बन्ध जब कविता से जोड़ा जाता है या खास नयी किवता के संदर्भ में 'नये मान' की बात उठाई जाती है तब भी अनेक प्रश्न सिर उठाते हैं। जैसे यह कि क्या किवता से अभिप्राय केवल पद्मबद्ध साहित्य से है ? यह कि किवता के मूल में जब सर्जनात्मक शक्ति निहित रहती है तब 'नवता' या नयापन इसका विशेषण नहीं अपरिहार्य स्वरूप है और जब ऐसी स्थिति है तब किवता में 'नया' विशेषण क्यों ? साथ हिं दूसरा प्रश्न यह कि क्या नयी किवता में 'नया' विशेषण सर्जनात्मकता प्रसूत 'नवता' से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त है ? क्या उसका कुछ विशेष पारिभाषिक अर्थ है ?

प्रश्नाविलयों का तीसरा पर्दा जब अनावृत होता है तब पहली जिज्ञासा यह उठती है कि क्या उन लोगों का प्रश्न सही नहीं है जो 'नई किवता के प्रतिमान' की वात करते हैं ? अथवा उन लोगों के संशोधन का क्या अभिप्राय है जो 'किवता के नये प्रतिमान' जैसे प्रयोग को वर्तमान संदर्भ में अधिक सार्थक समझते हैं ? क्या 'आलोचना के नये मान' शीर्षक से वे सब अभिप्राय ही ध्वितित हैं अथवा उनसे उक्त शीर्षकों से कुछ और भिन्न अभिप्राय भी ध्वितित होता है ? साथ ही 'आलोचना के नये मान' की बात जब उठाई जाती है तब

क्या यह विचारणीय नहीं है कि 'आलोचना के पुराने मान' क्या हैं ? क्या 'पुराने मान' या 'पुराने मानों' की सभी संभावनाएँ समाप्त हो गई हैं जो 'नये मान' की माँग की जा रही है ? अथवा 'पुराने मान' की यिंकचित् संभावनाओं के शेष रहने पर भी कविता के संदर्भ में 'नये मान' की माँग बराबर रहती आई है ? क्या 'मान' का प्रयोग जिस किसी भी कविता नामधारी प्रमेय के के लिए होता है, कविता-धारा की जिस किसी भी प्रवृत्ति के लिए होता है अथवा केवल 'वयस्क कविता' अथवा उस काव्यधारा की प्रवृत्ति-विशेष के लिए होता है जिसकी संभावनाओं ने उपलब्धियों का रूप ग्रहण कर लिया है ?

दार्शनिकों ने बौद्धिक भूमिका पर इस रहस्यमय संसार को विविध रूपों में विभक्त कर दिया है-माता, मान और मेय। यदि बुद्धि से परे भी कोई धरातल है तो वहाँ किन्हीं विभक्त धरातलों की चर्चा नहीं है। जिज्ञासाबु दि का सहज स्वभाव है और इसकी तृष्ति के लिए वह विभिन्नमानों की सृष्टि कर लिया करती है। पर क्या इन मानों के द्वारा वह समस्त प्रमेय को उसकी अतल गहराइयों तक जान पाती है ? अथवा यह कहा जा सकता है कि जहाँ तक जान पाती है वहाँ तक ही किसी वस्तु को प्रमेय कहा जा सकता है ? एक बात और । जब सृष्टि के मूल में किसी अनन्त सर्जनात्मक शक्ति की संस्थिति मानी जाती है तब यह भी मानना पड़ेगा कि प्रत्येक वस्तु अपनी वैयक्तिकता में या तो अमेय है अथवा अपने लिए अथवा वैयक्तिक मान रखती है। जिस प्रकार वैधी सृष्टि के लिए उक्त बातें सही हैं उसी प्रकार काव्यात्मक सृष्टि के लिए भी । यहाँ भी सर्जनात्मका प्रतिभाप्रसूत 'कविता' 'नवता' से संविलत होने के कारण जहाँ एक ओर प्रातिस्विक प्रतिमान रखती है वहाँ दूसरी ओर कविता के शब्दात्मक रूप की अपनी अभिधेयता में एक सीमा रखने के कारण, अभिन्यग्य की दृष्टि से अपने न्यक्त आकार में सदैव अधूरी होने से, अन्यक्तता के साथ अमेय भी है। बात यह है कि शब्द सर्वसंवेद्यांश को तो यथाकथंचित प्रकट कर भी सकते हैं पर जितना कवि का अपना होता है उसकी 'व्यंजना' ही हो सकती है, संकेतित ही जा सकती है। अतः हर रचना अपनी अतल गहराइयों के साध अमेय है, तथापि व्यवहार चूं कि अच्छे बुरे का विचार करके चलता है और वह मान-सापेक्ष है, अतः 'मान' की आवश्यकता और उसकी चर्चा हो जाती है।

यह भी सही है कि परिवर्तनशील अतएव नवनवायमान जगत् में को चीज सतह पर स्थिर और शाश्वत नहीं है, अतः 'मान' भी, जो सृष्टि का अंग है, शाश्वत और स्थिर नहीं हो सकता। शाश्वत और स्थिर जो नहीं है, जो परिवर्तनशील है उसका 'नया' और 'पुराना' होना सर्वथा संभव है। यहाँ एक समस्या और भी जन्म लेती है और वह यह है कि 'नया' और 'पुराना' 'मान' के विशेषण हैं कि नहीं ? 'नया' और 'पुराना' जैसे विशेषणों से रहित 'मान' विशेष्य का न शाश्वत सही, अपेक्षाकृत स्थायी ही सही, कोई अर्थ कविता के संदर्भ में संभव है या नहीं ?

वास्तव में जिस प्रकार 'कविता' का 'नया' और 'पुराना', 'क्लैसिकल' या 'रोमैण्टिक' जैसे विशेषणों से शून्य होने पर भी कोई अर्थ होता है, उसी प्रकार 'मान' का भी अपना विशेषणशून्य रूप हो सकता है। वास्तव में वस्तुगत—प्रमेय वस्तुगत—जब कोई अश उभार पर होता है, तब विशेषण के प्रयोग द्वारा वह विशेषता लक्षित की जाती है। पर जब सामरस्य या संतुलन की स्थिति आ जाती है तब विशेषणों के प्रयोग की अपेक्षा नहीं होती। कविता जब अपने भावावेग में बाह्य उपकरणों के बाँध तोड़ फोड़कर दहक उठती है, तब 'रोमैण्टिक' विशेषण की सार्थकता मानी जाती है और जब बाह्य उपकरणों सामरस्य-विधान में कुछ कहना शेष रह जाता है, भीतरी उफान उपेक्षित रह जाती है तब उसके बाह्य माज-मजाव को ध्यान में रखकर 'क्लैसिकल' विशेषण का प्रयोग अर्थवान् होता है। पर एक अवस्था वह भी संभव है जब भीतरी मनोदशा समस्त बाह्य उपकरणों की सहज समंजस संघटना में निरायास अभिव्यक्ति पा पाती है, तब उस कविता में कौन सा विशेषण लगाया जाय ? क्या उसे केवल 'कविता' नहीं कहा जा सकता?

इस प्रकार जिस तरह केवल 'कविता' संज्ञा का प्रयोग सार्थक है उसी प्रकार केवल 'मान' या 'प्रतिमान' शब्द का भी प्रयोग अर्थकान् है। ध्यालोक -कार आनन्दवर्धन ने कदाचित् केवल 'मान' की बात कहते हुए ही लिखा है—

### उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्। शब्दो व्यंजकतां बिभ्नद्ध्वन्युक्तेर्विषयो भवेत्।।

कविता वह शब्द है जिसे 'ध्विन' कहते हैं और ध्विन वह शब्द, अर्थ, अर्थ-व्यापार अथवा इन सबकी समिष्टि है जिससे भिन्न और किसी शब्द, अर्थ, व्यापार और इनकी समिष्टि से अभीष्ट सौन्दर्य की व्यंजना न हो सके। अभिव्यक्ति का यही सफल रूप है। कविता अपने इस रूप में 'कविता' है और उक्त निकष अपने इस रूप में विशुद्ध 'मान।' इस विशुद्ध मान का उल्लेख भिन्न देश और काल के साहित्यचिन्तकों ने किया है। ऐसे ही समर्थ और ध्वन्यात्मक शब्द की आत्माभिव्यक्त्यर्थ खोज कविता कही गई है। वास्तव में जिस प्रकार कविता

एक सांस्कृतिक चेतना की समुचित मानसदर्गण पर टकराकर छिटकी हुई आकर्षक प्रभा है, उसी प्रकार आलोचना के मान भी स्वस्थ अन्तस् से सहज फूटी हुई वैचारिक विभा हैं । दोनों ही अपनी परम्परा की तह से सबको व्याप्त कर फूटनेवाली किरणें हैं। एक पश्चिमी समीक्षक लोठार लुत्से ने भी कहा है-'पाश्चात्य साहित्यालोचना में यह दृष्टिकोण व्याप्त प्रतीत होता है कि (कविता में) एक भी अक्षर न तो अतिरिक्त हो और न बेसुरा।' १६५६ में अपनी मृत्यु से पूर्व गाटफीडवान ने भी ठीक कहा था-'यदि अन्त में मेरे चार-पाँच पद भी जीवित रहे, तो मेरा जीविन व्यर्थ न होगा। रे स्पष्ट है कि ये चार-पाँच शब्द ध्वन्यालोककार के शब्द में 'ध्वन्यात्मक' शब्द ही हैं, कविता के लिये प्रयुक्त सटीक शब्द हैं। नकेनवादियों ने भी 'प्रपद्यवाद' में कहा है कि हर एक चीज का एक सही नाम होता है। प्रतीकवादियों का अपने जीवन में एक सटीक प्रतीक खोज लेना एक ध्वन्यात्मक शब्द ही खोज लेना है। और तो और, हिन्दी में अपेक्षाकृत नव्यतम साहित्यक आन्दोलन 'अकविता' के पक्षधर भी अनायास इसी उक्त मान की बात कह गये हैं। उनकी धारणा है कि 'अकविता' शब्द क्रमशः हिन्दी में उभरते हुए नये अन्दाज के लिए पारिभाषिक शब्द हो चला है (अकविता और कलासंदर्भ)। इन्होंने अपने 'अतर्क्य विसंगतियों का संतुलित विक्षोभ' शोर्षक एक निबन्ध में कहा-'मेरा एक दोस्त है। चित्रकार है। वह अपनी कृतियों के शीर्षकों के सम्बन्ध में सबसे अधिक सोचता है। चाहे शीर्षक लम्बी पंक्तियों में हों, लेकिन हों एकदम पकड़नेवाले-बोल्ड, अनगढ़ और बोलते हए। उपयुक्त शीर्षक मिल जाने तक उसकी परेशानी खतम नहीं होती । प्रकट है, वह अपने चित्रों को लोक भाषा के निकट लाकर कुछ अधिक संप्रेषित करना चाहता है, लेकिन इतना अधिक भी नहीं कि दर्शकों के लिए कुछ शेष न रहे। अभिव्यक्ति के लिए अपने माध्यम का उपयोग करने के पश्चात वह अपने अव्यक्त को अतिरिक्त व्यंजना द्वारा विस्तार देना चाहता है। शोर्षक की यह तलाश वस्तृतः उसके पक्ष में कविता की तलाश है। आधुनिक कविता की कठिनाइयाँ भी कुछ इसी तरह से अभिव्यक्तिसम्बन्धी संकट से बद्ध हैं।' (वही)। इस लम्बे उद्धरण की अंतिम कुछ पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं। लगता है, जो 'मान' सम्बन्धी काव्यचेतना किसी दिन आनन्द-वर्द्धन के चिन्तन-फलक से टकराकर व्यक्त हुई थीं, वही आज उक्त उद्धरण कार के चिन्तनफलक से भी। उक्त उद्धरण में उपयुक्त शब्द की तलाश कविता की तलाश है। यह उपयुक्त शब्द ही 'कविता' का 'मान' है। आधुनिक चिन्तक भी जब अर्थवान् शब्द के माध्यम से आवयविक अखंडता के निर्वाह की बात करते हैं, तो 'ध्विन' की ही बात करते हैं। जब अज्ञेय यह कहते हैं कि जहाँ सर्जनात्मक शक्ति होगी वहाँ संकीणता नहीं होगी, तब वे भी कुछ 'उपयुक्त' की ही बात करते हैं।

निष्कर्ष यह कि जिस प्रकार 'किवता' निर्विशेषण होती है, उसी प्रकार 'मान' भी निर्विशेषण हो सकता है। शाश्वत कहने में हिचक हो भी, तब भी इस उक्त रूप को अपेक्षाकृत स्थिर और स्थायी कहने में कोई सकीच नहीं है। इस प्रसंग में दूसरा प्रश्न यह है कि 'मान' में 'नया' और 'पुराना' विशेषण क्या डाल देता है? ये विशेषण अपनी आपेक्षिकता में चिरन्तन हैं या संदर्भ-विशेष में तात्कालिक और पारिभाषिक भी। वास्तव में दोनों ही बातें सही हैं। 'नया' और 'पुराना' अपनी आपेक्षिकता में चिरंतन भी हैं और सामयिक अतएव पारिभाषिक भी। वर्तमान संदर्भ में 'नया' और 'पुराना' विशेषण एक विशेष अर्थ 'किवता' और 'मान' के साथ जुड़कर देने लगा है।

वर्तमान संदर्भ में 'नयी कविता' में 'नया' शब्द उसे 'पुराने' से एक विशेष अर्थ में भिन्न करता है। इसी नयी कविता के लिये 'नये मान' की बात उठ खड़ी हुई है। वास्तव में यह था 'विज्ञान' है जो 'नये' और 'पुराने' की रेखा खोंच रहा है। प्राचीन भारतीय (समस्त विश्व) मानस धर्माध्यात्म की भावना से आक्रान्त था। परिणाम यह था कि वहाँ यथार्थ, वर्तमान, जगत् और व्यक्ति की तुलना में आदर्श, भविष्य, परलोक, अदृष्ट और सामान्य का महत्व था। भारतीय दर्शक और किव की दृष्टि एक परम्परागत बौद्धिक धारणा और आदर्श से अनुप्राणित थी—रंगी हुई थी। विज्ञानाक्रान्त भारतीय मानस यथार्थ, वस्तुनिष्ठ वर्तमान जगत्, दृष्ट व्यक्ति को महत्व देने लगा है। आज का द्रष्टा यह प्रयत्न करता है कि वह विज्ञान की उपलब्धियों से अवगत हो । होता भी है। फलतः उसकी दृष्टि यथासंभव परम्परागत वौद्धिक धारणा तथा आदर्शों से मुक्त होती है - नये रागात्मक सम्बन्ध आजित करती है। जहाँ पुराने द्रष्टा का जीवन जीवन पर अधिक बल न दिये जाने के कारण बहा सीधा, सरल और भावजगत से सीधे संबद्ध होता था, भाव और व्यंजक व्यापार में कोई अवरोध नहीं डालता था, दुहरा, खंडित और जटिल रूप नहीं धारण करता था, वहाँ आज का जीवन बिल्कुल बदल गया है। आज का जीवन बौद्धिक जटिलताओं से आक्रान्त हो गया है। यही कारण है कि जहाँ पहले राग का महत्व था वहाँ आज की कविता में रागात्मक सबन्धों का महत्व हो गया है। जहाँ पुरानी कविता में 'भाव' से 'रूप' की ओर प्रयाण था, वहाँ आज 'रूप' से 'भाव' की ओर जाना मुख्य हो गया है - यद्यपि वहाँ साधारणी-

करण की समस्या है। आज वह सारी कविता पुरानी कही जाती है जहाँ तटस्थता नहीं, जहाँ ग़ैर-रोमाण्टिक भाव नहीं, जहाँ खुरदरा यथार्थ नहीं, जहाँ परम्परागत बौद्धिक धारणाओं से उन्मुक्ति नहीं, जहाँ अनारोपित और प्रामाणिक यथार्थ अनुभूति नहीं । छायावादी और प्रगतिवादी धाराओं तक ये स्थितियाँ नहीं थीं। वहाँ रोमाण्टिक भावभूमि थी, विषयपरकता थी, आदर्श और परम्परागत बौद्धिक धारणाएँ थीं । फलतः 'नयों' ने इसका विरोध किया और ग़ैर-रोमाण्टिक भावभूमि की उपलब्धियों की ओर बढ़े। 'प्रयोगवाद' में अभिनव वैयक्तिक धड़कनों को, यथार्थ की प्रामाणिक अनुभूति को बाँधने का प्रयत्न होने लगा। कथ्य की अपेक्षा कथनभंगी या शिल्प का प्रयोग ही महत्वकर हो गया। शिल्प-प्रयोग का अतिरैक 'प्रपद्मवाद' से होता हुआ शिवचन्द्र शर्मा के 'नग्न भोगवाद' तक चला गया और अनेक प्रकार की बौद्धिक अथवा वैचक्षण्य की व्यंजक भंगिमाओं तक गया। १६४३-५० तक के इस प्रयास के बाद 'नयी कविता' (५०-५६) में कथ्य और कथन उभयविध पक्षों का संतुलन आने लगा। इस कालावधि के मुख्य स्तंभों में परवर्ती युवा कवियों ने, जो मध्यवर्गी चितक हैं, जो वर्तमान की विसंगतियों में निरन्तर तनाव का जीवन जी रहे हैं, आदर्शों के पाखण्डी मशीन में पिस रहे हैं, परम्परागत बौद्धिक धारणाओं का खोखलापन देख रहे हैं, जीवन के धड़ाकों की चोट को सह सकने के लिये जिनके पास कोई जमीन नहीं है, हर क्षण अन्याय के नग्न ताण्डव ने हर दृष्ट सत्ता से जिसका विश्वास उठा दिया है, समाज, धर्म, राजनीति-हर क्षेत्र की पण्डेबाजी से जो ऊब गया है, जो हर क्षण आत्महत्या के कगार से विवश होकर लौट आता है, जो हर क्षण आक्रोश से भरा है, व्यंग्य भी खुलकर करने में जिसे अवरोध है, उसने देखा कि 'नयी कविता' भी भावावेग, बौद्धिक धारणाओं और रहस्यवादी जैसी पुरानी-पुरानी प्रवृत्तियों का शव ढो रही है। इसलिये इस लेखन को 'प्रच्छन्नव्यतीतलेखन' कहा गया, छायावादियों से कहीं गहरे समझौते की बात लक्षित की गई और जमाने के नये अंदाज को मुखर करने वाली कविता 'विच्छेद' के रास्ते 'खुरदरे यथार्थ' की लीक से नये आवेग में बढ़ी। 'नयी कविता' में रिस रिस कर बहने वाली आविष्ट भावधारा ने 'नवगीत' में तथा 'खुरदरे यथार्थ' की धारा अपने निराविल रूप में 'अकविता' तथा युवापीढ़ी के अन्यविध आक्रोशग भी कविता के द्वारा प्रकट हुई। इस प्रकार वर्तमान संदर्भ में 'नया' और 'पुराना' विशेषण 'कविता' में उभरने वाले युगोचित रंग को सामयिक और पारिभाषिक रूप में व्यक्त करता है। बीच-बीच में कतिपय प्रवृत्तियाँ

भोर के अध्यात्म से हटकर किसी शास्त्रत ज्योति का ढक्कन खोलने में प्रवण लक्षित हुई हैं।

इसी संदर्भ में कभी किसी ने 'नयी कविता के प्रतिमान' की वात कही थी और कहा था कि जो 'अनुभूति' समान रूप से कविता की अन्तरात्मा रही है, 'नयी कविता' के उपयुक्त बन रहे भावमानस में उसकी बुनावट और बनावट ही भिन्न थी। दूसरे जहाँ कभी रसात्मकता की दृष्टि से विभावचित्रण किव-कर्म का क्षेत्र था, वहाँ अब नये और जिटल रागात्मक सम्बन्ध किवन में क्षेत्र बन गया। जहाँ पहले अनुभूति की निविशेषता पर बल था, वहाँ वह सिवशेष, दृष्टितम्मक, खिष्डत, विसंगत एवं असमाहितमयी होने लगी थी। इसीलिये परम्परा से चले आते हुए प्रतिमानों का विरोध होने लगा। यह कह दिया गया कि नई किवता के सौन्दर्य के संघटक उपकरणों का या स्वयं सौन्दर्य का विश्लेषण अब पुराने संस्कारों, रुचियों, दृष्टियों और प्रतिमानों से नहीं हो सकता। जहाँ एक ओर पुराने प्रतिमानों का आँख मूंदकर निषेध किया जाने लगा, वहीं दूसरी ओर पुराने प्रतिमानों का प्रतिक्रिया में आँख बंद कर समर्थन भी होने लगा। वास्तव में 'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने'——ज्ञान ही नहीं, संग्रह और त्याग के लिये पहचान भी होनी आवश्यक है।

पता नहीं किस बुद्धिमान ने यह बता दिया कि भारतीय आचार्यों ने सब प्रकार की कविता का एक मात्र प्रतिमान 'रस' माना है। अभिनवगुप्त और आनन्दवर्द्धन ने यह कहीं नहीं कहा कि चाहे जैसी भी कविता हो, चाहे उसका समुच्छलन किसी भी प्रकार की काव्योचित मनोदशा का हो, चाहे वहाँ -कवि-प्रतिया-संरंभगोचर तत्व कुछ भी हो, रसात्मक प्रतिमान को ही लागू किया जाना चाहिए। आनन्द और अभिनव ने यह कहा है कि पहले रचना का निर्मल अंतस् से इस गहराई और बारीकी के साथ ग्रहण होना चाहिए कि ग्राहक उस रचना में कविप्रतिमा-संरमगोचर तत्व को पकड़ ले - यह निर्भान्त रूप से पकड़ ले कि सौन्दर्य संघटक तत्वों में कौन प्रवल है, उनके नियोजन में कैसी तारतिमकता है और फिर सारे सूत्र उधाड़ कर रख दें, उस रचना का निकष उसी से निकाल कर रख दें। वास्तव में जिस प्रकार सही शब्दों का सिन्नयोजन करने वाला कवि वा महाकवि दुर्लभ है, उससे अधिक दुर्लभ उनकी रचनाओं की समस्त नियोजनप्रक्रिया और सौन्दर्य का तटस्थ द्रष्टा भी दुर्लभ है। समीक्षक का कार्य तो इससे भी आगे बढ़कर सब कुछ कह देना है। हाँ, तो कहा जा रहा था कि भारतीय आचार्यों ने यह अवश्य कहा है कि रसात्मक प्रतिमान सर्वथा उत्तम और प्रशस्त प्रतिमान है, पर यह कहीं नहीं कहा है कि

सब जगह अंधा होकर उसे ही लागू करना चाहिए। यदि रसात्मकता के लिए समाहिति, सामंजस्य और सर्वाङ्गीणता अपेक्षित है, तो अज्ञेय के शब्दों में यह मानना पड़ेगा कि वह स्थिति केवल सर्जनात्मक शक्तिप्रसूत एकाङ्किगितावर्जित रचना में ही होगी। अज्ञेय ने कहा है कि जहाँ सर्जनात्मका शक्ति होती है, वहाँ एकाङ्गिता नहीं होती । निष्कर्ष यह है कि रसात्मक प्रतिमान प्रशस्त और उत्तम अवश्य है, पर उसे सर्वत्र प्राचीन कविता में भी-नवीन तो नवीन ही है-लागू नहीं किया जा सकता। यद्यपि 'रसेनैव सर्व जीवति काव्यम' कहने वाले अभिनव भी रस को काव्य की आत्मा मानते हैं, तथापि उसके व्यंजक उपकरणों की तारतिमकता तथा अन्यथाभाव से अनुभूयमान चमत्कार का या सौन्दर्य का निमित्त और भी कुछ हो सकता है। आत्मा (रस) अपनी समस्त सौन्दर्योचित संभावनाओं में तभी व्यक्त होता है जब अनुरूप और सटीक व्यंजक उपकरणों की लपेट में आता है । अन्यथा वह रह कर भी प्रकाशित नहीं होता । रसात्मक प्रतिमान की नयी व्याख्या आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने की, जहाँ अंशतः मनोविज्ञान और अंशतः उनकी निजी रुचियों ने शास्त्रीय परम्परासम्मत रसस्वरूप से शुक्ल सम्मत रस स्वरूप को एक भिन्नरूपता ही प्रदान की । शुक्ल जी ने रसात्मकता को एक उदात मनोदशा माना और उसकी व्याप्ति व्यवहार जगत तक कर दी। संभव है, यह धारणा कि रसात्मक प्रतिमान पर कविता सात्र कसी जा सकती है, शुक्ल जी के प्रभाव से ज्यादा जोर पकड़ गई है। पक्ष में बहुत सारे तर्क भी दिये जाते हैं और दिये जा सकते हैं। उसका यहाँ कोई प्रसंग नहीं है।

परवर्ती चिन्तकों ने 'नयी किवता के प्रतिमान' की जगह 'किवता के नये प्रतिमान' शीर्षक से विचार करना कहीं उपयुक्त समझा है। श्री नागेश्वर लाल ने कहा है— 'नयी किवता के प्रतिमानों की अपेक्षा किवता के प्रतिमानों पर विचार करना अधिक अर्थपूर्ण है। यह जानी हुई कहानी है कि जब जब किवता बदलती है, उसके प्रतिमान भी बदलते हैं। पर यह नहीं कि नये प्रतिमान अभी-अभी बनी हुई किवता के लिये ही होते हैं। वस्तुतः वे किवता के समस्त रिक्थ के लिये होते हैं। उनके आधार पर नया युग अपनी किवता का तो मूल्यांकन करता ही है, पूर्वजों की किवता का भी फिर से मूल्यांकन करता है और इस तरह उसे नये संदर्भ में गृहीत करता है।' इन शीर्षकों की जगह यदि 'आलोचना के नये मान' शीर्षक रख दें तो बिना किसी वक्तव्य के अभीष्ट अर्थ मिल जायगा। इसीलिए प्रस्तुत शीर्षक रखा गया है।

श्री नरेश जी के इस मंतव्य से कि आलोचना के मानदण्ड काव्य के क्षेत्र से बाहरन आकर काव्य में से ही निकलेंगे (कविता और हिन्दी कविता पृ० ४१), कीन असहमत होगा ? और असहमत नहीं होगा तो 'नई कविता' की ऑजत विशेषताओं या उपलब्धियों को ही ध्यान में रखकर नये प्रतिमान निर्धारित किये जा सकेंगे। अजित अथवा सहजात अनेकानेक विशेषताओं में सर्वप्रथम उल्लेख्य विशेषता है यथार्थ की अनुभूति की यथार्थता। वर्तमान संदर्भ में 'नये' और 'पुराने' के जिस विज्ञान को भेदक स्रोत के रूप में पहले कहा जा चुका है, उसने आज के नये किन में परम्परागत बौद्धिक धारणाओं और आदशों से मुक्त वस्तुमुखी यथार्थ को निजी चेतना के संदर्भ में अनुरूप कलात्मक उपकरणों के माध्यम से अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। 'नई कविता' के आठवें अंक में श्री नागेश्वर लाल और प्रमोद सिन्हा दोनों ने 'यथार्थ अनुभव' की प्रतिमानता समर्पित की है। इस संदर्भ में आधुनिक कविता ने जिस मानक प्रतिमान की स्थापना की वह 'यथार्थ से सम्बन्धित है। अर्थात् आधुनिक या नई कविता की विशेषताओं के भीतर से निकलने वाला प्रतिमान इतना व्यापक हो, कि वह नई कविता के साथ-साथ पूरी काव्यपरम्परा का पुनर्मृत्यांकन कर सके।

'यथार्थ' एक ऐसा व्यापक अर्थ है जिसकी कुक्षि में नई किवता की तमाम विशेषताएँ निहित हैं। 'यथार्थ' में अतीत और भविष्य की अपेक्षा वर्तमान पर और अन्तर की अपेक्षा वाह्य प्रत्यक्ष जगत् पर अपेक्षाकृत ध्यान अधिक केन्द्रित रहता है। 'यथार्थ' में वस्तुमुखीनता होने के कारण परम्परागत बौद्धिक धारणाओं और आदर्शों से इसे अनरंगा रखा जाता है, पर इसका अभिप्राय यह नहीं कि इस यथार्थ दर्शन के मूल में कोई बौद्धिक प्रबुद्धता नहीं होती। बौद्धिक प्रबुद्धता के अभाव में यथार्थ की अनुभूति निरर्थक संवेदनाओं का पुंज वनकर रह जायगी। यह बुद्धिगत प्रबुद्धता विज्ञान की उपलब्धियों पर आधारित है। विज्ञान की इन उपलब्धियों को आत्मसात् कर जिसने उसे जीवन दृष्टि नहीं बनाया, जगत् से संपर्क उस दृष्टि पर आधारित नहीं किया, नये रागात्मक संबंध अजित नहीं किये, वह किव कहाँ तक नया है—कहना किठन है। वैसे दूरे, पिचके, जमाने की अनुभूतियाँ निसर्गतः कहीं व्यक्त हो सकती हैं। अथवा उपर्युक्त प्रक्षिया नये मानव में अनायास भी घटित हो सकती है।

'नयी कविता' में जो भी प्रवृत्तियाँ आई हैं, सब प्रामाणिक ययार्थ ही हैं यह कहना कठिन और विवादास्पद है। संभव है उनमें बहुत सी ओढ़ी हुई हों, बहुत फैंशन के नाम पर हों, और बहुत सी अनुकरण के नाम पर आ गई हों। किसी भी चीज को मूल्यवान बनाती है निष्ठा अथवा ईमानदारी और यह आती है—प्रत्यक्ष अनुभव के तले से । वैज्ञानिक साधनों के कारण सारा संसार देश काल के व्यवधान को दूर कर नजदीक अवश्य आ गया है फलतः एक जगह की घटना या दुर्घटना का असर सर्वत्र पड़ेगा—यह अवश्य है कि उसकी तारतिमकता में अन्तर होगा ही । दो भीषण युद्धों की जिस भयावह मृत्यु की विभीषिका का साक्षात्कार और तज्जन्य अनुभूतियाँ सीधे उन युद्धित्यु लोगों ने की होगी, यह हमारे लिये कल्पना की ही वस्तु हो सकती है । हर क्षण में सब कुछ भोग लेने की जितनी तीच अनुभूति उनमें घटित होगी, अपनी नश्वरता और लघुता का बोध जिस तीव्रता से उसमें रहा होगा, हमारे लिए संभव नहीं है । इन परिस्थितियों में उत्पन्न जीवनदृष्टि भी हमारे लिए सहज उधार ली हुई वस्तु है । अभिप्राय यह है कि ऐसी ग़ैर-ईमानदार वृत्तियों से छनकर अनुभूत यथार्थ अपनी जिन विशेषताओं को लायगा वही महत्व का होगा ।

हमारा देश लोकतांत्रिक देश है, जो भौतिकता की प्रतिस्पर्दा में बढ़ते हुये संसार के बीच अर्थ और विज्ञान की प्रगति में पिछड़ा हुआ है, फलतः हर स्तर पर अनिश्चय का अनुभव कर रहा है। उसकी आयित अथवा भविष्य पंगु है। अपनी सांस्कृतिक विरासत को सम्हाल कर चलने के लिए अपेक्षित जो मार्ग था, जिस बौद्धिक एहसास और आत्मिक बल की अपेक्षा थी, वह सब कुछ छोड़ चुका है। उसकी जातीय वृत्ति कुछ और है और वर्तमान जीवन प्रणाली कुछ और। इस प्रकार वह दिसंगति तथा विडम्बना का जीवन जी रहा है, संदर्भहीन हो रहा है, शासन, समाज और अर्थहीन के पहियों में पिस रहा है। सर्वत्र व्यवस्था की आशा और अव्यवस्था की उदग्र यथार्थ स्थिति कुछा, आक्रोश, त्रास, अनास्था को भावना पैदा कर रही है। मध्यवर्गीय चिन्तक नया मानव इन अनुभूतियों के बीच से, यथार्थ के बीच से गुज़र रहा है। इस प्रकार इन सबको आत्मसात करने वाला 'यथार्थ' आज की कविता की अन्तरात्मा बन गया है। साहित्य दस्तावेजी प्रवृत्ति की ओर बढ़ रहा है।

निष्ठापूर्वक अनुभूत यथार्थ की अभिव्यक्ति तभी मूल्यवान हो सकती है जब उसका 'अर्थ' होगा। व्यापक रूप में 'अर्थ' का तात्पर्य उस संदर्भ में 'सर्जनात्मकता' ही है। यह सारा आक्रोश, कुंठा, संत्रास, अनास्था, घुटन, टूटन भी मूल्यवान हो सकते हैं, यदि इनके मूल में सर्जनात्मकता है। सर्जना की चिरन्तन प्रक्रिया में हास और विघटन भी उपादेय हैं। और अधिक दार्शनिक गहराई में उतरकर देखें तो विघटन का एक अनिवार्य और अविच्छेद्य पक्ष है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में ईश्वर जो सतत 'पंचकृत्यकारी'

(सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह) कहा गया है, वहाँ भी यही अभिप्राय है। अस्तु, इस संदर्भ में इतना ही कहना है कि यदि जीवन की ज्वालामुखी से सहज उच्छिलित यथार्थ अनुभूतियाँ सर्जनात्मकता के सन्दर्भ में सांस्कृतिक विकास की कड़ी बनकर अभिव्यक्त होती हैं तो वे भी मूल्यवान हैं। अन्यथा सभी नपुंसक फलता निरर्थक और मूल्यहीन हैं।

ऊपर काव्य के अन्तःपक्ष अर्थात अनुभूति की यथार्थता की मूल्यवत्ता का उल्लेख चेतन स्तर पर सांस्कृतिक विकास की अनिवार्य शृंखला के संदर्भ में किया गया है। इस संदर्भ में मुझे श्री रमेशचन्द्र शाह की कितपय पंक्तियाँ स्मारण में आती हैं, जिन्हें 'किवता के नये प्रतिमान' संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने कहा है—'एक ओर एतद्देशीय ऐतिहासिक, सांस्कृतिक बोध की गहराई तथा दूसरी ओर किव की ज्ञानसंवदनात्मक चेतना की वैश्वक प्रतिश्रुति—इन दो तत्वों के सार्थक, सुदीर्घ, सर्जनात्मक संघर्ष, संतुलन की साधना को हमारी किवता के अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतिमान के रूप में पहचानना परमावश्यक हो हो जाता है।'श्री नन्ददुलारे बाजपेयी ने 'धर्मयुग' में 'नयी किवता' पर लिखे गये अन्तिम चार निबन्धों में 'नयी किवता' की उपलब्धिस्वरूप विभिन्न कृतियों को आधार बनाकर यह निष्कर्ष निकाला है कि उक्त धारा की आलोच्य कृतियाँ राष्ट्रीय सांस्कृतिक गहराइयों की ओर उन्मुख हैं।

ऐतिहासिक सांस्कृतिक बोध की गहराइयाँ और ज्ञानसंवेदनात्मक वैश्विक प्रतिश्रुति के संदर्भ में जब 'यथार्थ' को नयी किवता की अन्तरात्मा के रूप में एक नये प्रतिमान की दृष्टि से चिंचत किया जाता है तब 'यथार्थ' का अर्थ केवल जैसा कि प्रमोद सिन्हा ने कहा है—'यथार्थ माने जो कुछ भी प्रत्यक्ष जगत् में अपनी सत्ता रखता है'—ठीक नहीं है। यथार्थ केवल व्यक्त या विज्ञान-स्वीकृत तथ्यों का ही वह (यथार्थ) मानव चेतना के सम्पूर्ण और समग्र स्वरूप का आकलन क्यों न करें ? यूरप में जब कभी 'यथार्थ' वैज्ञानिकता की सीमित पगडण्डी पर पहुँचा है, तब-तब दूसरी दिशाओं के भी प्रयोग हुये हैं। साहित्य में किसी ख़ास 'वृष्टि' और 'वाद' की अपेक्षा अनुभव मात्र को महत्ता देनी चाहिये। ऊपर जिस समग्र मानवीय चेतना की बात कही गई है, वह 'वाद' और 'वृष्टि' विशेष के स्थान पर किव के निजी अनुभव तथा उसकी अपनी साधना से सम्बन्धित है। निष्कर्ष यह कि 'आधुनिकता बोध' को उसकी राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना तथा अन्यविध अनुभवों से काटकर देखना और उतने को ही महत्वपूर्ण समझना साहित्य के क्षेत्र में संकीर्णता लाना है।

उपर्युक्त विशेषताओं से संवलित अनुभव—यथार्थं अनुभव—निश्चय ही नका-रात्मक और ध्वंसमुखी न होकर रचनात्मक होगा।

काव्य के साथ साथ यथासंभव कलन-शैली का अविच्छेद्य संबंध है। 'कथ्य' से रंगीनी हटाने के साथ-साथ यथासंभव कथन-शैली से भी उसे हटना पड़ा । 'कथ्यगत' अविश्वसनीयता और अशुद्धियाँ कथ्य को हटाने के साथ-साथ शैलीगत भी उसे हटाना पड़ा । आभिजात्यवाद एवं स्वच्छंदतावाद के दौरान कव्यशैली में भी 'कल्पना' और तज्जन्य 'अतिशय' का सन्निवेश किये जाने पर अधिक बल दिया जाना था । अरस्तू ने भी Strange words पर अधिक बल देने की बात कही है । 'लोकोत्तरता' या 'अतिशय' को 'वर्णना' में अत्यावश्यक माना जाता था और तभी 'वर्णना काव्यमुच्यते' कहा जाता था। नयी काव्यधारा में भी कहा गया है कि काव्य भाषा की संभावनाओं का अनुसंधान है, क्योंकि काव्य देखे हुये का स्थापत्य है और यह स्थापत्य भाषा में होता है। डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी भाषिक सर्जनात्मकता की बात की है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि अर्थशून्य भाषा नहीं होती, अतः सर्जनात्मकता का सम्बन्ध केवल भाषा के शब्दपक्ष से ही नहीं है; फिर भी कथ्यपक्ष देखा हुआ अर्थात् अनुभव किया हुआ होता है फलतः संघर्ष करना पड़ता है—खोज करनी पड़ती है, अनुरूप अभिव्यक्ति देने के लिये अपेक्षित उपकरणों की । इसीलिये वह कभी-कभी महत्व पा जाता है। इस नव प्रस्थान में जिस प्रकार ग़ैर-रोमाण्टिक भूमि में काव्योचित संभावनाओं को उभारने का प्रयत्न हुआ, उसी प्रकार वर्णन में 'अतिशय' या 'उहा' की सरणी छोड़कर स्वयं में शब्द-सामर्थ्य की खोज की गई । काव्य के अनुरूप शब्दनिष्ठ ध्वनिमत्ता और अर्थवत्ता की दिशा में बहुत ही सफल प्रयोग हुये हैं। नये, ताजे और उपयुक्त प्रतीकों की एक अच्छी राशि इस धारा ने दी है। अन्ततः जब यह तथ्य स्वीकार्य ही है कि शब्द अर्थ निरपेक्ष और अर्थ शब्द निरपेक्ष साहित्य में नहीं रह सकता, साथ ही जब यह निश्चय है कि जहाँ प्रतिभा रहती है वहाँ एकांगिता नहीं रहती, तो वयस्क कविता के प्रतिमान का विचार कथ्य और कथनशैली के खानों में बाँटकर नहीं किया जा सकता । अतः सही और सार्थक प्रतिमान के रूप में तो ध्वनिकार की ही बात स्वीकार करनी पडेगी।

a file of the assertation is supplied to

### सात वर्तमान साहित्य और आस्था

多量

वर्तमान साहित्य वर्तमान चेतना की अभिव्यक्ति है और दर्तमान चेतना विज्ञान और वैज्ञानिक संदर्भ की उपज । विज्ञान सत्य की खोज में दस्तुमुखी प्रयोग और परीक्षण में प्राप्त तथ्यों की बौद्धिक संगति विठाता है और व्याव-हारिक वर्तमान चेतना उन्हें मानकर अपना जीवन यापन करती है, अपने विश्वास और घारणाएँ वदलती है—मान्यताएँ निर्मित करती है।

िरीतामानी है संस्थित अनुसार अस्ताति है

विज्ञान धर्माध्यात्म प्रस्तुत मान्यताओं को अस्वीकार करता है, पर अंतिम सत्य के प्रति जिज्ञासु रहता है। वर्तमान व्यावहारिक चेतना धर्माध्यात्म प्रसूत परंपरागत मान्यताओं को तो अस्वीकार करती है, पर अंतिम सत्य की तलाश में उसकी इस प्रकृति का अनुधावन नहीं कर पाती, विपरीत इसके जितनी विज्ञान की विभिन्न क्षेत्रीय उपलब्धियाँ हैं उतने से या यथासंभव उनसे परिचय प्राप्त कर उन्हीं मान्यताओं या उनसे बनी परिधि में गतिशील होने का अभिमान रखती है। परिणाम यह हो रहा है कि धर्माध्यात्म एवं तत्प्रसूत मान्यताएँ जीवन के रंगमंच से हटती जा रही हैं और उन रिक्त स्थानों पर अर्थ और काम जमते जा रहे हैं।

अर्थं ही काम या इच्छाओं की तृष्ति का मूल मान लिया गया है और अर्थं की प्राप्ति तथा संग्रह के निमित्त विणकवृत्ति का चतुर्दिक समुद्रे क हो उठा है, विणक वृत्ति उत्तरोत्तर जटिल बौद्धिक प्रक्रिया का सहारा ले रही है, फलतः यही राजनीति अथवा तथाकथित राजनीति का आंकार ग्रहण कर रही है। यह तथाकथित राजनीति आज जीवन, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के फलक पर इस प्रकार छा गयी है कि राजनीति ही जीवन और जीवन ही राजनीति वन गया है। यही कारण है कि आज का साहित्य भी उस राजनीति से आक्रांत हो उठा है, राजनीति बोलने लगा है। तथाकथित राजनीति सिद्धांत नहीं, व्यक्तिगत स्वार्थं और सत्ता के संघर्ष में इतनी अनिश्चित हो गयी है कि उसने समूचे वातावरण में अनिश्चय भर दिया है। जो जहाँ है वहीं वह अपने भविष्य के प्रति अनिश्चित और अस्थिर है।

#### सहज प्रश्न

इस प्रकार जहाँ वर्त मान जीवन को परिचालित करने वाली तथाकथित राजनीति सैद्धांतिक दृष्टि से खोखली हो उठी है वहाँ किसकी किस पर आस्था ? जहाँ सिद्धांत और स्थिर जीवनदृष्टि ही नहीं वहाँ आस्था कैसे ? वह आस्था जिसमें स्थिति और स्थिरता का भाव निहित है, असंभव है। लेकिन, दूसरी ओर आस्था जीवन और समाज की धुरी है। जिस जीवन और समाज से आस्था की अर्थी उठ जाय, उसका अस्तित्व निस्संदेह विनाशगामी है। इस परिस्थिति में वर्तमान साहित्य और आस्था का प्रशन बड़ा ही सहज, स्वाभाविक और सामयिक है।

आस्था के लिए यह आवश्यक है कि एक ओर आश्रय में स्थिर दृष्टि एवं तज्जन्य संस्कार हों और दूसरी ओर उसके प्रेरक मूल्यों का आचरित रूप। आश्रयगत चिंतन से भी आस्था आस्था रह सकती है, पर बाह्य आचरित मूल्यों की स्थिति में, उसके उद्रेक में आपेक्षिक सौंदर्य आ जाता है। वर्तमान साहित्य के नव-प्रस्थान में जो रचनाएँ अथवा आलोचनाएँ आ चुकी हैं और आ रही हैं उनमें नयी कविता के पक्षधर समीक्षकों ने इस स्थापना का प्रतिवाद किया है कि नयी कविता या नये साहित्य में संशय, कुंठा, निराशा, हास, त्रास एवं विसंगति के कारण अनास्था ही अनास्था है।

उन्होंने सप्रमाण स्थापना की है कि आज लघु मानव संवस्त एवं क्लेशकर परिस्थितियों को भोगता हुआ भी आस्था का दीप जलाये चल रहा है, परिणामत: मानव में उदित आस्था जीवन, व्यक्तित्व और वर्तमान के प्रति है। प्रमाण में अज्ञेय, भारती, भारतभूषण, विजयदेव नारायण, प्रयाग नारायण, दुष्यंत कुमार, गिरिजाकुमार माथुर तथा सर्वेश्वर आदि की अनेक पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं और की गयी हैं। अज्ञेय जानते हैं कि 'बद्ध होकर है नहीं निर्वाह', तभी तो मदमाते, गर्वोले, स्नेहिल, ज्वलनशील, प्रकाशकारी एवं एकल दीप को पंक्ति को देने की बात करते हैं। नये साहित्य में अहं का महत्व है पर आस्थावान सर्जंकों में उसका समाजगामी उन्तयन भी लक्षित होता है। लगता है कि अंतर्गुहावासी मानव के असंस्कृत एवं अराजक अहं की अभिव्यक्ति पर स्वस्थ समीक्षकों की समीक्षा से आहत होकर या स्वयं सोच-समझकर नये सर्जंकों ने उसके उन्तयन की दिशा में भी प्रयास किया।

दिग्भ्रांतकारी परिस्थितियों की रात्रि का एहसास करते हुए भी भारती का दृढ़ विश्वास है कि वे और उनकी तरह के अन्य लोग भी कमल, पंक और सूर्य की तरह खिलेंगे, चलेंगे और उगेंगे। उन्हें यह भी विश्वास है कि रात ने जिन्हें भटका दिया है, भिविष्य में वे सब साथ होंगे। इन किवयों की इस सत्य में आस्था है कि विध्वंस के वक्ष पर सर्जना का लास्य होता है। इनमें अटूट विश्वास है कि विध्वंस के वक्ष पर सर्जना का लास्य होता है। इनमें अटूट विश्वास है कि वेदना और दुःख दूसरों को दुःख नहीं दे सकते अर्थात् उनसे मानवीय सवेदना उपज सकती है। उनकी दृढ धारण है कि वेशिष्ट्यहीन जीवन से मृत्यु का वरण श्रेथस्कर है, क्योंकि मृत्यु के वरण से ही अमरता की उपलब्धि संभावित है, अमर मूल्यों के पाने की संभावना है। मुक्तिबोध में किसी आस्था की लौ है जो उन्हें मिट्टी में गड़कर भी जीने की चाह दे रही है। यद्यपि ये किव यह भी देख रहे हैं कि यह विणक् वृत्ति वाली सत्तालोलुप दुनियां गतात्मा त्वचा की सूखी ठाठर में घासपात, कूड़ा-कबाड़ सब कुछ भरकर, कौड़ियों की आँख लगा कर, सीपियों का कान बना हदयहीन, धमनीहीन, स्नेहहीन काया में वह सब कुछ रख देती है जिससे पयस्विनी एवं स्नेहिल माता के निकट शोषण माध्यम वत्स चेतनाहीन पूंछ को एक ऐसी स्थिति में उठा सके जिससे वात्सल्य, हृदय, आकर्षण एवं चेतना सबको उभार दिया जा सके और दुनियां इस मुर्दे के उपजाये स्नेह को निचोड़ कर जीवित रहे, जिंदा रहे।

युग चेतना का सबसे सशक्त एवं सक्षम माध्यम है कविता। उसमें समसामियक सत्य अपेक्षाकृत्त अधिक गहराई से उभरता है। उपर के वक्तव्य से यह
िनतांत स्पष्ट है कि साहित्य के इस नवप्रस्थान में जहाँ न छायावाद की गलदश्रु भावुकता और लादी हुई आध्यात्मिक दार्शनिकता है और न प्रगतिवाद
का सा समाज के प्रति समिपत अस्तित्वहीन अहं, फिर भी आस्था का स्वर
कितना मुखर है। विवाद इस बात का नहीं है कि नयी कविता में आस्था का
तत्व है या नहीं, विवाद इस बात पर है कि लोग इस आस्था को नयी आस्था
और उससे संपन्न मनुष्य को नया मनुष्य कहकर धर्माध्यात्म पर आधारित
आस्था और मनुष्य से उन्हें सर्वथा भिन्न कर देना चाहते हैं।

मैं उनसे बिल्कुल सहमत हूँ जो यह मानते हैं कि विज्ञान ने मानव को अधर में लटका दिया है। मैं उनकी बात मानता हूँ जो यह कहते हैं कि विज्ञान के अन्वेषण से प्राप्त तथ्यों की जानकारी से मनुष्य की बुद्धि और शक्ति का परिचय भले ही मिल जाय, किंतु जीवन के असहाय और अनिश्चित मूल्यों के विक-सित होने में पर्याप्त तीव्रता आयी है। मैं उन लोगों से भी सहमत हूँ जो यह मानते हैं कि समस्त वैज्ञानिक तथा यांत्रिक उन्नति के बावजूद हम किसी मानवीय उद्देश्य मा सतर्कता को खो पाने में असमर्थ रहे हैं। ये मंतव्य नयी कविता

के ही पक्षधर समीक्षकों के हैं, तब यह कैसे मान लिया जाय कि स्थिर दृष्टि के प्रदान में संप्रति अक्षम विज्ञान और वैज्ञानिक प्रगति ने वर्तमान चेतना-संपन्न साहित्यकारों में आस्था को जन्म दिया है और वह नयी है?

में तो मानता हूँ कि इन आस्था के गायकों में कहीं न कहीं स्थिर दृष्टि प्रदान करने वालें पुरातन संस्कार ही निहित हैं, जो इनसे भविष्य जीवन, व्यक्ति एवं समाज के प्रति आस्था के स्थिर तत्व निकलवा लेते हैं।

आज की युवा पीढ़ी ने पुन: उस सत्य को पहचाना है, जिसका झंडा उठाकर किसी दिन नवप्रस्थानवादी साहित्यकारों ने पुरानी मान्यताओं और उनसे
बनी दृष्टि पर टिकी आस्था के विरुद्ध कदम बढ़ाया था और सामयिक उबाल
शांत हो जाने के बाद फिर उन्हों मान्यताओं एवं तज्जन्य संस्कारों से समझौता
कर लिया। आज ये नवप्रस्थान वाले सर्जक और उनके पक्षधर दोनों ही नवलेखन में भारतीयता की अविच्छिन्न प्रवहमानता की बात करते हैं। डॉ॰ हरिचरण
शर्मा ने कहा है—"मैंने ये उदाहरण जानबूझ कर दिये हैं, विशेषकर उन
आचार्यों के लिए और बहुतकर उन जैसों के लिए भी जो अभी भी नहीं मानते
कि नयी कविता का कोई सांस्कृतिक परिपार्श्व भी है या उसमें ऐसा भी कुछ
है जो भारतीय परंपरा में पड़ता हो।"

ये उदाहरण बहुत बड़ी मात्रा में नयी किवता में देखे जा सकते हैं, इसलिए जो लोग नयी किवता या साहित्य के नवप्रस्थान को भारतीय काव्यधारा में विच्छिन्न नहीं अविच्छिन्न मानकर चलते हैं उनकी दृष्टि से तो आस्था की बात समझ में आती है, पर जो विच्छिन्न और धर्माध्यात्म पर आधारित वर्तमान परिस्थितियों में भी उपादेय मान्यताओं से सर्वथा हटकर चलने की बात करते हैं, उनकी दृष्टि से आस्था की संगति कथमिप संभव नहीं है। नयी किवता में या नवप्रस्थान में उबाल के शांत हो जाने पर जब वर्तमान संदर्भों में उपादेय पुरातन सांस्कृतिक तत्वों के संस्कार आस्था के स्वर में बोलने लगे, तब वे ही आचार्य वाजपेयी जो किसी दिन इस विच्छिन्न वृत्ति को देखकर झुंझला पढ़े थे, आश्वस्त हो गये। डॉ॰ शर्मा को यह सब उन आचार्यों को नहीं, उन उबले हुए लोगों को बताना चाहिए जो भारतीय सांस्कृतिक तत्वों की सामयिक उपादे-यता में अनास्था रखकर विज्ञान और वैज्ञानिक प्रगति के चक्र में पिसे जा रहे हैं।

नवप्रस्थान वाले स्थिर सर्जकों का वही उबाल अब अप्रस्थान वाली युवा-पीढ़ी में है, फलतः वही झुंझलाहट नवप्रस्थान वालों के प्रति अप्रस्थान वालों की भी है जो नवप्रस्थान वालों को पुरातन प्रस्थान वालों के प्रति कभी थी। अतः युवा लेखक नवलेखन की आस्था में पुरातन और क्रमागत संस्कारों का छद्म रूप देखता है तो ठीक ही देखता है और उसके विरुद्ध आवाज उठाता है तो ठीक ही देखता है और उसके विरुद्ध आवाज उठाता है तो ठीक ही उठाता है। इनसे अपना पार्थक्य स्थापित करने के लिए इस युवा पीढ़ी के अप्रस्थान की शुरुआत की है। इस अप्रस्थान की युवा पीढ़ी अपने को नगण्य मानव कहती है।

वह युवा पीढ़ी जिसमें अतीत के संस्कार अंकुरित न हो सके, फलतः जिसका अतीत नहीं, जिसके हाथ में वर्तमान नहीं, जिसके भविष्य का निश्चय नहीं—जो अपने इदिगिर्द सब तरफ़ सभी स्तरों पर सत्ता लोलुप तथाकथित अविभावकों का सर्वापहारी तांडव देखती है, उसमें न तो भीतरी आस्था के लिए स्थिर जीवन दृष्टि के अनुरूप संस्कार रह सके हैं और न ही बाहर के आचरित उत्तेजक आलंबन। यही कारण है कि इनमें व्यंग्य, आक्रोण, अराजकता और उनकी अभिव्यक्ति में उष्टृंखल तथा दिक्च्युत प्रयास हैं।

इतने पर भी यदि युवा पीढ़ी में कहीं फिर भी कुछ अनास्था की कींध मिलती है तो में वही पुन: पुरातन प्रच्छन्न संस्कार देखता हूँ और यही कारण है कि जब-जब ऐसे स्वर युवा पीढ़ी की ताजी बौखलायी संतित देखती है तब पुन: उनसे अपने को पृथक् कर लेती है और विशुद्ध व्यंग्य, आक्रोश, झल्लाहट तथा असामाजिकता को शब्दों के जलते अंगारों में बाँध देती है। इसलिए वर्तमान साहित्य में जहाँ भी आस्था के स्वर हैं, वहाँ विज्ञान और वैज्ञानिक प्रगति के संदर्भ में उपजी चेतना नहीं वरन् इस संदर्भ के अनुरूप अपने को सँवारती हुई भारतीय सांस्कृतिक चेतना ही मुखर मानी जा सकती है।

विज्ञान अपनी शुद्ध प्रकृति में हमें संशयालु और जिझासु तो बना सकता है पर वह स्थिर जीवन दृष्टि प्रदान कर सकने की दिशा में नहीं है जिससे आस्था की ली फूटती है और जीवन तथा समाज लहलहा उठता है।

लाक्सला हो अये। डॉ॰ लिसे को सद्भा उन वाजाओं तो नाहे, उन <mark>बचने हुए</mark> प्रोकों को लानन जा हिएको प्रार्थीय ऑक्ट्रीक नदेशों को वाक्षिक जगहे-जना है स्टाह्म स्टाह दिसान जोता है तो के उन्हों हो जक्क में किने बेल

## आठ | भावकत्व और कल्पना

पारताम केल : क्लाक्य म महामान

भावकत्व को भावना का पर्याय मानकर विचार आरंभ किया जाय, तो बात बहुत पीछे से आरंभ करनी होगी। यह भट्ट नायक के नाम पर अथवा उनके आशय के नाम पर साहित्यशास्त्र के लक्षण-ग्रंथों में मिलता भी है—

property of the contract and unique for the property in the property

विभावका । से विस्ता आस्तरहरू समय ही भरतात की जानता है और कार्या

#### अभिधा भावना चैव तब्भोगो वृत्तिरेव च ।

यहाँ 'भावना' 'भावकत्व' का पर्याय ही है। भट्ट नायक इसी 'भावना' के कारण मीमांसक भी समझे जाते हैं। मीमांसा में वेद को अपौरुषेय माने जाने के कारण शब्द में ही 'भावना' माननी पड़ी थी। इसे शाब्दी और आर्थी कहा गया था। लगता है कि मीमांसा के इसी संस्कार से भट्टनायक ने काव्य को भी शब्दात्मक माना था और उसकी तीन शक्तियां कल्पित की थीं—अभिघा, भावकत्व तथा भोजकत्व अथवा अभिधा, भावना और भोग। इस भावना का व्यापार बताया गया वह शब्द-सामर्थ्य जिसके बल से पदार्थों का इस रूप में अवस्थापन होता है जिससे वे हमारी वासना को उद्रिक्त कर सकें, उसकी रसात्मक परिणति कर सकें।

व्यञ्जना के पक्ष से विचार करते हुए अभिनवगुष्त ने उस भावना या भावकत्व को और कुछ नहीं बिल्क 'गुणालंकारपरिग्रहात्मक' बताया और कहा कि शब्द की इसी परिग्रहात्मक क्षमता का परिणाम है कि वह ग्राहक सादृश्य को रसाभिमुख कर देता है। साथ ही भावना को व्यञ्जना से एक रूप करते हुए उसे शब्द तथा अर्थ —उभयात्मक काव्य का सामर्थ्य बताया।

राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में भावक शब्द का प्रयोग अकस्मात् आलो-चक अथवा सहृदय ग्राहक के रूप में मिलने लगता है। यहाँ भावकत्व भावक चेतन की क्षमता का पर्याय बना। इस रूप में वह सहृदय ग्राहक की काव्य-विषयक भावना से एकरूप कर दिया गया। संभव है, इसी प्रवाह में पण्डितराज जगन्नाथ ने 'भावना' का अर्थ 'पुन: पुन: अनुसन्धानात्मा' किया है।

वर्तमान युग में 'कल्पना' का साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में धड़ल्ले से प्रयोग हो रहा है और भावकत्व को उसके साथ भी जोड़ा जाने लगा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'कविता क्या है' शीर्षक लेख में यह कहा है कि भावना या भावकत्व कल्पना का पर्याय है और वह दो प्रकार की होती है—ग्राहक तथा विधायक। लेकिन भावकत्व स्पष्ट ही भावक की क्षमता है और भावक तथा कि एक नहीं, बिल्क काव्य के मुहाने और दहाने हैं—एक (किव) से काव्य निकलता है और दूसरे में सार्थक होता है। एक पिता है दूसरा जामाता। एक उत्पादक है और दूसरा भोक्ता। अतः भावकत्व को ग्राहक कल्पना से ही एक-रूप किया जा सकता है—विधायक से नहीं।

उक्त विचारधारा से असहमति व्यक्त करते हुए कुछ लोगों का विचार है कि भावन कवि को भी करना पड़ता है और विधान ग्राहक को भी। कहा भी है "कवि: भावयति, भावकश्च कवि:"-कवि भावन करता है और भावक कवयन । कारण, कवि काव्य को बहिरंग रूप दे इसके पूर्व भावन शक्ति के ही बल से उन तमाम स्थितियों का भावन कर उनसे अपने को एकरस करता है। उसकी यह भावन-शक्ति ही उसकी तीसरी आँख है। इसी प्रकार ग्राहक भी इस माने में कवि है कि शब्द बोध के अनन्तर भावोत्तेजक या भाव दशा (अथवा कवि की लक्ष्य दशा) तक पहुँचा देने के लिए अपेक्षित रूप योजना— विश्वास ग्रहण—अपनी क्षमता से करनी ही पड़ती है, अन्यथा इस शक्ति की कमी होने से वह कवि की मूल संवेदना का साक्षात्कार नहीं कर सकता। शब्द और संवेदना के बीच रूप-निर्माण या बिब-योजना अथवा अन्य मध्यवर्ती अर्थबोध रूपविधा भी कल्पनाशक्ति के बल से ही संभव है। इस प्रकार भावना या भाव-कत्व का ग्राहक और विधायक कल्पना से एकरूपता की जा सकती है, पर कवि में भावकत्व स्वीकार करके ही । बहरहाल भावकत्व भावक का ही धर्म है— भावक की ही विशेषता है। उसे सहृदय ग्राहक में तो मानना सहज और स्वाभाविक है ही, कवि में भी भावक की सत्ता मानकर वहाँ भी भावकत्व की विधायक कल्पना से एकरूप करना पड़ता है।

इस स्थिति में दूसरा प्रश्न यह खड़ा होता है कि भावन और विधान कहाँ तक एक और कहाँ तक भिन्न हैं ? उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार यह मानना पड़ेगा कि भावक तो भावन करता ही है, किव भी भावन करता है—विधान तो करता ही है। भावन और विधान दोनों एक तो नहीं हैं। कारण, राजशेखर कहता है और ठीक कहता है—"एक: सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्य:।"

भावक वह निकष है जो परीक्षा-क्षम है और कवि वह स्रोत है जो परीक्ष्य को पैदा करता है, अर्थात् ग्राहक कल्पना भिन्न है और विधायक भिन्न । भावकत्व यदि किसी से एकरूप हो सकता है तो वह भावक की ग्राहक कल्पना से। यदि भावन करने के कारण वह भावकत्व किव में भी माना जाता है तब भी यह प्रश्न जागरूक है कि भावना और विधान किव में एक है या भिन्न ? कहा जा सकता है कि किव भावनपूर्वक विधान करता है, अतः भावन विधान से भिन्न है। तब फिर समस्या खड़ी होती है कि इन दोनों की व्यापार-सीमा क्या है? भावन-व्यापार किव के अंतस् में संचित संस्कार को उभारता है—यह कच्चा माल है। विधायक कल्पना का कार्य इस कच्चे माल को आधार बनाकर काव्यो-चित रूप-योजना है। मूल संवेदन के अनुरूप उभरे हुए संस्कारों की सहायता से उनमें एकान्वित और काव्योचित रूप-निर्माण दोनों ही विधायक कल्पना का क्षेत्र है, अतः भावकत्व को विधायक कल्पना से एक करना पुनिवचारणीय स्थित है।

इस प्रकार भावकत्व ग्राहक में तो स्पष्ट है, क्योंकि वह भावन कि के काव्योचित अंतस् में निहित मूल संवेदना तथा अनुरूप प्रेषणक्षम रूप-योजना का पुन: साक्षात्कार है। यह भावन है। यहाँ नया विधान नहीं है, किव तो भावन के अतिरिक्त विधान भी करता है। कल्पना तो ग्राहक एवं विधायक हो सकती है, पर भावकत्व और विधायक कल्पना कहाँ तक एक हैं—विचारणीय तथा चिन्त्य यह है। कित्पय चिन्तकों ने भट्टनायक की भावना का अभिनवगुष्त द्वारा व्यञ्जना में अन्तर्भावन देखकर व्यञ्जना और कल्पना को भी एक करना चाहा है। व्यञ्जना शब्द की अर्थग्राहिका शक्ति है, पर व्यञ्जना उन्हों के काम की है जिनमें प्रतिभा है। इसलिए व्यञ्जना तथा भावना को स्पष्ट करते हुए कित्पय समीक्षकों ने उसे शब्द एवं ग्राहक दोनों के सामर्थ्य का लेखा-जोखा लेने वाला माना है। इस प्रकार भावकत्व से कल्पना की तुलना काफ़ी रोचक और विचारोत्तेजक है।

## नयो कृतियाँ : पुराना मूल्यांकन— पुरानी कृतियाँ : नया मूल्यांकन

T中的区域的工作。 电对应 对中国的人的

को है। में इस के हार को प्रकार के साथ है के स्वार के साथ है। स्वार के साथ है के स्वार के स्वार के स्वार के स्व अस्तर के साथ के साथ के साथ की साथ की साथ की साथ की साथ की साथ की साथ

प्रस्तुत शीर्षक में ऐसे अनिश्चयात्मक और अस्पष्ट शब्दों का प्रयोग किया गया है कि जब तक उन्हें परिभाषित और निश्चित न कर लिया जाय तब तक वैचारिक दिशा में गतिशील होना ही सम्भव नहीं है। 'पुरानी' और '<mark>नई'—–दोनों ही शब्द सापेक्षार्थं</mark>क होने के कारण यदि एक ओर अनिश्चित हैं तो 'नया मूल्यांकन' अपने अनिर्णीत और असर्वसम्मत रूप में दूसरी ओर अस्पष्टार्थक हैं। सन्दर्भ को देखते हुए यह लगता है कि 'पुराना' और 'नया' की भेदक रेखा विज्ञान ने खींची है। विज्ञान के प्रवेश से पूर्व सारी भारतीय चेतना ही क्या, सार्वभौम चेतना धर्म के प्रभाव से आक्रान्त थी-फलत: व्यक्ति में 'विभिष्ट' का और उसके लिए प्राप्य में 'यथार्थ से परे' का महत्त्व था। ज्यों-ज्यों विज्ञान-सिद्ध ज्ञानालोक का प्रसार बढ़ता गया त्यों-त्यों अनेकानेक धार्मिक मान्यतायें खण्डित होती गईं, श्रद्धा एवं विश्वास जैसे धर्म और अध्यात्म के पाँव लड़खड़ाते गये, सर्वत्र जिज्ञासा और प्रश्न के भाव उद्ग्रीव होते गए। भारतवर्ष की भी बौद्धिक चेतना अंगड़ाई लेती हुई उठ बैठी। नव जागरण अथवा पुनरुत्थानवाद की बेला आई। इस स्थिति का स्पष्ट प्रभाव रीतिकाल के बीतते-बीतते 'हरिश्चन्द्र युग' से ही लक्षित होने लगा अर्थात् 'विशिष्ट' और 'अदृष्ट' के साथ-साथ 'सामान्य' और 'यथार्थ' की भी चर्चा काव्य होने लगी । द्विवेदी-युग में अपेक्षाकृत और अधिक बौद्धिक प्रखरता के साथ कविगण परम्परागत सामग्री को प्रस्तुत करने में सचेष्ट होने लगे । छायावादी साहित्यकारों ने अवश्य परम्परागत स्थूल धार्मिक मान्यताओं का वर्जन किया, पर आध्यात्मिक भूमिका और रोमानियत इनका भी प्रबल पाथेय रहा । इस युग के बीतते-बीतते विज्ञान ने मध्यवर्गीय संवेदनशील भारतीय साहित्यकारों को भावना, कल्पना, आदर्श, अध्यात्म और अदृष्ट से सर्वथा हटाकर एक मात्र <sup>4</sup>सामान्यजन' (लोक) और <sup>5</sup>यथार्थ' की ही ओर केन्द्रित कर दिया। इस प्रकार यह यथार्थ-केन्द्रित चेतना स्पष्टतः, यथार्थतर-केन्द्रित चेतना से

भिन्न पड़ गई, फनतः नयी लगी। इस प्रकार की चेतना से सम्पन्न साहित्यकारों ने अदृष्टवादी परम्मरागत चेतना को पुरातन की संज्ञा दी। निष्कर्ष यह है कि स्पष्ट ही विज्ञानसम्मत यथार्थमुखी काव्य-धारा की कृतियाँ 'नई कृतियाँ' कही गई और धर्माध्यात्मसम्मत काव्य-धारा अपेक्षाकृत पुरानी कही गई। छायावाद का अन्त अर्थात् लगभग १६३६ को ही काल-विभाजक रेखा माना गया। यों किसी भी देश की काव्य धारा अपनी अविच्छे घप्रवहमानता में कहीं विभक्त या खिण्डत नहीं होती, पर देशकाल का वृहत व्यवधान कुछ ऐसे रंगों की उस धारा में उभार देता है कि आपाततः उनमें विभाग लक्षित होने लगता है। इस 'नये' और 'पुराने' के विभाग को ऐसा ही समझना चाहिए।

'नयी कृतियाँ' की परिधि से यदि आपको अभिमत हो तो एक विधिष्ट बौद्धिक धारणा से लिखी गई समाजवादी यथार्थपरक र चनाओं को भी बाहर रखा जा सकता है, क्योंकि अन्तत: वे रचनाएँ भी एक ढंग से आदर्शवादी हैं। कारण, वे रचनायें एक सुनिदिष्ट भविष्य को ध्यान में रखकर सप्रयोजन लिखी जाती हैं। इसी प्रकार नवस्वच्छन्दतावादी रचनायें भी अपनी रोमानियत के कारण इस वैयक्तिक 'यथार्थ के अनुभव' और 'अनुभव की यथार्थता' पर अपने आपको निष्ठापूर्वक केन्द्रित रखनेवाली 'नई कृतियों' से पृथक् रखी जा सकती हैं। यद्यपि 'प्रयोग' की वृत्ति इन तीनों धाराओं -सामा-जिक यथार्थवादी घारा, मनोविज्ञानमुखी वैयक्तिक-यथार्थ की धारा तथा नवस्वच्छन्दतावादी धारा-में समान रूप से उपलब्ध है, तथापि जिनके कारण हम छायावादी या तत्पूर्ववर्ती काव्य-धारा को 'नई कृतियों' में समाविष्ट नहीं करते, वही बात शेष परवर्ती दो धाराओं में जब उपलब्ध है तो उन्हें किस प्रकार इस आलोच्य परिधि में लिया जा सकता है ? 'बौद्धिक धारणा' का आत्यंतिक विच्छेद तो कभी भी सम्भव नहीं है, पर अपनी आपेक्षिकता में उससे मुक्त कहने का अभिप्राय इतना ही हो सकता है कि वह प्राप्त धारणाओं के बल पर निर्मित विवेक की सर्जनशील वृत्ति की विकासशील सम्भावना को रोकने वाली धारणा आरोपित न करे। जहाँ तक विज्ञानसम्मत यथार्थं की बात है, उस की ओर कवियों की दृष्टि हरिश्चन्द्र-युग से ही विशेष रूप से एकाग्र होने लगी थी और उसकी अन्तिम परिणति इन 'नयी कृतियों में दिखाई देती है। इस प्रकार वर्तमान आलोच्य संदर्भ में 'नयी-कृतियाँ' को इसी रूप में लिया जा सकता है। इसकी अपेक्षा में वे कृतियाँ 'पुरानी' कही जा सकती हैं जिनमें किसी न किसी प्रकार बौद्धिक धारणा यथार्थ को अपनी समग्रता में उभरने से रोक लेती है और उरेहे जाने वाले जीवन को भावमयता तथा आदर्श से ढँककर प्रस्तुत करती हैं।

कृतियों के नये और पुराने रूप का स्पष्टीकरण कर लेने के अनन्तर मूल्यों के 'नये और पुराने' रूप की बात आती है। पुराने आचार्यों ने वाङ्मय के काव्येतर रूप से काव्य का व्यावर्तक और केन्द्रीय वैशिष्ट्य सर्जनात्मक अनुभूति या सौन्दर्यानुभूति को माना है और माना है कि व्यवस्था अथवा औचित्य उसके लिये नितान्त अपेक्षित तत्व हैं । वे काव्य को सामाजिक वस्तु मानते हैं और सामाजिक द्वारा ग्राह्म बताते हैं। सामाजिक रुचि का सामाजिक असामाजिक को सौन्दर्य का विघटक मानता है--फलतः उत्कृष्ट काव्य में व्यक्त रसात्मकता सहज ही मानवीय और सामाजिक मूल्यों से समन्वित हो जाती है। उनकी दृष्टि में काव्य का कलात्मक मूल्य इस बात में निहित है कि वहाँ वस्तु और कला अविच्छेच तथा सहज सम्बद्ध हो, समस्त उपकरण अपनी अच्युत और अपरिवर्तनीय क्षमता में तत्व के अनुरूप सहज प्रेरणा रूप स्वत: सिन्नयोजित हो गये हैं। इस सन्दर्भ में यह भी स्पष्ट जान लेना चाहिए कि प्राचीन आचार्य यह कभी नहीं मानते हैं कि काव्य के मूल्य में निहित कवि प्रतिभा सर्वदा रसात्मक आवेश में ही सक्रिय होती है। अभिप्राय यह है कि उत्कृष्ट काव्य का निकष रसात्मकता अवश्य है पर काव्य मात्र का नहीं। पुराने आचार्यों ने ऐसी भी रचनाओं को काव्य माना है जहाँ अन्य प्रकार की भी उथली सौन्दर्य वृत्ति कवि की प्रतिभा का संचालन करती है। पर साथ ही यह भी निष्चित है कि जिसे कवि कहना चाहिए उसके काव्य में काव्योचित रसावेशवश अन्युत और अपरिवर्तनीय सक्षम उपकरणों से साध्य की सहज नियोजना हो ही जाती है।

जहाँ तक नये प्रतिमान और मूल्यों की बात है, अतिवादियों को छोड़ दें तो अतियों और विकृतियों से बचकर चलने वाले चिंतकों की यह धारणा है कि नई कृतियों के साथ न्याय करने वाले प्रतिमान अनेक सम्भव हो सकते हैं— वस्तुगत भी और कलागत भी। इतना तो स्पष्ट है कि इनमें संघर्ष, तनाव, व्यंग्य, असंतोष, नैराग्य, बौद्धिकता और मृत्यु का स्वर अधिक तीच्च है। सो इन स्वरों से समन्वित नई कृतियों का मूल्य इस बात में है कि वे 'परम्परा' और 'व्यक्ति' के संघर्ष को संतुलन और स्वस्थ विकास की दिशा में बढ़ावा कहाँ तक दे रही हैं? इसलिए रमेश चन्द्र भट्ट के शब्दों में ''एक ओर एतदेशीय ऐतिहासिक-सांस्कृतिक बोध की गहराई तथा दूसरी ओर कि की ज्ञानसंवेद-नात्मक चेतना की वैध्वक प्रतिश्चृति— इन दोनों तत्वों के सार्थक, सुदीर्घ,

सर्जनात्मक संघर्ष, सन्तुलन की साधना को हमारी कविता के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतिमान के रूप में पहचानना परम आवश्यक हो जाता है।" (नई कविता, अंक ८, पृष्ठ २३०) । इसके साथ राजनीति और विज्ञान की तमाम निष्पत्तियों के आलोक में आज का तरुण मानस अपने अस्तित्व-बोध को निष्कवच या अरक्षित देखकर संत्रस्त है। ,नई कृतियों में अभिव्यक्त यह संत्रास भी अपनी पृष्ठभूमि में किसी मूल्यान्वेषण की वृत्ति को रखकर प्रतिमान बन सकता है। यथार्थ की अनुभव और अनुभव की यथार्थ के प्रति निष्ठा एक तीसरा प्रतिमान भी हो सकता है। इन वस्तु-पक्षीय प्रतिमानों के साथ-साथ कला-पक्षीय प्रतिमानों का जहाँ तक सम्बन्ध है, कहा जा सकता है कि आज का किव अपनी युगीन और वैयक्तिक धड़कनों की बारीकियों को मूर्त करने में विम्ब-विधान से आगे जाकर लय और शब्द-संवेदन की सूक्ष्म विषेशताओं की ओर बढ़ रहा है। बिम्ब-विधान में दृश्य पक्ष पर ध्यान रहता है, पर श्रव्यता के लिए ध्वनिमत्ता का भी नियोजन आवश्यक है-ध्वनिमत्ता से अभिप्राय एक ओर संगीतिकता से तो है ही दूसरी ओर परिवेश के अनुरूप कई शेड्स खोलने की शब्द की क्षमता से भी है। इसी प्रकार वयस्क कविता के राग और बोध की अपनी समग्रता और समरसता में काव्योचित स्रोत बन जाना भी एक कलापक्षीय प्रतिमान कहा जा सकता है।

ऊपर जो 'नये और पुराने' प्रतिमानों की बात कही गई है उसे ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनमें युगीन विशेषताओं को छोड़कर उनकी भी तह में निहित रहने वाले सामान्य और सार्वभौम वैशिष्ट्य भी हैं। वास्तव में जब वयस्क काव्यधारा अपने प्रवाह में अविच्छिन्न रहती है—युगीन विशेषताओं से समन्वित रहा करती है, तब प्रतिमान भी अपनी सामान्यरूपता में शाश्वत होकर युगीन परिष्कार का निर्भीक ग्रहण और परित्याग कर सकता है। अज्ञेय हो गिरिजा कुमार

arriver by take to reserve the following taken to five the first taken to be the first to be the first to be the first taken to be the first to be the first taken taken

ीती हैं। प्रिले तानिस्य में सेहरमपूर्ण कहा जाता है

(अप अपन अ- अन्य मानिक प्र

१. "जहाँ सर्जनात्मक शक्ति है, वहाँ एकांगिता की सम्भावना कम है। पुष्ट सौन्दर्य बोध के साथ पुष्ट नैतिक बोध भी होता ही है।" (हिन्दी साहित्यः एक आधुनिक परिदृश्य)।

माथुर<sup>9</sup>, मुक्तिबोध<sup>2</sup>, जगदीश गुप्त<sup>3</sup>, तथा पंत<sup>8</sup> सभी सहजता को महत्त्व देते हैं।

सारा संघर्ष मानव के सहज रूप को प्राप्त करने के लिए है। वही संघर्ष साहित्य में जब सहज ही प्रतिफलित होता है तब उसे ऊर्जा तथा दीप्ति देता है। मेरा तो यह प्रस्ताव है कि काव्य और उसके प्रतिमानों के मूल्यांकनार्थ नये और पुराने खेमों को विच्छिन्न करके नहीं देखना चाहिए, क्योंकि काव्य और आलोचना दोनों ही सांस्कृतिक प्रक्रिया हैं जो अपनी अविच्छिन्नता में निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं। अंततः 'नया' और 'पुराना' विशेषण ही है - ऊपरी कंचुक ही है, अन्तरात्मा या विशेष्य नहीं। वयस्क काव्य की कुछ शास्त्रत गर्वे हैं जो देश-काल की परिधियों को तोड़ कर सदा सर्वत्र विद्यमान रह सकती हैं। यह अवश्य है कि युगीन धड़कनों और दृष्टियों का नया, पुराना कंचुक उस पर चढ़ता उतरता रहता है। आख़िर विचारणीय यह है कि कालिदास, आनन्द वर्धन और गिरिजा कुमार माथुर तीनों वयस्क कवित्व में क्यों एक सा एलाध्य लगते हैं ? कोई उनमें शास्वत वस्तु, सबसे अच्छी लगने वाली कवित्व प्रयोजक वस्तु है जो गेटे, आनन्दवर्धन तथा गिरिजा कुमार माथुर तीनों को झंकृत करती है । शास्वत कहने में हिचक हो, अपेक्षाकृत स्थायी कह लीजिये। इस बात को सब स्वीकार करते हैं कि जहाँ मनुष्य अपने सहज यथार्थ को समग्रता में सहज ही उतार दे, वस्तु और आकार

१. "आवश्यक है कि भावपक्ष, बिबयक्ष और नादपक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्टतया पहचाना जाय तथा यह स्वीकार किया जाय कि इनमें से कोई तत्त्व गौण नहीं है।" (नयी कविता: सीमाएँ और सम्भावनाएँ, पृष्ठ ११६)।

२ "संवेदनानुसारी ग्रुद्ध चेतना का विकास कवि के लिये महत्त्वपूर्ण है।" (नई कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ २२)।

३. "अनुभूति और अभिव्यक्ति की सच्चाई पर आग्रह बढ़ना स्वाभाविक होता है। अनुभूति और अभिव्यक्ति की सच्चाई ही ऐसी नवीनतता को जन्म देती है, जिसे साहित्य में महत्त्वपूर्ण कहा जाता है।" (नई कविता १६६०-६१ का संयुक्तांक ४-६, पृष्ठ १७)।

४. "उसके (कविता के) शब्द ऐसे होने चाहिए .... जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आंखों के सामने चित्रित कर सकें" (पल्लव की भूमिका, दवाँ संस्करण, पृष्ठ ३०)।

सहज ही अविच्छेद्य बन गए हों, उपकरण अपनी-अपनी अच्युति और समस्त क्षमता में अपरिवर्तनीय रूप से जुड़ गए हों—वह वयस्क काव्य है। वास्तव में प्रतिमान ऐसे ही काव्यों को केन्द्र में रखकर बनाया जा सकता है और उसीसे मूल्यांकन हो सकता है। पुराना और नया केवल युगीन रुचियों और वृष्टियों के अनुरूप उपकरणों का संयोजन है। वे सबके सब यदि मनुष्य के सहज रूप को सहज ढंग से पाने के लिए संघर्षरत हैं तो मूल्यवान हैं।

पुरानी कृतियों को यदि हम नये परिवेश के अनुरूप नये प्रतिमानों से मूल्यांकित करने की बात करते हैं तो हमें देखना होगा कि उनमें प्रगति का भी आतमसंघर्ष अपनी यथार्थता में सामाजिक यथार्थ से साथ उभर कर मनुष्य के सहज रूप की ओर कहाँ तक बढ़ा है और पुनः इस बढ़ाव को बौद्धिक धारणाओं ने कब कहाँ आच्छन्न करके उसकी गति रोक दी ? फिर उस प्रवृत्ति ने कब-कब अपना सिर उठाया और कब-कब ढँक दी गई ? कलात्मक दृष्टि से आत्म-सत्य को व्यक्त करने के लिए अर्थ या चित्र और नाद के स्तर पर जहाँ जो नए प्रयतन हुए हैं, उनका संचार पुरानी कविताओं में कहाँ तक हो सकता है? उसी प्रकार जब हम पुरानी दृष्टि से नये साहित्य को देखते हैं तब देखते हैं या देखना चाहते हैं कि अपनी अजित सांस्कृतिक दृष्टि से नई कृतियों का सांस्कृतिक उत्थान में अनुरूप योगदान कहाँ तक हो सका है ? यदि नई कृतियों या नए कृतिकारों ने संघर्ष के माध्यम से किसी सांस्कृतिक विध्यात्मक दिशा की ओर दृश्य योजना तथा ध्वनि योजना के धरातल पर वयस्कता प्रदर्शित की है तो वह पुरानी दृष्टि से भी मूल्यवान है। यह पुरानी दृष्टि इसलिए कही जा रही है कि इसमें पूर्व-निर्धारित सांस्कृतिक दृष्टि से मूल्यांकन की बात कही गई है। यद्यपि ज्ञानपूर्वक इस दृष्टि से नई कविता निर्मित नहीं हो रही है, तथापि अनजाने वह परम्परागत सांस्कृतिक चेतना उनकी कृतियों में सक्रिय हो गई है। कलात्मक दिशा में व्यक्ति ने अपने को कहाँ तक सर्वभौम बनाने का प्रयत्न किया है ? आँसू और हास को युगीन आकारों द्वारा अपनी समग्र अनुरूप बौद्धिकता के साथ चित्रित कर कहाँ तक रसात्मक क्षमता उत्पन्न की है? नाद-सौन्दर्य और अर्थगांभीर्य की योजना कहाँ तक सफल की है ? सर्वप्रथम पुरानी कविता और नया मूल्यांकन वाले पक्ष को लें। नया मूल्यकांन नई पसन्द और रुचियों से होता है, यद्यपि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस युगीन रुचि और पसन्द के निर्मोक की तह में काव्य की कुछ शास्वत विशेषताएँ भी होती हैं जो वयस्क काव्य में उभरती हैं। नई पसन्द काव्य में यथार्थ का अनुभव, अनुभव की यथार्थता, जीवन का ताप, आत्म-सत्य की उपलब्धि के निमित्त किये गए संघर्ष की ज्वाला, समाज और व्यक्ति, परम्परा और प्रयोग के उभयमुखी खिंचाव में पड़ी आत्मा की कशमकश, जीवंत चित्र, ध्वनिमत्ता की बारीकियाँ, नये प्रयोगों और इन सबके द्वारा उभरने वाला ताजापन देखना चाहती है । वास्तव में जब-जब हमारी सांस्कृतिक चेतना नवागन्तुक सांस्कृतिक चेतना से टकराई है, तब-तब समन्वय की खोज में हमारी चेतना नया आकार ग्रहण करने के लिए तड़प उठी है संघर्ष की प्रक्रिया से गुजरी है। पूर्वागत आयों की यज्ञाग्नि ठंडी पड़ते देख औपनिषद जिज्ञासुओं में आत्म-सत्य की उपलब्धि की अभूतपूर्व आग है। वे जाति-पाँति भूलकर सत्य के साक्षात्-कर्ता के समक्ष पहुँचकर अपनी आकुलता प्रगट करते हैं। यही तड़प और संघर्ष रूढ़ि की धज्जियों को उड़ाकर अतिवादों से बचते हुए मध्यमा प्रतिपदा के लिए यत्नशील बौद्धों में भी लक्षित है। शतियों से समरस या एकरस चली आती हुई भारतीय चेतना के समन्वयार्थ पुनः आत्मविस्तार के लिए इस्लामी प्रवाह ललकारता है। तब उस समय भी निर्भीक कबीर की वाणी यथार्थ का पर्दाफ़ाश करती है । तुलसी का भी ध्यान वर्णाश्रमवादी धारा के अनुरूप भारतीय सांस्कृतिक चेतना को प्रवाहित रखने में लगा है। रीतिकालीन साहित्य में यह उत्ताप खो जाता है आग ठण्डी पड़ जाती है। यह बात नहीं कि वहाँ श्रृंगार की धारा ठंडी है बल्कि यह बात है कि वहाँ उसकी भी आग ठण्डी है; अन्यथा विद्यापित का उत्तप्त और ताजापन लिए शृंगार आज की रूचि को भी आकृष्ट करेगा; घनानन्द और बोधा की तड़प आज के लिए भी मूल्यवान है। जिन-जिन कवियों में श्रृंगार की आग ठण्डी नहीं है ऐसे बिहारी, मुबारक , मितराम, देव एवं पद्माकर आदि कवियों के ताजे चित्रों का आज की पसन्द में भी मूल्य है।

मूल्य उन पुरानी रचनाओं का भी है जहाँ लयवत्ता, नादसौन्दर्य और परिवर्तित परिवेश के अनुरूप उपलब्ध होने वाले ग्रन्थों में विभिन्न शेड्स विद्यमान हैं। पुरानी कृतियों के वे अंश भी आज की पसन्द के अनुरूप मूल्य रखते हैं

१---''चूनरी विचित्र श्याम साजि के मुबारक जू, ढाकि नखसिखतें निपट सकुचाति है। चाँद मैं लपेटि के समेटि के नखत मानों, दिन को प्रमाण किये राति चली जाति है।''

जहाँ नये प्रयोग हैं। अभिप्राय यह है कि जब पुरानी कृतियों में आधुनिक रुचियों के अनुरूप विधान है, तो उसका मूल्य भी है।

जहाँ तक पुरानी पसन्द का सम्बन्ध है, उसकी पहली माँग यह है कि कविता पाठक को वैयक्तिक भूमि से ऊपर उठाकर रसमग्न कर दे और अनुसंगत सांस्कृतिक भावों को जगा कर मानवीय भूमि पर उठा ले जाय। इन बातों के साथ कलात्मक उपकरणों की 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' योजना है। पर सवाल यह खड़ा होता है कि पुराने संस्कार नई रुचियों से ओत-प्रोत रचनाओं पर लागू होंगे ? पुराने लोग 'सामान्य' की ओर जाते हैं, जबकि 'नये व्यक्ति 'विशेष' की ओर । पुराने लोग 'रसानुभूति' की ओर उन्मुख रहते हैं, जबकि नये लोग 'सह अनुभूति' की ओर जाना चाहते हैं। पुराने फलतः व्यक्तित्व का विगलन और सामग्री का साधारण्य चाहते हैं, जबकि नये ताटस्थ्य का निर्वाह आवश्यक चाहते हैं। पुराने बौद्धिक धारणा और भावना की रंगीनी पर रीझते हैं, जबिक नये वस्तुमुखी मुक्त दृष्टि तथा बौद्धिकता और यथार्थ का स्वागत करते हैं। इस प्रकार नयों को तो रुचि पसन्द की कुछ चीज़ें पुरानी कृतियों में मिल जाती हैं, पर नई कृतियों में पुराने क्या पायें ? वास्तव में नये और पुराने को मिलाने की दो भूमिकाएँ हैं एक तो युगीन रुचियाँ जहाँ 'नया और पुराना' का व्यवहार हो सकता है और दूसरी काव्य के लिये अपेक्षित शाश्वत या स्थायी तत्व जहाँ वैसा कुछ नहीं है। यदि प्रथम भूमि रुचिभेद के कारण अग्राह्य है तो दूसरी अभी उभर न सकने के कारण अप्राप्य है। नये कवि क्योंकि कलात्मक और सांस्कृतिक मूल्यों की खोज में ही हैं, अतः स्थायी प्रतिमान बन ही नहीं सके हैं। इसलिए 'नये' में 'पुरानों' को क्या मिलेगा ?

यद्यपि वैचारिक भूमिका पर ये सब बातें उठती हैं तथापि प्रायोगिक रूप में रचनाओं को देखने से पुरानी पसन्द की चीजें भी उपलब्ध हो जाती हैं। वस्तुतः देखा जाय तो 'नयेपन' से किवता का कोई विरोध नहीं है। 'किवता' के लिए ही 'नयेपन' की आवश्यकता होती है अर्थात् 'नयापन' किवता को किवता होने के लिये अपेक्षित है। तीसरे आज नई प्रतिभाओं द्वारा जो प्रबन्ध आ रहे हैं, उनमें सांस्कृतिक मूल्यों के अनुसन्धान का संघर्ष है। 'आत्मजयी' की तड़प ऐसी ही है, 'चिन्ता' में भी ऐसी ही चिन्ता व्यक्त की गई है। 'अंधायुग' का अगला कदम 'कनुप्रिया' की ओर उठा है। अजेय की नई कृतियों की परिणित 'आंगन के पार द्वार' में है। इसीलिये 'नई कृतियों' का बौद्धिक संघर्ष सांस्कृतिक मूल्यों की ओर झुके रहने के कारण पुरानी रुचियों को पसन्द

पड़ता है । उनमें कलात्मक झंकृति भी मूल्यमयी है । नरेश कुमार का उदाहरण लें :—

उद्याचल से किरन घेनुएँ

हाँक ला रहा वह प्रभात का ग्वाला ।

पूँछ उठाए चली आ रही

क्षितिज जंगलों से टोली ।

दिखा रहे पथ इसी भूमि का

सारस सुना सुना बोली ।

गिरता जल फेन मुखों से

नभ में बादल बन तिरता,

किरन घेनुओं का समूह,

यह आया अन्धकार चरता,

नभ की आम्र छाँह में बैठा,

बजा रहा बंशी रखवाला ।

महार प्रमाण के साम के किया है। वार्ष के किया

"बह चुकी बहकी हवाएँ चैत की कर गई पूले हमारे खेत की । कोठरी में लौ जला कर दीप की । जिल्हा होगा महाजन सेंत की ।"—अज्ञेय

'नई कृतियों' में शाश्वत तत्त्व भी उभरे हैं। माथुर की कई रचनायें हैं जहाँ वस्तु और कला अपनी अविच्छेदाता में एकरस हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वयस्क कवित्व के मूल उत्स पर बैठे हुये नये और पुराने किव तथा नये और पुराने आलोचक सामियक उपकरणों और रिचयों के परिवर्तनशील निर्माण की तह में निहित कितपय सामान्य काव्योचित विशेषताओं को पाते हैं। इसी सत्य से युक्त होने के कारण हम काव्य-प्रक्रियों और आलोचना-प्रक्रिया को एक सांस्कृतिक प्रक्रिया कह पाते हैं और अपनी अविच्छिन्न प्रवहमानता में परीक्षित करते हैं। 'नया' और 'पुराना' ऊपरी निर्माण है जिसका सामाजिक महत्त्व अवश्य है पर दोनों के साथ एकरस लगा रहने वाला 'काव्य' किसी निहित एकरसता की ओर भी संकेत करता है—द्विवेदी जी के शब्दों में जिसे हम 'महा एकता' कह सकते हैं। वयस्क किव और आलोचक की दृष्टि सायास अथवा अनायास उससे सम्पृक्त रहकर सामियक निर्माण को ग्रहण करती चली जाती है।

में ही मिलीय अन्या विक्रीको स्वयंत्र होते. जमा चरान कार्त कर्ति है। बीते में से की समय कार्य में स्वयंत्र के से कहा — विक्रम में के पर पहले हैं

त्र सीते हैं है है है है है है जा है कि स्वतार है कि से है है है है है है है है है

# दस वर्तमान साहित्य में 'यथार्थ' के बदलते रूप

ungefte eine greet; nig egregg

वर्तमान साहित्य में चित्रित हो रहे 'यथार्थ' की मूलवृत्ति है- 'विसंगति'। किसी भी राष्ट्र और समाज को संश्लिष्ट और संगत रखने में रीढ़ का काम करती है उस देश की स्वस्थ वैचारिक एकता और उसके प्रति पूर्ण निष्ठा। स्वस्थ विचार मैं उसे ही मानता हूँ जो हमें मनुष्य के रूप में जीने दे। आज के किसी विशेष राष्ट्र और समाज में ही नहीं, वरन् समूचे जीवन और जगत् में वह स्वस्थ रैचारिक पीठिका जो मानव-हितैषियों के द्वारा प्रतिष्ठापित ''की गई थी या की गई है"--रीड़ की जगह से हटकर स्वार्थ-पूर्ति, पाशविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ढाल या मुखौटा बन गई है। फलतः सारा का सारा युग और जीवन लिजलिजा, लुंज-पुंज और अपंग हो गया है। स्वस्थ विचारों और अमानवीय कार्य व्यापारों के बीच बढ़ती हुई 'विसंगति' आज के जीवन का खरा यथार्थ है। विज्ञान ने उस भारतीय वैचारिकता को, जिसके अनुसार समूचा यथार्थ-जीवन और जगत् तुच्छ एवं नगण्य समझा जाता था, ध्वस्त कर दिया है । परिणाम यह हुआ कि विज्ञान के प्रभाव में उभःता हुआ बृद्धिजीवी वर्ग अध्यातम प्रतिष्ठापित 'अदृश्य' की जगह विज्ञानसम्मत 'दृश्य' या 'यथार्थ' को ही सब कुछ मानने लग गया है । जगत् और जीवन में विचारों का यह बदलता हुआ संदर्भ आज साहित्यकार को भी सचेत करता है कि वह साहित्य की युग-चेतना और सामाजिक यथार्थ की ही अभिव्यक्ति का कलात्मक माध्यम स्वीकार करे । यथार्थ से खुरदरे यथार्थ की ओर बढ़ती हुई अद्यतन दृष्टि ते और आगे बढ़कर अब यह भी घोषणा कर दी है कि साहित्य हाथ की छटपटाहट' अथवा 'तात्कालिक प्रतिक्रिया की भाषा' है । साहित्य विषयक ये धारणाएँ आज उसका 'यथार्थ' से अविच्छेद्य सम्बन्ध जोड़ने लग गई हैं।

विज्ञान के बढ़ते हुए प्रभाव ने अतीत की मान्यताओं को खोखला साबित कर दिया है और हिन्दी साहित्य में इन खोखली मान्यताओं तथा और उनसेविच्छिन्न चल रही जिन्दगी के बीच उभरती हुई 'विसंगति' की १६३६ के आस-पास

से ही निर्भीक अथवा विद्रोही व्यंजना होने लगी। गगनचारी छायावाद के प्रतिनिधि और समर्थ कवि निराला ने ही कहा—'विहग के वे पंख बदले।' उन्होंने 'कुल्ली भांट' में घोषणा की—''अधिक न सोचा। मालूम किया, जो कुछ पढ़ा है कुछ नहीं, जो कुछ किया है व्यर्थ है, जो कुछ सोचा है, स्वप्न है। कुल्ली धन्य है ...। '' उन्होंने यह भी कहा कि वेदान्त की माया 'कायरों के चित्त की भीति' है। ''कौन तम के पार रे कह?'' द्वारा 'अदृश्य' पर संदेह और निषेध प्रकट किया और अपने साहित्य में धरती के ज्वलंत यथार्थ को चित्रित करने लग गये । यही वह समय था जब प्रेमचन्द्र 'पूस की रात', 'कफन' और 'गोदान' के द्वारा 'आदर्श' के साथ 'यथार्थ' के सामंजस्य का मोह भंग कर रहे थे। जैनेन्द्र की 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' ने भी परम्परागत मान्यताओं की जड़ हिला दी । जैनेन्द्र का तो उद्घोष ही है कि उनका सारा लेखन अतीत की विजड़ित होती हुई मान्यताओं को हिला देने के लक्ष्य से ही है। दृश्य काव्य के क्षेत्र में भी इब्सन और शाँका प्रभाव संक्रांत हो जाता है और अतीत के गड़े मुदाँ के उखाड़ने में संलग्न भावुकता, कल्पना तथा विचारों के विरोध में 'यथार्थ' का चित्रण आरंभ हो जाता है। निष्कर्ष यह कि १६३६ से ३६ का यह वह समय था जब संवेदनशील लेखकों ने यथार्थ की इस 'विसंगति' को भलीभाँति दीक्षित कर लिया था और उसे चित्रित भी करने लगे थे। सन् १६३७ में 'विसंगति' शीर्षक से प्रभाकर माचवे ने एक कहानी ही लिखी थी, जिस पर उन्हें 'सिनिक' की उपाधि मिली थी।

विज्ञान के प्रभाव से बुद्धिवादी चिंतकों ने, जैसा कि ऊपर कहा गया है, अतीत की मान्यताओं को समय के निकष पर उसकी अनुपयोगिता में निःसार बताया। विज्ञान की बढ़ती हुई आविष्कृतियों ने रहे-सहे तत्वों को भी ध्वस्त कर दिया। वर्तमान संदर्भों के अनुरूप विज्ञानसम्मत जो विचारधारा मार्क्स ने प्रतिष्ठित की वह 'छायावाद' के अनन्तर 'प्रगतिवाद' के नाम से साहित्य में प्रतिष्ठित हो गयी। इस वाद के आलोक में साहित्य का लक्ष्य ही निर्धारित किया गया यथार्थ चित्रण। पर यथार्थ के विषय में उनका अपना दृष्टिकोण ही भिन्न है। उनका यथार्थ न तो फोटोग्राफिक ही है और न तो प्रकृतवादियों की भाँति नग्न ही—जिसका आभास उग्र, चतुरसेन शास्त्री तथा 'प्रसाद' के कंकाल में समीक्षकों ने देखा और दिखाया है। वस्तुतः उक्त लेखकों की रचनाओं में यथार्श की नग्नता केवल गैलीगत ही है—दृष्ट इन सबकी आदर्शनवादी है। इसीलिए मेरी दृष्टि में प्रकृतवादी यथार्थ वह 'आभास' ही है— 'प्रतिष्ठा' नहीं। प्रगतिवादियों ने अपने यथार्थ को 'समाजवादी यथार्थ' की

संज्ञा प्रदान की है। उनका मंतव्य है कि जीवन और जगत् में लक्षित होनेवाली विसंगतियों और अन्तिविरोधों को कलाकार लक्षित करे तथा सच्चाई
और ईमानदारी के साथ उनका साहित्य में चित्रण करे। रामिवलास शर्मा,
नागार्जुन, शिवमंगल सिंह 'सुमन', रांगेय राघव, केदारनाथ अग्रवाल आदि की
साहित्यिक कृतियों में इस यथार्थ का चित्रण मिलता है। यहाँ जोला और
फ्लावेयर की भाँति केवल गहित और अधकार का ही नहीं, प्रशस्त और विज्ञानसम्मत प्रकाश की भावी संभावनाओं का भी अंकन होता है। यथार्थ प्रतिगामी
एवं प्रगतिगामी शक्तियों के संघर्ष का चित्र है। लेकिन व्यावहारिक रूप में
इसकी रचनाएँ सिद्धान्त की लीक छोड़कर काफ़ी इधर-उधर चली गई हैं।
इसीलिए इस वाद के नाम पर लिखी गई रचनाएँ यदि एक तरफ़ प्रचार के
धरातल पर निरा सपाट बन गई हैं तो दूसरी ओर श्रीकान्त वर्मा के शब्दों में
अतिशय रोमानी मनुष्य का भाववुकता पूर्णलेखन बन गया है।

प्रजातांत्रिक जीवन प्रणाली में आस्था रखने वाले बुद्धिजीवियों ने 'यथार्थ' की प्रगतिवादी धारणाओं एवं चित्रणों की मुखालफ़त की और साम्यवादी विचारधारा ने 'व्यक्ति'-हित में विसंगति देखी । इस धारा ने मनोविज्ञान की निष्पत्तियों को व्यक्तिगत यथार्थ चित्रण के लिए महत्वपूर्ण ममझा । प्लाख्-नोव का कहना है कि जब व्यक्ति 'अहं' को ही एक मात्र सत्य स्वीकार कर लेता है तब बाह्य जगत्या तो उसके लिए एकमद यथार्थ हो उठता है अथवा यदि यथार्थ हो भी तो उस सीमा तक जहाँ तक वह उसके अहं पर आधारित हो । 'शेखर: एक जीवनी' में इस अन्तश्चेतनावादी और विद्रोही का यथार्थ चित्रण मिलता है। यहाँ प्रेमचन्द एवं जैनेन्द्र की भीति व्यक्ति की समाज से या व्यक्ति से नहीं, वरन् व्यक्ति की स्वयं से एक तीखी ही संघर्ष-दिशा मिलती है । इसी अहंवादिता के कारण बाह्य यथार्थ के प्रति विमुख होकर प्रयोगवादियों ने अपने अन्तःकरण और उसमें उठने वाली भाव छवियों को ही एकमात्र यथार्थ समझा और चित्रित किया। वह यथार्थ से आगे बढ़कर अतियथार्थवादी चित्रणों तक गया। अपने अंतस् के अचेतन तल पर सर्जना के क्षण विशेष में उत्पन्न और अनायास अभिव्यक्त छायाओं और छवियों को ही काव्य का सत्य या यथार्थ कहा । अज्ञेय की ही पंक्तिया हैं-

> "आओ बैठो क्षण भर तुम्हें निहारू भिम्नक न हो कि निरखना दबी वासना की विकृति है।"

<sup>-- &#</sup>x27;हरी घास पर क्षणभर'।

वित्र का प्रेमाकुलभाव नहीं, वरन् अचेतन की अध्यक्त शंकाओं की अभिव्यक्ति है। का कि अभिव्यक्ति के अध्यक्त शंकाओं की

समाजवादी यथार्थ के विपरीत अपनी धाराणा व्यक्त करते हुए आयेंन्द्र शर्मा ने यथार्थ के दो रूप बताये हैं—लौकिक और साहित्यिक । फ़ोटोग्नाफिक एवं समाचारपत्रीय लौकिक यथार्थ से साहित्यिक यथार्थ का वैशिष्ट्य अपनी अनुभूतिमयता के कारण है। उनकी दृष्टि में वह सब कुछ यथार्थ चित्रण है जो पाटक को अनुभूति-मग्न कर दे। अनुभूतिगत तीव्रता से ही 'यथार्थ चित्रण' में यह शक्ति उत्पन्न होती है। शर्मा जी का यह 'यथार्थ' नितान्त व्यापक है, जो उनकी परम्परागत आनंदवादी मान्यताओं से समर्थित है।

· 'यथार्थ' के उपर्युक्त सभी रूप या तो वाद-ग्रस्त होने के कारण अतिवादी हैं या परम्परागत आनन्दवादी—आनन्दवादी दृष्टि से समर्थित होने के कारण 'नितान्त व्यापक—जिसमें स्वप्न, जाग्रत जब कुछ समा जाता है। प्रजातांत्रिक जीवन-प्रणाली में व्यक्ति-स्वातंत्र्य की माँग है और उसकी चेतना ने वाद-मूक्त ्यथार्थ का चित्रण किया है । अतिरिक्त भावुकता तथा आरोपित विचारधारा से -यथासंभव अपनी दृष्टि को तटस्थ रखकर उसने जीवन और जगत् को देखा है। तथाकथित मानवहितपरक विचारधाराओं और कर्म व्यापारों में इसने भी वर्तुदिक् विसंगति लक्षित की है। इस 'विसंगति' के धरातल से फूटने वाले नैराश्य, घुटन, कुण्ठा, विघटन आदि हासोन्मुखी स्थितियों का उन्होंने साक्षा-त्कार किया है और उसे वाणी दी है। यह भी संभव है कि साहित्यकारों में से अनेक ने आरोपित किया हो, कई एक ने केवल चितन की भूमिका पर ही उसका साक्षात्कार किया हो । इन नई कविता के पक्षधर साहित्यकारों का 'यथार्थवाद' इसलिए न तो 'प्रयोग' और 'प्रपद्मवादियों' का यथार्थवाद है और न तो प्रगति-वादियों का ही सामाजिक यथार्थवाद । वास्तव में ये ऐसे संब्रमण के विदु ्पर हैं जहाँ क्रमागत मान्यताएँ तो छोड़ी जा रहीं हैं पर स्थानापन्न कोई विचारधारा नहीं है। परिणाम यह हुआ है कि एक तरफ परम्परागत विचार-धारा की चेतना से मुक्त और दूसरी ओर चिन्तनजन्य (विसंगति का गहराई से चित्रण करते समय अचेतन में अध्ययन और पश्विण से प्रविष्ट विचारधाराओं का प्रभाव अनायास उभर आता है। यहाँ बाह्य परिवेश या भीतर से तज्जन्य सवेदनों की व्यक्तिगृत प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है। एक समीधक का विचार है कि जिन नये कवियों में वैचारिक पक्ष का अस्तित्व है उनके यहाँ कविता मात्र अनुभव चित्रण ही नहीं, बित्क वहअनुभूति और मनन शक्ति भी है जो

अनुभव के प्रति तीव्र और वैचारिक प्रतिक्रिया पैदा कर सके । ऐसे कवि कविता को यथार्थ के प्रति प्रौढ़ प्रतिक्रिया की मार्मिक अभिव्यक्ति मानते हैं। वैयक्तिक और बौद्धिक तटस्थता के कारण उनकी दृष्टि कहीं-कहीं व्यंग्यमयी भी हो गई है। इस प्रकार असैद्धांतिक और वैचारिक यथार्थवादी दृष्टि नई कविता में पाई जाती है, जो कभी व्यंग्य कभी वैचारिक और कभी भावकतापूर्ण भी हो गई है। ऊपर इनकी दृष्टि को असैद्धांतिक और वैयक्तिक कहा गया है। उसमें वैयक्तिक से तो किसी का कोई वैमत्य नहीं होगा, पर 'असैद्धांतिक' शब्द भ्रामक हो सकता है। असै द्धांतिक से मेरा तात्पर्य विचारशून्यता से तो कतई नहीं है। कारण, जहाँ अज्ञेय और मुक्तिबोध हों, वहाँ विचारणुन्यता हो और जिस साहित्य में बुद्धिरस की बात की जाती हो-विचार साहित्य हो, जिसने भाव कता के विरुद्ध प्रस्थान ही किया हो उसमें बौद्धिकता न हो, य ह संभव ही किस प्रकार है ? 'असाध्य वीणा'. 'आंगन के पार द्वार', 'अंधेरे में' जैसी कविताएँ और उससे संवलित नई कविता विचारशुन्य कैसे कही जा सकती है ? पर मेरे कहने का तात्पर्य यहाँ केवल इतना ही है कि प्रगतिवादी साहित्य की भाँति इसकी भी कोई एकमत संद्धांतिक पृष्ठ-भूमि नहीं है। अज्ञेय ने तारसप्तक के छत्र में कवियों को एकत्र करते हुए स्वीकार ही किया है सभी भिन्न-भिन्न राहों के अन्वेषी हैं, सबकी दृष्टि भिन्न है, साम्य है तो इनना ही कि शैलीगत प्रयोग की वृत्ति सब में है। अस्तु, कहा यह जा रहा था कि नयी कविता-युग की रचनाओं में यथार्थी-मुखी दृष्टि कभी व्यंगमयी, कभी वैचारिक और कभी भावकतामयी हो जाती है। कभी-कभी यथार्थ का स्वस्थ पक्ष भी चित्रित हुआ लक्षित होता है। एक एक उदाहरण से बात अलग हो जायगी । व्यंग्य के लिए सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की है कि एक लाए उंगाहरी की पंक्तियाँ लें :---हैं प्राति हो रही ने वर्ग है,

> "क्या कमाल है मेरे दोस्त! काश कि तुमने इन सांपों के शरीर को तितिलयों के परों से और मढ़ दिया होता, फिर तुम्हारों यह शान्ति असली शान्ति सी लगने लगती। क्या फौजी वर्दियों पर बुद्ध भिक्षुओं का गैरिक वसन

राष्ट्रसंघ के माध्यम से या यों भी बार-बार नि:शस्त्रीकरण एवं युद्धविराम और शान्ति की बात करने वाले प्रलयपोषकों से किव का यह व्यंगपूर्ण तीखा कथन हैं। दंशनशील रूप को छिपाने के लिए साँपों को चाहिए कि वे तितली का रंगीन पर मुखौटा के रूप में और लगा लें, फिर लोगों को आश्वस्त रख कर दंशन-कर्म निविझतापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है।

आज के एक दूसरे यथार्थ को वैचारिक गहराई दी है मुक्तिबोध ने।
मुक्तिबोध यथार्थ के किव हैं, पर उसे गहराई से पकड़ते हैं। 'यथार्थ' की
सतह पर जो कुछ घटित होता है, उसके मूल कारणों की ओर वे जाते हैं।
उनकी रचनाओं में आभ्यन्तर स्थितियों के विराट विश्व मिलते हैं। उनकी
रचनाओं को रुक-रुक कर और सोच-सोच कर पढ़ना पड़ता है। 'ब्रह्मराक्षस'
का ब्रह्मराक्षस है—अकाल काल-कविलत भारतीय चेतना जो सात्विक और
मानवीय है। अन्तश्चेतन से—भारत की अन्तश्चेतन की गुहा से उसकी भयावह आवाज ऊपर आती है अर्थात् भारत अपनी समग्रता में भीतर से चाहता
है उदात्त वृत्तियों को उजागर करना, पर विश्व की निर्मम और स्वार्थान्धवृत्ति उस पर इस कदर हावी है कि उसका साकार होना आज कटिन ही
नहीं, असम्भव जान पड़ता है। एक सार्वभीम अनुभूत यथार्थ का अपनी वैचारिक गहराई के साथ यह सकारण कथन है।

श्रीकान्त प्रगतिवादी यथार्थ में ही नहीं, नई कविता के यथार्थ में भी भावुकता और अतिरंजना देखते हैं। प्रेम के क्षेत्र में यथार्थ की एक भावुकतापूर्ण रचना लें—

तुम्हारे साथ रहकर
अक्सर मुझे ऐसा महसूस हुआ है
कि दिशाएँ पास आ गई हैं,
हर रास्ता छोटा हो गया है,
दुनिया सिमट कर
एक आंगन बन गई है।
तुम्हारे साथ रहकर
अकसर मुझे महसूस हुआ है
कि हर बात का मतलब होता है
यहाँ तक कि घास के हिलने का भी।

यथार्थ ने 'शपथ' नहीं ले रखी है कि वह कड़वा, गन्दा, अवांछनीय एवं बदबूदार ही होता है—वह मधुर और यत्र-तत्र उदात्त भी होता है।

क्या अज्ञेय का यह कथन भी यथार्थ के बाहर है-

"दुख सबको माँजता है और चाहे स्वयं सब को मुक्ति देना न जाने, किन्तु− जिसको माँजता है उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।"

निष्कर्ष यह है कि नई कविता में एक ओर जीवन की तीखी कड़वाहट, विसगति, संत्रास, घुटन, अजनवीपन, ऊब, मायूसियत एवं स्वार्थान्धता की बदरूप तस्वीरें तो पेश की ही गई हैं—कैलाश वाजपेयी की 'संक्रांत', हरीश भादानी की 'सुलगते पिण्ड', श्रीकान्त वर्मा, स्वयं अज्ञेय, मुक्बिध की रचनाएँ साक्षी हैं, तो दूसरी ओर आस्था की अरुणिमा और मानवीय मूल्यों के प्रति अटूट विश्वास भी है। विज्ञान और बुद्धिवाद ने अतीत धर्माध्यात्म पर आश्रित मान्यताएँ अवश्य ध्वस्त कर दी हैं, पर वहाँ 'मानव' का महत्वगान हुआ है — उसके अस्तित्व की प्रतिष्ठा हुई है। वहाँ मृत्यु की विभीषिका भी है, पर मृत्यु को सत्य के साक्षात्कार का माध्यम भी (आत्मजयी) बनाया गया है। इसीलिए यहाँ तक का 'यथार्थ' उतना बदरूप और केवल बदरूप नहीं है जितना '६० के बाद के युवा लेखन में । यहाँ तक तो जीवन और जीवन मूल्यों के साथ कलात्मक मूल्यों की भी बात होती रही, पर '६० के बाद की सर्वाधिक विसंगति और भय मुद्रा इतनी वेनकाब हो चुकी है कि अब 'मोह' का सवाल ही नहीं है। यही कारण है कि साठोत्तरी कविता या युवा और युवतर लेखन में 'विसंगति' दर्शन के स्तर पर नहीं, वरन जीवनानुभव के स्तर पर उतर आई है।

'६० के पूर्व के रचनाकार चिन्तन के धरातल पर भी विसंगित, सार्व-भौम संत्रास को साक्षात्कृत करते थे, किन्तु आज की सार्वित्रक (शिक्षा मंदिर, अस्पताल, शासन यंत्र, व्यावसायिक क्षेत्र, कार्यालय, अनाथालय, राज-नीति जगत् आदि जीवन के सभी क्षेत्र) विसंगित ने परिवेश में वह तापमान उत्पन्न कर दिया है कि भीतर का क्षोभ और तज्जन्य आक्रोश 'हाथ की छट-पटाहट' तथा 'तत्कालिक प्रतिक्रिया की 'भाषा' बन कर बाहर आ गया है। आज का भुक्तभोगी साहित्यकार राजनीति के पसरते हुए पंजे में इस प्रकार फँस गया है कि 'नये कवियों' की भौति चाहकर भी कतरा नहीं सकता। यह राजनीति प्रगतिवाद की राजनीति भी नहीं है। यह स्वार्थान्ध राजनीति आज घर-घर में घुस गई है, बाप-बेटे एवं पित-पत्नी के बीच भी अकड़ गई है। सभी सब को संदेह से देखते हैं और भिवष्य के प्रति अनाश्वस्त तथा वस्त हैं। १६६६ की शताब्दी में 'समकालीन किवता का संकट' पर विचार करते हुए 'अज्ञेय' ने कहा है—''अगर साहित्य जीवन के यथार्थ को ग्रहण करता है तो हमारे समकालीन जीवन का यथार्थ यह है कि वह दो एक पीढ़ी पहले की अपेक्षा राजनीति से बहुत अधिक आक्रांत है। यह भी सही है कि हमसे पहले का लेखक राजनैतिक जीवन की माँगों से कतराता आया है और अब वह ऐसा नहीं कर सकता। किव राजनीति को भी…फिलहाल किव भी राजनीति के दवाव का तीखा अनुभव कर रहा है। क्यों न करे ?"

वर्तमान यथार्थ की जो अभिन्यक्ति आज युवा-लेखन में हो रही है—
निश्चय ही वह पहले की तुलना में झल्लाहट का यथार्थ है और इसलिए
मुक्तिबोध की तुलना में सतही है। राजनीति से पहले की अपेक्षा कहीं अधिक
आक्रांत आज का युवालेखन 'पटकया' जैसी आज की लम्बी किवताओं में
वर्तमान यथार्थ का दस्तावेज ही तो प्रस्तुत करता है। इस संदर्भ की सपाटबयानी में विजयबहादुर सिंह और दिनकर सोनवलकर की रचनाएँ भी आज
देखी जा सकती हैं। आज के जीवन की सच्ची रचना रचने में व्यस्त ईमानदार और संभावनाओं के किवयों—सर्वश्रो चद्धकांत देवताले, कमलेश, विष्णुचन्द्र शर्मा, रमेश गौड़ एवं लीलाधर जगूड़ी आदि—में भी आज के तीखे
यथार्थ का बोध देखा जा सकता है। निश्चय ही आज का साहित्य महान
नहीं है, क्योंकि 'महान' का जन्म 'महान' से ही होता है। फिर भी
सतहीं और वदरूप यथार्थ के चित्रण की एक उपलब्ध अवश्य है और वह
है चित्रणगत वारीकी। डॉ॰ नामवर सिंह ने इसे यथार्थ चित्रण एवं वस्तु
अंकन की दिशा में विकास का चिह्न माना है।

आज का युवालेखक एक ओर जीवन और जगत् में व्यवस्था-गत विसंगति तया तज्जन्य कुछ्पताओं का साक्षात्कार करता है और दूसरी ओर अतीत, वर्जमान एवं भविष्य की इतिहास-श्रृंखला में अनुपयोगी रहने से अपनी नगण्यता का बोध। इस परिवेशगत विसंगति और आत्मगत नगण्यता—दोनों के सिम्मिलित बोध ने उसमें नान।विध व्यक्तियों और व्यापारों को मुखर किया है। साओत्तरी पीढ़ी में उगे हुए विविध आंदोलनों में इनकी छायाएँ देखी जा सकती हैं। नगण्यताबोध के कारण जीवन और जगत् के नगण्य गली-कूचे, वस्तु-व्यक्ति भी साहित्य में अपनी नगण्य वारीकियों के साथ उतर आये हैं—वह

चाहे कि विता हो या कहानी। यह अवश्य है कि किवता में अनुभूति की सांद्रता और कहानी में चित्रण की बारीकी दर्शनीय होती है। हिरिशंकर परसाई तथा शरद जोशी के निबंधों तथा कहानियों में इन सबकी परछाईं मिलती है। नई कहानी और नई किवता में कथ्य और चेतना का अन्तर मिलता है, परन्तु साठोत्तरी कहानी और किवता में ब्यौरे का—रूप और शैली का—अंतर भले हो, पर कथ्य और चेतना का अन्तर नहीं है।

विसंगित और नगण्यता का सिम्मिलित बोध मिलकर एक तरफ प्रगित-वादियों की भाँति नगण्य का सजीवता में समग्रता के साथ चित्रण करता जा रहा है तो दूसरी ओर लादे और निरर्थक से प्रतीत हो रहे 'विवेक' के धरातल की विविध विध नशाओं से भुलाकर अंतरचेतनावादियों की भाँति मन की अंधेरी गुफाओं से उभरे विंबों और प्रतीकों का सहारा लेकर आदिम और आज की सड़ी-गली दुर्व्यवस्था से अछूती आदिम मनोवृत्तियों को व्यक्त कर रहा है। यौन चित्रों का वस्तुगत और शैलीगत चित्रण इसी प्रतिक्रिया का परिणाम है—अनिवार्य अंग है। इमशानी पीड़ी के किंव सतीश जमाली तथा 'अकविता' के किंव जगदीश चतुर्वेदी की रचनाओं में यौन चित्रों का सायास उपस्थापित रूप है। समस्त संस्कारों से मुक्ति पाना अकविता की अनिवार्यता है। सतीश जमाली की किंतपय पिक्तयाँ देखें—

आदमी की जवान से यथार्थ का जितना भी बदतर और नग्न हैंप हो सकता है—इन तथाकथित मानोरोगियों के मुह से टपकता रहता है। युवाने बन के एक अंश का यह चटखारा भरने वाला यथार्थ है। सेक्स के यथार्थ का चित्रण करने वाला एक वर्ग वह भी है जहाँ यह महसूस किया गया जान

पड़ता है कि सेक्स का फ्रोम झूठा पड़ता जा रहा है। इससे तो कुछ आशा भी की जा सकती है।

विश्व के विभिन्न भूभागों में रूस, चीन और अमेरिका की उठापटक से संभावित अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर गिद्ध की तरह मँडराने वाली महाप्रलय की भयावह छाया भी यथार्थ युवालेखन में प्रतिविवित है। अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ की एक रचना है 'शान्तिदूत'—

दो महाद्वीप सुलग रहे हैं, दक्षिणी गोलार्द्ध में उठ
रही हैं लपटें,
केवल सिर कटे धड़
विलखते शहर
ओ शांति !
हवा में कौन-सा प्रपंच रचूं कि तुम्हें पा जाऊँ
केवल सिरकरों के दिये हुए वक्तव्यों पर
कैसे विश्वास का
सुलग रहा है वियतनामतुर्की का आधा धड़
कौन से मानवीय हांदेश को उच्चारित करता जा
रहा है यह लम्बा जुलूस ?

इस कोटि की अनिवार्य प्रतिक्रिया के लिए जिस विशालतम परिवेश में रहना चाहिए वह इन युवा और युवतरों के शीध्र झनझना उठने वाले स्वभाव के अनुकूल कम ही संभव है। दूसरे 'ईश्वर' और 'मनुष्य' की मृत्यु घोषित कर दिए जाने के बाद अथाह अवकाश में निरबलंब तथा सर्वतोमुखी अनिश्चय की स्थितियों में अकेला पड़ा हुआ मानव आज जिस भय एवं संत्रास का अनुभव करता है, यह भी वर्तमान यथार्थ का एक पक्ष है। पर यह अधिक चिन्तक और संवेदनशील लोगों में यत्र-तत्र दिखाई पड़ता है।

सबसे विश्वसनीय यथार्थ है उस परिवेश की प्रतिक्रियां से उत्पन्न व्यामोह की विडंबना उत्पन्न करने करने वाला लेखन जो राजनैतिक, सामाजिक तथा चारित्रिक मुल्यों के टूटने और सड़ने से उत्पन्न दुर्गन्ध द्वारा चरमरा रहा है। आज का सारा युवा लेखन ही इसका उदाहरण है।

इस प्रकार वर्तमान साहित्य में यथार्थ की विसंगति का यही विभिन्न रूपाकारों—सामान्य यथार्थ, प्रकृतवादीय यथार्थ, समाजवादी यथार्थ, आलोच- नात्मक यथार्थ, अंतश्चेतनावादी यथार्थ, मुक्त यथार्थ, खुरदरा यथार्थ—में व्यक्त होता हुआ शिखरोन्मुखी रूप है। जैसे छायावाद में वेदना और पीड़ा का गीत गाते-गाते वही प्रिय वन गई थी, वैसे ही आज संगतिहीनता का गीत गाते-गाते वही प्रिय वन गई। राजकमल यही कहता-कहता चला गया। सौमित्र मोहन संगतिहीनता को ही अपनी अभिव्यक्ति की अनिवार्यता मानता है। अधिक तो नहीं, पर अपना वक्तव्य समाप्त करते-करते यह कह देना आवश्यक समझता हूँ कि यह विसंगति जो सचमुच जीवन के ज्वालामुखी से परिवेश के दवाववश फूट रही है, सर्जना के संदर्भ में संगति की अनिवार्य पृष्ठभूमि है। मेरा तो पूर्ण विश्वास है कि अन्धकार के बाद जंसे प्रकाश का आना नितात अनिवार्य है उसी प्रकार विसंगति की पूर्णता के बाद पुनर्निर्माण के लिए संगति का आना अनिवार्य है।

They was decided a facility of course y a configuration are configurated as a facility of course y a configuration of the course of the course

deres all control of the core to three or the three of the core of the core of the core of the core of the core

ilev of more at a confidence of the property of the confidence of

ATTENDED TO THE THE STREET OF THE PROPERTY OF THE PARTY O

The delicionaries with the soften an expense for a blood and

there were the chideline at Valencia & dirt in

## ग्यारह | समीक्षा के बदलते प्रतिमान

क सरकड़एन प्रश्नी विषय एक यह वीर चैसे ही अरब अंगीसहीमुता पर ही स

प्रतिमान समीक्षा के संदर्भ में तो संभव ही है, संभव है मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन के संदर्भ मे भी। इन पंक्तियों में मैं 'समीक्षा' और 'मूल्यांकन' को भिन्नार्थक मान कर चल रहा हूँ — यद्यपि इस शीर्षक में ऐसा कुछ नहीं है। लगता है कि शीर्षक दाता मूल्यांकन और समीक्षण को स्थल दृष्टि से एक मानकर प्रतिमान पर विचार करने को कह रहा है। अस्तु।

ा कर एक र व्यवस्थानावादीय गयाचे, पुष्टा प्रचार्य, स्वायाप्त वार्षान् में व्यानानीय हुवा पैटारोजार्वी स्वयं है। संसे स्वायासम्ब से वेदसा स्रोप वीत्रा

THE SPEED OF THE PARTY OF THE PER

समीक्षण समीक्ष्य कृति के मूल में निहित संवेदना का साक्षात्कारपूर्वक विश्लेषण-गर्भ सर्जनात्मक पुनराख्यान है। 'संवेदना' या 'सर्जनात्मक अनुभूति' का साक्षात्कार सर्जक से तादात्म्य के साथ और विश्लेषण ताटस्थ्य के साथ ही अपेक्षित है। समीक्षण में तटस्थ विश्लेषण ही वह आवश्यक तत्व है जो उसे 'मूल्यांकन' से पृथक् करता है। मूल्यांकन में पहले 'मूल्य' निर्धारित होता है और फिर कृति पर उसका संचार होता है, जब कि समीक्षण में मूल्य की भाँति कोई प्रतिमान पूर्व-निर्धारित नहीं होता। साथ ही मूल्यांकन एक निर्णय है जिसमें मूल्यांकनकर्ता की रुचि का कहीं न कहीं जीवन और समाज के संदर्भ में लगाव है। समीक्षण में यह लगाव नहीं होना चाहिए। रिचार्ड स और इलियट के मंतव्य Criticism और Valuation के संदर्भ में देखे जा सकते हैं। इलियट मानता है कि समीक्षण कृति का निःसंग विश्लेषण है, जिसे शत्य चिकित्सक की शल्य-क्रिया से उपित किया जा सकता है। Value मानव जीवन का एक सुविधारणीय मूल्य है, जिसे ध्यान में रखकर मूल्यांकन किया जाता है।

समीक्षण मूल संवेदन और उसके व्यंजक उपकरण के बीच आनुरूप्य का शक्त और निःसंग विश्लेषण है। कविता या कला है भी तो संवेदन का अनु-

<sup>1.</sup> It is farely certain that 'Interpretation is only legitimate when it is not interpretation at all, but merely putting the reader in posssession of facts which he would otherwise have missed.' Selected Essays (1951)-BY T. S. Eliot, page 31.

ह्प माध्यम के साथ अभिव्यक्त हो जाना। इसीलिए कला की प्रांतिभ सृष्टि के विषय में कहा जाता है कि न तो वह अनू दित हो सकती है न ही आकार-प्रकार तथा माध्यम की दृष्टि से परिवर्तनशील। कला-चिन्तकों ने ठीक कहा है कि निर्माण की दृष्टि से काव्य एक अखण्ड व्यापार है। यह तो विश्लेषण के लिए साध्य और माध्यम के रूप में उसे द्विधा विभाजित कर लिया जाता है। किवता या कला का यह एक ऐसा प्रतिमान है जो उसके स्वरूप और अस्तित्व में है- ऊपर से थोपा हुआ नहीं। 'सटीक माध्यम' एक स्थिर प्रतिमान है, जिस पर सभी प्रांतिभ सृष्टियाँ समीक्षित हो सकती हैं। इस दृष्टि से कुछ लोगों का यह विचार है कि समीक्षण कला के इसी स्वायत्त प्रतिमान पर हो सकता है और मूल्यांकन वस्तु पक्ष से। मैं समझता हूँ, यह अंतर ठीक नहीं है। वस्तु, वर्ण्य या संवेदन की प्रकृति का भी शल्योकरण विभिन्न दार्शितक और वैज्ञानिक दृष्टियों के आलोक में संभव है। तंत्र की अपेक्षा वस्तुपक्षीय विश्लेषण के लिए अपेक्षित ये दृष्टियाँ परिवर्तनशील हैं और हो सकती हैं। अत: समीक्षण या तटस्थ विश्लेषण केवल तंत्र का ही हो सकता है, कथ्य या वस्तु का नहीं— मैं ऐसा भी नहीं मानता।

तटस्थ विश्लेषण या समीक्षण के लिए इन अपेक्षाकृत स्थायी प्रतिमानों के अतिरिक्त एक और तरह से भी प्रतिमान विचारणीय है। बात यह है कि प्रातिभ कृतिमात्र भाषा का माध्यम ग्रहण कर बाहर आते ही सामाजिक हो जाती है। सामाजिक का सामान्य अर्थ है सामाजिकता-संपन्न। पर अद्यतन संदर्भ को देखते हुए सामाजिक का अर्थ करना पड़ता है समाज से संबंध रखने वाला । समाज से संबंध अनुरूप भी हो सकता है और प्रतिरूप भी । आज सर्जना के क्षेत्र में सामाजिक मूल्यों के अनुरोधी भी संक्रिय हैं और विरोधी भी । उनकी रचनाओं में ये दोनों ही बातें उभरती हैं । वास्तव में देखा जाय तो विरोध स्वस्थ सामाजिक मूल्यों का नहीं है। विरोध है उस सत्ता और शक्ति का जो उन मूल्यों का दुरूपयोग करती है, इसीलिए स्वस्थ मूल्य भी विघटित हो रहे हैं - ऐसी उक्तियाँ अपनी अभिधेयात्मकता में सार्थक नहीं हैं, लक्षणा में ही चरितार्थ हैं। अस्तु, तो कह यह रहा था कि रचना भाषा का माध्यम पकड़कर बाहर आते ही सामाजिक हो जाती है। सामाजिकता विकर्षण में नहीं, आकर्षण में है और आकर्षण जहाँ होगा—सौदर्य वहाँ होगा । सौंदर्य के लिए व्यवस्था अनिवार्य है। इस प्रकार प्रत्येक प्रातिभ सृष्टि में सामा-जिकता →आकर्षण → सौंदर्य → व्यवस्था का क्रम होगा ही । व्यवस्था रचना या रचनाकार का 'बौद्धिक' पक्ष है। व्यवस्था का नामान्तर प्रतिमान भी हो सकता है। यह प्रतिमान कलागत है, वर्ण्यगत नहीं। विचार करने पर यह व्यवस्था भी तंत्रगत आनुरूप्य ही है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। वर्ण्य विकर्ष-णात्मक हो सकता है पर उसकी अभिव्यक्ति प्रभावशाली ढंग की तो हो सकती है। अतः विकर्षणात्मक वर्ण्य वाली रचना में भी तंत्रगत आकर्षण—सींदर्य—की व्यवस्था हो सकती है। यह बात अलग है कि विकर्षण की प्रवृत्ति असामाजिक है, अतः वह सामाजिक काव्य में कहाँ तक ग्राह्म या अग्राह्म है। यहाँ तक तो 'समीक्षण' और प्रतिमान की बात हुई।

संप्रति, मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन की दृष्टि से भी प्रतिमान विचारणीय है, कृति या समीक्ष्यकृति गत 'तंत्र' और 'संवेदन' का वस्तुमुखी विश्लेषण 'समीक्षण' का क्षेत्र है और स्वयम् 'संवेदन' की जीवन और समाज के संदर्भ में उपयोगिता तथा अनुपयोगिता, ग्राह्मता अथवा अग्राह्मता की दृष्टि से 'मूल्यांकन' का क्षेत्र । शीर्षक में जिन बदलते प्रतिमानों की बात की जा रही है, वे मूल्यांकन के संदर्भ में अधिक विचारणीय हैं। मूल्यांकन व्यक्ति अपने संदर्भ में भी कर सकता है, पर यहाँ विशेष गुगजीवन और समाज का संदर्भ ही संगत है। तंत्रगत आकर्षण के अतिरिक्त कृति में जिस वस्तुगत आकर्षण की बात कही गई है उसका संबंध सामाजिक समीक्षक की रुचि अथवा गुगजीवन और समाज की औसत रुचि से है। इस औसत रुचि की मात्रात्मकता अपने विकास में जब गुणात्मक परिवर्तन पा लेती है, तब इससे बेमेल पड़ने वाली रचना असामाजिक घोषित कर दी जाती है। इसीलिए शक्त कलाकार अपनी रचना को कालजमी रूप तक जब पहुँचाना चाहता है तब 'अद्यतन' वर्ण्य को 'चिरन्तन' तथा 'सनातन' भावभूमियों की पीठिका प्रदान करता है। समय के इतना बदल जाने पर भी कालिदास की रचनाओं का अवमूल्यन नहीं हो सका।

इस प्रकार प्रतिमान वह भी है जो कविता की पहचान कराता है और प्रतिमान वह भी है जो मूल्यांकन के काम आता है। इन दोनों के साथ प्रति-मान वह भी है जिसकी चर्चा रीति-ग्रंथों या लक्षण-ग्रंथों में मिलती है। इन सब में तीसरा प्रतिमान सच पूछा जाय तो नवनिर्मित कृति के संदर्भ में प्रति-मान ही नहीं है। वह तो प्रतिभा-विहीन अंधे अभ्यासायियों के हाथ की बंसाखी है।

तीसरे प्रकार के प्रतिमान के विषय में जो मेरी धारणा है— उसका आशय स्पष्ट करना आवश्यक है। रीति-ग्रंथों या लक्षण-ग्रंथों में जिन प्रतिमानों का उल्लेख है या सौंदर्य के मापदंडों की चर्चा है, उसके विषय में दो संभावनाएँ

हैं-एक तो यह कि क्या ये निरपेक्ष रूप से आविष्कृत हैं या लक्ष्य अथवा प्रतिमेय रचनाओं की अपेक्षा से ? बौद्धिक या बृद्धि की परिधि में निरपेक्ष नाम की कोई वस्त नहीं होती, फलतः उस प्रतिमान को पूर्ववर्ती प्रतिमेय की अपेक्षा में ही सुष्ट अथवा आविष्कृत मानना होगा। इस प्रकार प्रतिमेयान्तर-लब्ध-प्रतिमान का यदि मेयान्तर पर संचार किया जाय तो संभव ही नहीं, निश्चय भी है कि नव-सुष्ट प्रातिभ-कृति की तमाम काव्योचित संभावनाएँ और उपल-विधयाँ अनाकलित रह जायँगी । समस्त प्रातिभ सृष्टियाँ अपने में अभूतपूर्व होती हैं, फलतः उनमें अनाविष्कृत कलोचित भंगिमाएँ रहती हैं। उनका समाकलन उन्हीं रचनाओं में निहित प्रतिमानों से संभव है। ये प्रतिमान व्यष्टिभेद से भिन्न-भिन्न होते हैं, पर अपनी सामान्यरूपता में तंत्रगत व्यवस्था के आकार में सामान्य भी । इस प्रकार सैंद्धांतिक ग्रंथों में निरूपित प्रतिमानों की इसी स्थित को समझकर सैद्धांतिक प्रतिमानों की चर्चा करने वाले आचायों ने भी कह दिया है कि सर्जक और समीक्षक दोनों को कलोचित आकर्षण या सौंदर्य को मूर्त करने में अपेक्षित व्यवस्था या प्रतिमान का अविष्कार या उपयोग अपनी सझबुझ से करना चाहिए-चली आती हुई लकीरों के आधार पर नहीं। कुछ ऐसे सैद्धांतिक प्रतिमान भी हैं जो रचना-प्रकिया की तंत्रगत सामान्यरूपता की प्रकृति के अनुरूप हैं, अतः उनका उपयोग तंत्रगत निःसंग विश्लेषण में किया भी जा सकता है। अपने रूढ़ रूपों और उपरूपों की तह में निहित अलंकार, भाव, ध्वनि, वक्रता और औचित्य ऐसे ही तंत्रगत सामान्य प्रतिमान हैं। अत: अभिव्यक्ति की प्रभावशीलता के विश्लेषण में इनका और इन जैसों का उपयोग किया जाता है।

उपर्युक्त त्रिविध प्रतिमानों में से प्रथम की बात तो हो चुकी है संप्रति, अविशिष्ट दो की बात गेष है। दूसरा प्रतिमान वह है जिससे 'कविता' की पहचान होती है। कविता मात्र जिस सर्वानुगत सामान्य ढाँचे से पहचानी जाती है, वह है—सर्जनात्मक अनुभूति का सटीक शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त होना। आनन्दवर्द्धन ने इसी की प्रत्यभिज्ञा 'ध्विन' के रूप में की थी और कुंतक ने 'वक्रोक्ति' रूप में। स्वच्छंदतावादी समीक्षक कि पंत ने 'चित्रभाषा' के रूप में उसी को पहचाना था, प्रयोगवादी उसी 'सटीक' की खोज में ये और नक्तवादी ने दृक्वाक्पदीया प्रणाली के रूप में 'सही नाम' की ओर संकेत उसी आशय से किया था। आज 'अकविता' का पक्षधर श्याम परमार भी कला की सार्यंकता 'सही शीर्षंक' ढूँढ़ निकालने में करता है। निकट अतीत में प्रकाशित आवेग के 'समकालीन किवता की पहचान' शीर्षंक विशेषांक में

त्रमुत्राज ने अपनी ही कविता की समीक्षा करते हुये प्रतिमान की वात की है और सार्ज का साक्ष्य देते हुये कहा है—'कविता को इसी आधार पर जाँचना अधिक ठीक रहेगा—क्या इसकी आन्तरिक बुनावट भाषा या इमेजरी इसमें घटित एक्शन को प्रभावशाली ढंग से ला पाती है या नहीं ? वस्तु स्थिति और उसके प्रति ईमानदार रुख इसमें है या नहीं । 'स्पष्ट है' इस प्रतिमान में भी वही हजार वर्ष से भी पुरानी कही गई बात स्वतः स्फूर्त ढंग से दुहराई गई है। यह प्रतिमान ऐसा प्रतिमान है जिसके आधार पर 'कविता' सदा पहचानी जाती रही है।

तीसरा अविशिष्ट प्रतिमान है मूल्यांकन का। मेरी धारणा यह है कि मूल्य का सम्बन्ध 'वस्तु' से ही जोड़ा जाना चाहिये। कला या तन्त्र पक्ष से 'किवता' का सबसे बड़ा मूल्य यही है कि वह 'किवता' हो और कुछ नहीं। किवता अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति की सम्पूर्णता में जीवन और समाज की दृष्टि से उपयोगी या अनुपयोगी भी हो सकती है। भारतीय क्लैसिकल चिन्तन का वस्तुपक्षीय मूल्यवान प्रतिमान रसात्मक था—सारे चिन्तन में जोड़ घटाव के बाद अविशिष्ट स्थिर एवं उत्कृष्ट जीवन मूल्य के रूप में। बात यह है कि धर्म तथा अध्यात्म से नियंत्रित विश्वमानस के सन्दर्भ में 'भारतीय' मानस आत्मोपलिब्ध को सबसे बड़ा मूल्य मानता था, उससे बड़ा कोई मूल्य नहीं था और 'आत्मा' के लिये 'रसो वै सः' की श्रुति रही है। काव्य में रसोपलिब्ध को सबसे बड़ा मूल्य माना गया। जीवन और समाज का सन्दर्भ होने के ही कारण औचित्य, जो सामाजिकता का पर्याय है, रस सामग्री की जान मानी गई। तन्त्र पक्ष से वह औचित्य क्षेमेन्द्र के शब्दों में 'आनुरूप्य विधान' मात्र था।

'विज्ञान' के प्रभाव ने समस्त विश्व मानस को जाने अनजाने प्रभावित किया और धर्म तथा अध्यात्ममूलक तमाम मान्यताओं को निरस्त और शिथिल किया। हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में वस्तु पक्षीय मूल्यांकन की ओर से सोचते हुये उल्लेखनीय मोड़ देने वाले आचार्य हैं—रामचन्द्र शुक्ल। इनका स्पष्ट उद्घोष है कि साहित्य या काव्य के क्षेत्र से अध्यात्म शब्द को निकाल कर बाहर फेंक देना चाहिये। 'विश्व साहित्य' की भूमिका से स्पष्ट है कि शुक्ल जी विज्ञान की विभिन्न शाखाओं से सुष्टि के सम्बन्ध में विकासवादी सिद्धान्त से और कुल मिलाकर 'बुद्धिवाद' से कितना प्रभावित थे। उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि काव्य का सम्बन्ध मनोमय कोष से है, उससे ऊपर नहीं। मन का सम्बन्ध मनोमय कोष से है, अतः रसात्मक

प्रतिमान को स्वीकार तो किया शुक्ल जी ने भी परन्तु उसका वह स्वरूप नहीं रहा जो शास्त्रीय युग में था।

इनका रसात्मक प्रतिमान मनोविज्ञान तथा निजी लोकमांगलिक दृष्टि पर प्रतिष्ठित था—अध्यातम और तन्मूलक दार्शनिक मान्यताओं पर नहीं। इसमें द्विवेदीयुगीन वृत्ति-परिष्कार-परक नैतिकता का स्वर मुखर है। शुक्ल जी की दृष्टि में प्रत्यक्ष चक्षुगोचर तथा मनोगोचर 'लोक' से न बड़ी कोई सत्ता है और न उसकी व्यवस्था और स्थिति के लिए अपेक्षित मूल्यों से बड़ा कोई मूल्य। मानव जीवन का चूड़ान्त उत्कर्ष उनकी दृष्टि में व्यक्ति सत्ता का लोक सत्ता में विलयन ही था—और शुक्ल जी की दृष्टि में यही रसात्मक मानस दशा थी। इसी मूल्यांकन प्रतिमान पर शुक्ल जी ने सभी पुराने तथा नए साहित्य को कसा । फलतः कितपय परम्परागत मान्यताएँ उलट गईं और कितपय नई स्थापित हुईं। परम्परा के साहित्यकाश के सूर और उडुगन सूरदास और केशव का अवमूल्यन हुआ और जायसी, तुलसी, घनानन्द तथा पंत का संवंधन।

शुक्ल जी के इस प्रतिमान-परिष्कार के संदर्भ में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि सूर की विरह-व्यंजना को जुलसी की विरह-व्यंजना की अपेक्षा हलका और उपहासास्पद निरूपित करने वाले शुक्ल जी समीक्षक-धर्म निबाह रहे हैं या युग-धर्म ? समीक्षक मूलसंवेदना का साक्षात्कार करता है और पाठक को तथ्यों से अवगत कराता है—मूल कृति की आकृति में अपनी ओर से आंख-कान लगाकर उसकी प्रत्यभिज्ञा में बाधक नहीं बनता । वह संवेदना के घटक अवयवों—भाव तथा विचार दोनों—को आनन्दवर्द्धन के शब्दों में "बुद्धौतत्वार्थ दिशान्याम्" (न कि "नवनवोन्मेषशालिन्याम्) उभार लेता है और ज्यों का त्यों रख देता है । शुक्ल जी ने वल्लभाचार्य की दृष्टि को हटाकर लोकमांगलिक दृष्टि को जोड़ दिया है, फलतः गोपियों का साम्प्रदायिक पलकान्तर-वियोग उन्हें उपहासास्पद और हलका लग रहा है ।

छायावादी समीक्षकों और किवयों ने शुक्ल जी के नीति-गर्भ मूल्यांकनोप-योगी रसात्मक प्रतिमान को अस्वीकार कर दिया और अध्यात्म तथा रहस्य की पीठिका पर प्रतिष्ठित होने वाले निरपेक्ष सौंदर्य तथा आनन्द को काव्य के सर्वीच्च मूल्य के रूप में पुन: प्रतिष्ठित किया। वस्तुत: देखा जाय तो आरम्भ में इस धारा के शक्त समीक्षकों ने परम्परागत समस्त प्रतिमानों को सर्जनात्मक प्रतिभा की माप के लिए अपर्याप्त ठहराया पर ज्यों-ज्यों उनमें थिराहट आती

गई और जीवन, समाज और परम्परा का संदर्भ गहराता गया, रसात्मक तथा ध्वन्यात्मक प्रतिमानों का छायावादी रचनाओं के संदर्भ में भी उनकी संभाव-नाओं में यथोचित परिष्कार के साथ ग्रहण किया। शुक्ल जी ने रसात्मक मनोदशा को, सात्विक मनोदशा को अपने आप में कोई मूल्यवान या सार्थक वात न मानकर मानवोचित कर्त्तव्य प्रेरक के रूप में मूल्यवान कहा था। रसात्मकता उनकी दृष्टि में साधन थी, साध्य नहीं। उन्होंने काव्य की परि समाप्ति चर्वणविश्रांति में नहीं, कर्त्तव्य विश्रांति में मानी थी। रसात्मक प्रतिमान की अध्यात्ममूलक दार्शनिकता को अपदस्थ कर बुद्धि और विज्ञान का सहारा लिया था । मनोमय और विज्ञानमय कोशों के बीच ही कारियत्री तथा भावियत्री की क्रिया को सीमित कर दिया था। इसके साथ ही रसात्मकता के लिए अपेक्षित विभावचित्रण और सदर्भ-कल्पना को महत्व दिया था। छायावादी कवि और चिन्तकों की विशेषता यह थी कि उनमें नवजागरण की राष्ट्रीय चेतना नितान्त तीव्र और प्रखर होने के साथ-साथ भारत के साथ भावात्मक भूमिका पर समग्र रूप में जुड़ी थी, वे भारत के आध्यामिक व्यक्तित्व को अपनी प्रकृति वस छोड़ नहीं सकते थे। अतः मध्यकाल की रूढ़ियों के जाल को चीरते हुए उनकी दृष्टि अतीत के जीवन मूल्यों की ओर गई । अपने समय के संदर्भ में इन लोगों ने उन मूल्यों की संभावनाओं का साक्षात्कार किया और उनके साथ अध्यात्ममूलक मूल्यों को पुनरुज्जीवित किया । आप चाहें तो इसे उग्र राष्ट्रीयताबाद कह सकते हैं।

इस संदर्भ में इन छायावादी किवयों और चितकों ने भी आत्मोपलिब्ध को पुनः मूल्यवान घोषित किया और रसात्मकता या आत्मा के धरातल पर निरपेक्ष सींदर्भ तथा आनंद को जीवन का सर्वोच्च मूल्य बताया और उसकी दार्शिनक पुष्टि भी की । 'कर्त्तं व्य-विश्वांति' की जगह चर्वणा-विश्वांति को इन लोगों ने पुनः प्रतिष्ठित किया । जहाँ शुक्ल जी ने अपनी वस्तुमुखी और लोकमंगलमुखी वृष्टि से काव्य में विभाव-चित्रण और तदर्थ कन्पना को महत्त्व दिया था, वहाँ छायावादियों ने अपनी प्रकृति के अनुरूप भाव-व्यंजन, आत्माभिव्यंजन के संदर्भ में कल्पनाप्रसूत सौदर्य छिवयों को महत्त्व दिया । ये ही मूल्य किवत्व के निकष बने । भाव के धरातल पर शुक्ल जी ने भी प्रेम और करुणा को बीजभाव कहा था और मानवीय कर्तव्य के संदर्भ में उन्हें सर्वाधिक मूल्यवान कहा था । इन दोनों में से अन्यतर प्रेरित भावनाएँ सदा ही मूल्यवान मानी गईं । छायावादी काव्य में भी प्रेम और करुणा का गान हुआ । करुणा को मानवता के सिर की रोली कहा गया। पर जो तरल भावमय व्यक्तित्व की

वक्र एवम् ध्वन्यात्मक व्यंजन-भूमिका छायावाद में है, वह द्विवेदीयुगीन रचना में कहाँ ?

प्रगतिवादी धारा के मुल्यांकनोपयोगी प्रतिमान के रूप में यहाँ भी रसात्मक प्रतिमान का कम यशोगान नहीं हुआ। वह यहाँ भी ग्राह्म हुआ पर कतिपय नियंत्रणों के साथ । शुक्ली जी सम्मत रसात्मक प्रतिमान के साथ (कुछ बातों को छोड़कर) प्रगतिवाद के संदर्भ में गृहीत रसात्मकता को जोड़कर देखा जा सकता है। प्रगतिवादी समीक्षक डॉ॰ रामविलास शर्मा का कहना है कि रसा-त्मक प्रतिमान उनके बड़े काम का है, पर उसे केवल कुछ खानों में बाँटकर रखना उचित नहीं है। दूसरे यह साहित्य और उसकी वैचारिक पीठिका लोक को ही महत्व देती है, लोकातीत आत्मा को नहीं। इसीलिए इस साहित्य का भी लक्ष्य मनोवेग को उत्तेजित कर समाज की शक्ति को निगतिशील तत्वों के धर्षण तथा प्रगतिशील तत्त्वों के कार्यान्वयन में है। अतः इनकी रसात्मकता का संबंध समूचे समाज से नहीं प्रत्युत समाज की प्रगतिशील संभावनाओं से संबंधित सर्वहारा वर्ग के ही सामूहिक भाव से हो पाता है । पूर्ववर्ती प्रतिमानों की अपेक्षा इस धारा ने अपना मूल्यवादी स्वर इतना उदग्र और उदग्रीव कर दिया कि सौन्दर्य और उपयोगिता पर्यायवाची ही मान लिए गए । संभव है, इस धारा की रचनाओं में कलात्मक निखार की संभावनाएँ इसीलिए पर्णतः उभर न पाई हों।

प्रगतिवाद के साथ-साथ इसीलिए उसकी विचारधारा से सहमत होते हुए भी कलात्मक तंत्रपक्ष से असंन्तुष्ट रचनाकारों ने अपना तंत्रगत प्रस्थान ही अलग कर लिया। विज्ञान के प्रभाव में 'सत्यान्वेषी' चिंतक भी 'भावुकता-तिरेक' तथा बद्धमूल 'दृष्टि विशेष' को सत्य की प्राप्ति में अवरोधक घोषित करते हुए 'प्रयोग' का प्रस्थान ढूंढ़ने लगे। इन लोगों ने विभिन्न रूपों में बदलकर फिर भी अस्तित्वकामी रसात्मक प्रतिमान को युग और व्यक्ति की मान-सिक बनावट तथा बुनावट के परिप्रेक्ष्य में अपर्याप्त ही नहीं, असंभव भी कहा। शुक्ल जी को अपने पूर्वज के रूप में प्रगतिवादियों ने ही नहीं, 'प्रयोग' और नई-किवता के विचारकों ने भी रेखांकित किया। इन लोगों का कहना है कि रसात्मक अनुभूति के लिए व्यक्तित्व का विलयन शर्त है और सत्यान्वेषी के लिए उसका बनाए रखना आवश्यक है। सहअनुभूति की बात इसी रस-विरोधी स्वर में डाँ० जगदीश गुष्त ने की थी। सजग व्यक्तित्व ही सत्यान्वेषी हो सकता है। 'सत्य' पर परदा डालने वाली समस्त परस्परागत धारणाएँ इनके लिए अमान्य

थीं जमी हुई सारी दृष्टियाँ उपेक्षणीय थीं । इन लोगों ने विज्ञान-प्रसूत मान्य-ताओं के आलोक में लोक से संबंध बनाने की पहल की और संबंध को काव्या-भिव्यक्ति के लिए रागात्मक भी । इनके यहाँ सब कुछ अभी 'प्रयोग' में ही है, अतः जहाँ जीवन का लक्ष्य ही और उसका दर्शन ही अनिश्चित है, 'प्रयोग'-काल में है, वहाँ 'मूल्य' की बात क्या की जाय ? वहाँ सबसे बड़ा मूल्य यही है कि भोगे हुए सत्य को ईमानदारी के साथ सटीक शब्दों में व्यक्त किया जाय। इस प्रकार इन्होंने अनुभूत सत्य को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया, वह 'सत्य' साधारण से असाधारण होकर पुनः साधारण बनना चाहता है और तदर्थ रच-यिता माँजे हुए माध्यम को ही अपनाता है या महत्त्व देता है। वस्तुगत मूल्य की अनिश्चित स्थिति में तंत्रगत मूल्य जो समीक्षण का प्रतिमान है (मूल्यांकन का नहीं) वही अपनाया जा रहा है। आप चाहें तो इसे 'मूल्यांकन' नहीं भी कह सकते हैं। कह सकते हैं कि अभी यह धारा मूल्यों की तलाश में है। ऋतुराज वाली बात पहले कही ही जा चुकी है। भारतीय चिन्तक इस तंत्रगत प्रति-मान को ध्वनिवाद का ही प्रमुख पुनरुत्थान कहना चाहेगा। नागार्जुन, अज्ञेय, मुक्तिबोध तथा शमशेर-सभी 'व्यक्ति सत्य' की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों को मांजने और संघर्ष की बात करते हैं। वस्तुगत मूल्यांकनोपयोगी प्रतिमान की बात उसी धारा के लिए की जानी चाहिए जो उपलब्धि बन गई हो। जिस धारा का लक्ष्य ही अनिर्धारित है, इसके लिए उपलब्धि की बात किस प्रकार की जाय ? जो धारा अभी परिपक्व होने की प्रक्रिया में है-जिसकी लंबाई, चौड़ाई, ऊँचाई तथा गहराई अभी तय नहीं हो पाई है, उसके लिए प्रतिमान की बात क्या की जाय ?

नई चेतना परम्परागत मूल्यों से विद्रोह कर के पृथक् हुई थी। यह थिराहट आने पर जब वह पुनः अपने को इलियट की भाँति 'परम्परा' और 'परम्परागत मूल्यों' से जोड़ने की ओर मुड़ गई तब उसकी संतित ने उससे पुनः विद्रोह किया और अपना अलग प्रस्थान लाना चाहा—उसे परस्परा से सर्वतोमुखी विच्छिन्न करने के लक्ष्य में 'अ-प्रस्थान' कहना चाहा। वास्तव में प्राक् स्वातन्त्र्य-काल में स्वातन्त्र्य-लाभ लक्ष्य था और उसके लिए त्याग आदि सामाजिक तथा राष्ट्रीय मूल्य व्यवहार में जीवित थे। स्वातन्त्र्य-लाभ के अनन्तर 'शक्ति' एवं 'सत्ता' के केन्द्रों ने अपने को 'सामाजिकता' की ओर से 'व्यक्ति' की ओर, त्याग की ओर से 'माँग' की ओर केंद्रित करना आरंभ किया। परिणाम यह हुआ कि 'सामाजिकता' से 'व्यक्ति' की ओर केन्द्रण का एक दुनिवार प्रवाह ही चल

पड़ा। समाज के संधारक मूल्य या तो नक़ाब बन कर वाणी तक ही सीमित रह गए या प्रतिक्रिया में थूंके थुत्कारे जाने लगे। परम्परागत मूल्य जीवन से हटने लगे और नए मूल्यों के आविर्भाव का द्वार ही बन्द हो गया। 'व्यक्ति' से 'समाज' की ओर प्रस्थान में ही संघटन-संश्लेष तथा आकर्षण है और 'समाज' से 'व्यक्ति' की ओर आने में विघटन, विश्लेष तथा विकर्षण । आज आमने-सामने जो दो दल हैं, उनमें से एक सत्ताधर और शक्तिधर है तथा दूसरा उनके स्वार्थों की चक्की में पिसने वाला मानस । इस मानस से जो भोगा हुआ सत्य निकलेगा, वह प्रतिक्रिया का ही होगा। यही कारण है कि आज कविता 'हाथों की छट-पटाहट' कही जाने लगी है। इस स्थिति में आस्था के गीत कम और अनास्था के गीत ज्यादा गाए जाने लगे हैं। आस्था और भावना का गायक 'अनास्था' और 'विद्रोह' के गायक से विरोधी शिविर में आता जा रहा है। सवाल आस्था और भावना के संदर्भ में रचना करने वाले के लिए मूल्य का नहीं है। सवाल अनास्था और विद्रोह की कविता के लिए वस्तुगत मूल्यांकनोपयोगी प्रतिमान की है। सत्ता और शक्ति की नक़ाबधर चक्की में पिसते और खौलते हुए युवारक्त ने प्रतिक्रियागर्भ रचनाओं में समाज की विद्रूपता और विघटन के प्रति कहीं व्यंग्य और कहीं आक्रोश व्यक्त किए, कहीं विसंगति और दरारें विनिर्दिष्ट कीं । विद्रोह और निषेध ही इनके नारे बने । सो इस कथ्य का मूल्य अपनी इमान-दार व्यंजना में इतना ही है कि वह जमें और जड़कल्प मूल्यों को वेग के साथ या तो पुनः जीवन से जोड़ने की ओर समाज को उन्मुख करे अथवा नए मूल्य की पीठिका बने । सृष्टि अपने ध्वंस में रचना का एक पक्ष ही व्यक्त करती है । शर्त इतनी ही है कि यदि इस ध्वंसात्मक वृत्ति का लक्ष्य रचना हो, तो रचना की दृष्टि से किया गया संहार भी बड़ा ही मूल्यवान् है। नई चेतना के काव्य का मूल्यांकन संप्रति इसी दृष्टि से हो सकता है कि रचना की सच्ची आग उससे लिखवा रही है या सस्ते यश की दलवादी भूख ? है किए कि कि कि कि

का पद्म है। कर है की चित्र करी अवले अध्यक्त अधिमान का सहस्त

### बारह | समीक्षण और मूल्यांकन

yn madde fyna'r ffnin arf a'i ddie i'r dryn arrein a redau f rei r 12 gaffe ngyr c'harnisad gafar ddie Starra d'y 'i dael fa ga py 14 gaffer y gasthau gasthau ar gasthau a ffrei a gasthau a

Pop

कोई कोई पण्डितमन्य पूर्व सूरियों के साक्ष्य पर और कोई स्वयम् के वल पर समीक्षण तथा मूल्यांकन दोनों को एक समझते हैं। मेरा विचार इनसे भिन्न है। मैं यह मानता हूँ कि समीक्षण का संबंध प्रस्तुत संदर्भ में रचनात्मक कृति से है। समीक्षण के लिए जिस तरह की प्रतिभा अथवा बौद्धिक क्षमता की आवश्कता होती है-आनन्दवर्द्धन के शब्दों में वह 'तत्वार्थर्दाशनी' है, जो पहले से है। आलोचक उसी के तात्विक ग्रहण में क्षम है। रचना में पहले से दो ही सामग्री है संवेदन और तद्नुरूप प्रकाशनक्षम उपकरण। संवेदन में भी दो अवयव हैं भाव तथा विचार। उपकरण में इनकी प्रकाशक सामग्री है। समीक्षक रचियता के साथ तादात्म्यापन्न होता हुआ सर्वप्रथम इसी 'संवेदन' का ग्रहण करता है और फलतः तत्वार्थदर्शी कहा जाता है। तत्पण्चात् वह यह देखता है कि 'संवेदन' और 'माध्यम सामग्री'—दोनों के बीच प्रेषणीयता के धरातल पर 'अपरिवृत्तसह आनुरूप्य' है या नहीं ? अपरिवृत्तिसह आनुरूप्य से हमारा तात्पर्य यह है कि प्रकाश्य= संवेदन और प्रकाशक सामग्री ऐसे अविच्छेद्य रूप में समरस हों कि इनमें से किसी को भी रंचमात्र पर्याय प्रयोग से स्थानान्तरित न किया जा सके। इसीलिए वयस्क रचना के निकष रूप में प्रायः मर्मज्ञ जन कहा करते हैं कि उसका 'अनुवाद' नहीं हो सकता । इस आनुरूप्य परीक्षण में समीक्षक को 'तटस्थ' भी होना पड़ता है। आनुरूप्य परीक्षण के द्वारा समीक्षक अभिव्यक्ति की क्षमता और कमज़ोरी का भी इज़हार करता जाता है। इस क्षमता और कमजोरी का इजहार करने के लिए यदि हमने क्रमागत प्रतिमान का सहारा लिया, पूर्वलब्ध प्रतिमेय से प्राप्त प्रतिमान का प्रयोग किया तो संभव है कि आलोच्या वयस्क कृति की कलोचित संभावनाओं का अनाकलन कर जाय । कारण, प्रत्येक रचनात्मक वयस्क कृति का प्रतिमान प्रातिभ-सृष्टि होने के कारण उसके अपने सर्ग से निकलता है। प्रतिमान रचनात्मक कृति में निहित व्यवस्था या कलागत बुद्धिपक्ष का ही नामान्तर है । समीक्षक अपना क्षेत्र इसी कलागत बुद्धि पक्ष या व्यवस्था के परीक्षण तक सीमित रखता है।

वह कहता है कि किव या रचियता की रचना सामाजिक है। कारण, वह भाषा के सहारे 'व्यक्ति' से निकल 'समाज' के साथ अपना सम्बन्ध करती है। आसाधारण से 'साधारण' बनना चाहती है। सामाजिक बनने की आकांक्षा रखने वाला 'विकर्षण' या 'विघटन'-कारी तत्वों को नहीं, विपरीत इसके 'आकर्षण' या 'संघटन'-कारी तत्वों को अपनाता है। आकर्षण जहाँ होगा, सौंदर्य वहाँ होगा और सौंदर्य जहाँ होगा, व्यवस्था वहाँ होगी। 'व्यवस्था' यि अपित्वृत्तसह आनुरूष्य से सम्पन्न है तो वही उस कृति का शक्त प्रतिमान है। प्रतिमेयान्तर लब्ध प्रतिमान मेयान्तर के लिए अनुपयोगी और अपर्याप्त है— शर्त यह है कि वह आलोच्य कृति 'वयस्क' हो।

अव सवाल यह है कि 'सींदर्य' केवल 'अभिव्यक्ति' में है या 'संवेदन' में भी ? 'संवेदन' में यदि सौंदर्य हो भी अपनी सामाजिकता में तथापि दूसरा प्रश्न यह है कि व्यावहारिक और कलात्मक सींदर्य में कोई अंतर है या नहीं ? रिचार्ड्स का विचार है कि सौंदर्य जैसी कोई वृत्ति है ही नहीं-यह तो एक आरोपित धर्म और संज्ञा है। जीवन में सुन्दर या आनन्दकर नाम की वस्तु एक ही है—और वह है वस्तुतः मानव-<mark>वृत्तियों का व्यवस्थितीकरण ।</mark> वह चाहे व्यवहार हो या काव्य, इसी स्थिति को हम सुन्दर अथवा आनंद कहते हैं इसके अति-रिक्त और कुछ नहीं । अभिव्यक्ति भी सुन्दर है तो इसीलिए और संवेदन घटक अवयव भी सुन्दर हैं तो इसीलिए। मूल प्रतिमान है वृत्तियों में सामजंस्य। जो संवेदन या सामग्री जितनी मात्रा में यह कार्य कर सके, वह उतनी ही मूल्यवान् है। कृति के समीक्षण का अभिप्राय इस प्रकार यही मूल्यांकन है-फलतः प्रमीक्षण और मूल्याकंन में कोई अंतर नहीं। रिचार्क्स इतना अवश्य मानता है कि कलाकृतियाँ इस तनाव के युग में वृत्तिसामंजस्य का मूल्यवान् स्रोत हैं, जिसके कारण मनुष्य का व्यक्तित्व विघटित होने से बच जाता है। रिचार्ड्स की यह स्थापना मनोविज्ञान की विशेष निष्पत्तियों के आलोक में निर्धारित कला सृष्टि की रचना-प्रक्रिया से सम्बद्ध है । उसकी मान्यता ही है कि कलाकृति एक भावात्मक परिणति है—स्थिति विशेष के मानस की प्रसूति है। यह स्थिति विशेष और कुछ नहीं, वृत्तियों का सामजंस्य ही है। इसीलिए उसके शब्दों में 'अर्थ' का 'अर्थ' वह नहीं है जो वस्तुवादियों के यहाँ है। उसके यहाँ 'अर्थ' का 'अर्थ' है-भाव विशेष । उसकी अभिव्यक्ति में प्रयुक्त 'अर्थ' वस्तुवादी और व्यावहारिक दृष्टि से 'सत्य' या 'मिथ्या' होने की अपेक्षा नहीं रखते। कि कार्क विकास करते जो कि विकास कि विकास कि विकास

रिचार्इ स की इन मान्यताओं के विषय में अब और अधिक कुछ कहने की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि उसने जिन मनोवैज्ञानिक निष्पत्तियों पर अपनी मान्यताएँ खड़ी कर रखी थीं, वे परवर्ती निष्पत्तियों के आलोक में अमान्य हो चुकी हैं। स्वयम् मनोविज्ञान की अन्यान्य निष्पत्तियाँ विज्ञान की अन्य शाखाओं के आलोक में असंगत या विरुद्ध पड़ जाती हैं। अतः रिचार्ड स की दुहाई देकर जो लोग समीक्षरण तथा मूल्यांकन को एक कहना चाहते हैं, वे स्वतः सोचें कि उनका यह कहना कहाँ तक ठीक है।

बात जो भी कहेगा, वह किसी न किसी दृष्टि से या अपेक्षाबुद्धि से कहेगा और अपेक्षा अपने आप में अंतिम या निरपेक्ष से स्वभावतः विरुद्ध है। इसलिए मैं जो कुछ कहने जा रहा हूँ वह भी अंतिम नहीं हो सकता, यह ठीक है; तथापि अंव तक जो कुछ अपेक्षाकृत सही जान पड़ता है, वह तो कह ही सकता हूँ।

इस संदर्भ में मूल प्रश्न यह है कि संवेदन घटक अवयवों के सौंदर्य-असींदर्य की अपेक्षा न करके भी क्या अभिव्यक्ति या अभिव्यक्ति-सामग्री 'सुन्दर' हो सकती है ? मैं तो मानता हूँ कि सौदर्य का सर्वाधिक शक्त प्रतिमान है संवाद—रचियता और पाठक का मानस संवाद । पुरातन भारतीय आचायों ने इसे 'तन्मयीभवन' के नाम से भी कहा है। पाठक के मनोमुकुर का विशदी-करण इसी संवाद से होता है। रचयिता अपनी नवतामयी प्रतिभा के बल पर जिस कुछ और ही 'आदर्श या यथार्थ' की स्वकीय अनुभूति (या संवेदन) को शक्त अभिव्यक्ति दे देता है, वह स्वयं में चाहे मूल्यवान् हो या नहीं पर शक्त अभिव्यक्ति के कारण अपनी 'नवता' में संवादात्मक प्रतीति के बल पर आकर्षक और आह्लादक हो जायगी। यह मानवीय स्वभाव में है कि वह आत्मविस्तार में सौंदर्य और आह्ललाद पाता है। संवाद इसी आत्मविस्तार का माध्यम है। इस आत्मविस्तार को मनोविस्तार भी कहा जा सकता है। इस प्रकार में तो यह समझता हूँ कि कला की अपनी विशेषता —असाधारण विशेषता हूँ तो अभिव्यक्ति में ही है। कारण, यह कलात्मक अभिव्यक्ति ही है जो आह्लाद या सौंदर्यपर्यवसायी 'संवाद' दशा तक ग्राहक को पहुँचाती है। भट्ट नायक की काव्य-सामग्रीगत मावुकता और अभिनव गुप्त की व्यञ्जकता यही तो है।

मूल्यवत्ता और कलात्मक सौंदर्य में मैं अंतर मानता हूँ। मूल्यवत्ता जीवन और समाज के संदर्भ में उपयोगिता का ही नामान्तर है। कलात्मक सौंदर्य जीवन और समाज के संदर्भ में अनुपयोगी भी हो सकता है—फलतः मूल्यवान् नहीं हो सकता। वर्ण्य या संवेदनगत सौंदर्य शक्त अभिव्यक्ति के कारण अनुरूप

संवाद उत्पादनवश है—जबिंक उसकी मूल्यावत्ता जीवन और समाज के संदर्भ की उपयोगिता पर है। दूसरी बात यह भी है कि काव्य का वर्ण्य कुछ भी हो सकता है, पर उपयोगी या अनुपयोगी सब कुछ नहीं हो सकता। रहा यह कि उपयोगिता की दृष्टि से ही काव्य लिखा जाना चाहिए—ऐसा निर्णय मेरी दृष्टि में निःसदेह कला-जगत् की स्वायत्तता पर व्यवहार-जगत् का आक्रमण है।

एक बात अवश्य इस संदर्भ में विचारणीय है और वह यह कि काव्य में
सब कुछ—सुकृति तथा विकृति—वर्ण्य है। सुकृति तो सामाजिक होने से उचित
और उपयोगी होगी ही, रही यथार्थ की भोगी हुई विकृतियों का ईमानदार
अभिव्यंजन, उसकी कोई सीमा है कला के स्वायत्तता-विचार के संदर्भ में या
नहीं? मैं यह मानता हूँ कि यदि कवि उन विकृतियों पर रचनात्मक प्रवृति
के कारण अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है और उन्हें उरेहता है, तो वे भी
उपयोगी है। आख़िर, आज का अप्रतिबद्ध युवा मानस भी विकृतियों पर
वयों झुंझलाता है? इसीलिए न कि उसके मनोगत आदर्शमय संस्कारों से वह
सर्वथा बेमेल जान पड़ता है। झुंझलाहट मात्र बेमेलपन पर ही होती है। रहा
यह कि जहाँ संस्कार ही न हो, वहाँ तो विघटनकारी वृत्तियों का अनियंत्रित
और अराजक समुच्छलन ही उसे समझना चाहिए। वहाँ की अभिव्यक्ति
में भी संयम और व्यवस्था का अभाव होगा। जिसकी आस्था-निष्ठा
सर्जनात्मक संवेदन से हट गई, उसकी अभिव्यक्ति से होगी ही—इसकी क्या
गारंटी? फिर जो सब तरफ अप्रतिबद्धता की ही बात करता हो, उसका तो
कोई ठिकाना ही नहीं।

फिर कला की स्वायत्तता भी निःसीम नहीं हैं। रचियता की रचनात्मक प्रवृत्ति उसकी सीमा है। इसी पीठिका पर कलात्मक सृष्टि का उद्भव ग्राह्य है। अभिव्यक्ति की परिपूर्णता ही कला या काव्य मान भी लिया जाय तब भी उसे कला या काव्य तभी कहना समुचित होगा जब उसकी मनोमयी पीठिका रचनात्मक हो। कारण, अभिव्यंग्य से हटकर भी यदि अभिव्यक्ति की बात करें तब भी उसे रचना का प्रिणत रूप होने से रचनात्मक तो कहा ही जायगा। दूसरे यह कि रचना-प्रक्रिया के चिन्तकों ने निर्माण के धरातल पर तत्वतः अभिव्यक्ति और अभिव्यंग्य को वैसे ही अविच्छेय माना है जैसे शब्द और अर्थ को। अतः जो लोग अभिव्यक्ति को ही कला कहते हैं उनकी दृष्टि से भी 'अभिव्यंग्य' अपनी अरचनात्मकता में ग्राह्म नहीं है। अतः 'समीक्षण' में केवल अभिव्यक्ति और अभिव्यंग्य की अपिव्यतिह

आनुरूप्य ही विवेच्य है। समीक्षण की यही सीमा है। मूल्यांकन इससे भिन्न वस्तु है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'मूल्य' जीवन और समाज के संदर्भ में वस्तुगत उपयोगिता का नामान्तर है। व्यावहारिक जगत् में अभिव्यक्ति नहीं अभिव्यंग्य योगक्षेमवह होता है। अतः अभिव्यक्ति की नहीं, अभिव्यंग्य या वस्तु का ही मूल्य होता है। व्यवहार में अभिव्यक्ति भी मूल्यवान् हो सकती है—वशर्ते कि उसी के कारण योगक्षेम निष्पन्न हुआ हो, भले ही वह अभिव्यंग्य के संदर्भ में अपरिवृत्तिशील आनुरूप्यावह हो या न हो । विपरीत इसके कला-जगत् में अभिव्यक्ति का कलात्मक महत्व तभी है जब वह रचनात्मक मनो-वृत्ति की पीठिका पर उभरे हुए अभिव्यंग्य के संदर्भ में अपरिवृत्तिसह आनु-रूप्य हो । व्यावहारिक जगत् में मूल्य का संबंध अभिव्यक्ति और अभिव्यंग्य दोनों से हो सकता है-यदि वे जीदन और समाज के संदर्भ में योगक्षेमकर हों। इस प्रकार कृति की मूल्यवत्ता का निर्द्धारण शुद्ध रूप में व्यावहारिक जगत् के मानों से ही हो सकेगा। इस प्रकार मूल्यांकन व्यवहारसिद्ध, मानसापेक्ष है और समीक्षण भावक की तत्वार्थदिशानी बुद्धि द्वारा गृहीत संवेदन और व्यंजक उपकरण के अपरिवृत्तिसह आनुरूप्य विश्लेषण तक ही सीमित है। पहला निर्ण-यात्मक है जबिक दूसरा निर्णय की सामग्री दे सकता है, पर स्वयम् निर्णयात्मक नहीं है। मूल्यांकन जो है उसका ही होता है, समीक्षण आनुरूप्य-परीक्षण के संदर्भ में जो कमी है उसकी ओर भी संकेत कर सकता है। समीक्ष-णार्थ अपेक्षित प्रतिमान समीक्ष्य कृति से ही लिया जा सकतः है और वह भावक की अपनी प्रातिभ क्षमता से जबकि मूल्यांकन मूल्याई वस्तु से भिन्न जीवन और समाज में पूर्व सिद्ध प्रतिमान की अपेक्षा करता है। अतः मेरी धारणा तो यही है कि समीक्षण और मूल्यांव न भिन्न हैं एक नहीं।

यहाँ एक दूसरा प्रश्न यह भी खड़ा किया जा सकता है कि समीक्षण बुद्धि-साध्य है और बुद्धि है अध्यवसायात्मिका अर्थात् विश्लेषण के द्वारा किसी निष्कर्ष तक पहुँचना ही उसका मूल रूप है। बुद्धि का कार्य ही है विश्लेषण द्वारा निष्कर्ष तक पहुँचना। यह निष्कर्ष ही निर्णय है। इस पद्धित से सोचने पर यह मानना ही होगा कि बुद्धि साध्य समीक्षण का निर्णयपर्यवसायी होना आवश्यक और अनिवार्य है। निर्णय खरे और खोटे के रूप में ही करना पड़ेगा और ऐसा किसी अन्य की अपेक्षा में ही संभव है। दो या अनेक की अपेक्षा में आने वाला निर्णय किसी प्रतिमान की अपेक्षा करेगा। प्रतिमान

आलोच्य-गत प्रतिमान या व्यवस्था से भिन्न न होगा, तो खरा या खोटा कहा जायगा किस इतर प्रतिमान की अपेक्षा में ? पर प्रतिमेयान्तरलब्ध प्रतिमान का प्रक्रान्त प्रमेयान्तर पर संचार न्यायोचित नहीं है। इस प्रकार यदि निर्णय और मूल्यांकन एक भी हों तो भी समीक्षा का निर्णयपर्यवसायी होना उचित नहीं है। अमिप्राय यह कि समीक्षण विश्लेषण मात्र है। निर्णयात्मक बनते ही उसकी वस्तुमुखी प्रकृति व्याहत होने लगती है। एक तो हमेशा निर्णय या निष्कर्ष और मूल्यांकन पर्याय होते भी नहीं और हों भी तो भी समीक्षण का तात्पर्यावसायी होना उक्त प्रक्रिया से संगत नहीं है। अंततः निष्कर्ष यह है कि समीक्षण और मूल्यांकन न तो पर्याय ही हैं और न ही समीक्षण का मूल्यांकन-पर्यवसायी होना आवश्यक और अनिवार्य है।

and the control of th

carine this of the term to be recommonly after the terms of the

The Police of the Court of the

particular of the particular property of the particular of the par

and provided the provided by the second of t

## तेरह काव्य की आत्मा का प्रवन और रस की स्थिति

भारतीय चिन्तकों की यह सरिण सी हो गई है कि सार तत्व के चिंतनसंदर्भ में वे शरीर और आत्मा का रूपक पकड़ लेते हैं। काव्य के संदर्भ में आत्मा का अभिप्राय उस सार तत्व से है जिसके सद्भाव से कवित्व का समुदय और असद्भाव से अनुदय हुआ करता है। औरों का तो पता नहीं, नाट्यशास्त्रकार ने जब यह कहा—''इतिवृत्तंतु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्", तब निश्चय ही वे नाट्य में आत्मा की स्थिति मानते थे, बात करते थे। नाट्य का इतिवृत्तं यदि शरीर है, तो रस निश्चय ही शरीरी या आत्मा के रूप में स्वीकृत किया गया है।

को शहरण अभ्यात्वर पर संबार जामोचित्र सार्थ है। एस प्रमार महि रिजिय

नाट्य के क्षेत्र में ही नहीं, श्रव्य काव्य के क्षेत्र में भी गणेश त्र्यंवक देशपांडे ने अपनी यह स्थापना दी है कि भारतीय काव्यशास्त्रियों ने एक स्वर से रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। स्थापना के पक्ष में उन्होंने प्रचुर तर्क दिए हैं (जिज्ञासु वह देखें)—पर मैं इससे सहमत नहीं हूँ। कारण बहुत से दिए जा सकते हैं, पर यहाँ सबका उल्लेख संभव नहीं। एक बात यह अवश्य है कि जब आचार्यगण स्पष्ट कहते हैं—"अलंकार एव काव्ये प्रधानम्", "रीतिरात्मा काव्यस्य", "काव्यस्यात्मा ध्विनः", "काव्यस्यात्मा स एविंथः", "क्कोक्तिः काव्यजीवितम्"—तब मुख्यार्थवाध के अभाव में इन्हें लाक्षणिक कैसे मान लिया जाय? रीतिवादी यदि "ओजः कान्तिमती गौड़ीया" को अतत्वभूत रीति-अनात्म तत्व कहता है, तो 'दीप्तरसत्वं कान्तिः' की अवमानना नहीं है ? और है तो रस की आत्मरूपता इन्हें किस प्रकार सह्य है ? जब कुन्तक स्पष्ट कहते हैं 'शब्दार्थावलंकायौं', 'वर्णनाविषयवस्तुनः शरीरमेवालंकार्यतामेवाहंति' अर्थात् शब्दार्थ काव्य का शरीर है और वही अलंकार्य है—तब कैसे कहा जाय कि उनकी दृष्टि में अलंकार्य रस है ? जो आचार्य दो-दो जगह अवधारणानर्थंक एवकार का प्रयोग करता है, उसके निश्चय पर किस प्रकार संदेह किया जाय? वैसे

कहने के लिए 'औचित्यं रसिसद्धस्य स्थिरं काव्य जीवितम्' तथा 'काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः' भी कहे गए हैं। पर इनमें दोनों ही रस के संदर्भ में एक साधन और दूसरा साध्य है, अतः ये दोनों ही रस विरोधी नहीं हैं—इन्हें रस के प्रतिपक्ष में किस प्रकार रखा जाय ? 'औचित्योपनिबंधस्तु रसस्योपनिषत् परा' तथा 'रसे सार चमत्कारः सर्वभ्रायनुभूयते'—जैसी रसवादियों की स्वीकृतियाँ प्रमाण हैं।

निष्कर्ष यह कि काव्य में आत्मा के प्रश्न पर मतवाद है। काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में काव्यशास्त्रियों ने निर्माण की दृष्टि से तो सोचा ही है ग्रहण की दृष्टि से भी विचारा है। पहली दृष्टि से किए गए चितन के परिणाम-स्वरूप अलंकार, गुण एवं वक्रता के मतवाद आए हैं और दूसरी दृष्टि से होने वाले विचारों की दृष्टि से ध्वनि और रस के वाद उपजे हैं। कतिपय चितकों की धारणा है कि अलंकारवादी ही अलंकार को सारतत्व नहीं मानते, रीतिवादी भी 'काव्यं ग्राह्ममलंकारः' की सारवत्ता में सहमति प्रकट करते हैं—साथ ही जब वक्रोक्तिवादी भी 'वक्रोक्ति' को काव्यजीवित कहकर 'वक्रोक्तिरलंक्कृतिः' कहता है—तब वह भी अलंकार का महत्व मान लेता है। संक्षेप में कहा जाय तो ये तीनों ही 'अलंकार'-वादी हैं। इसी प्रकार जब ध्वनिवादी भी अन्त: रस-ध्वनि को ही काव्य की आत्मा स्वीकार कर लेता है तो वह भी एक प्रकार से रसवादी ही हो जाता है। इस प्रकार कुल मिलाकर दो ही मतवाद ठहरते हैं। किसी चितक ने और आगे बढ़ कर यह कहा कि विचार किया जाय तो अलंकार भी अन्ततः 'रस' का अंग ही है और क्रोचे का सहारा लें तो कहाँ अंग और कहाँ अंगी-जो कुछ है वह एक (रस) ही । इस प्रकार देशपांडे का मत अन्यथा पुनरुज्जीवित हो उठता है । लेकिन इस सब का उत्तर तो इतना ही पर्याप्त है कि यदि यह तत्वबोध आरम्भ में ही हो गया होता और इसी भूमिका पर सब कुछ कहा गया होता तो परस्पर खण्डन-मण्डन ही न होता। ये सब बातें जिस एकोन्मुखी समझ से की जा रही हैं, वही सब के सब मतवादों के मूल में नहीं है। दूसरे अलंकरवादी, रीतिवादी एवं वक्रोक्तिवादी की 'अलंकार' सम्बन्धी धारणाएँ भी एक नहीं हैं। अलंकारवादी अलंकार और गुण में अन्तर नहीं मानता, रीतिवादी मानता है । इसी प्रकार जब वक्रोक्तिवादी अलंकार्य को ही अलंकरण अथवा दोनों को अपोद्धार-बुद्धचा दो मानता है और तत्वतः एक, तो क्या वह वही कहता है जो गुण और अलंकारवादी कहते हैं ? कभी नहीं । इसी प्रकार जब ध्विनवादी 'ध्विनित रस' को ही काव्यात्मा कहता है, तब क्या वह उस रसवादी से अपने को भिन्न नहीं कहता जो भट्टनायक और महिम की भाँति किसी भी स्थिति में रहने वाले 'रस' को काव्य की आत्मा कहता है ?

हाँ, कहना हो तो यह कह सकते हैं कि पूर्वी और पश्चिमी, प्राचीन और अविचीन सभी आचार्य कला अथवा काव्य का केन्द्रीय तत्व 'सींदर्य' को मानते हैं और 'सौंदर्य' का निर्द्धारक निकष है आह्लाद और 'रस' आह्लाद ही तो है। अतः सारा काव्याचितन 'रस' पर आकर केन्द्रित हो सकता है। विषय को बहुत विस्तृत फलक न देकर मैं केवल भारतीय काव्यचितन के परिवेश में कहूँ तो फिर भी कह सकता हूं कि आत्मा के प्रश्न को लेकर भारतीय काव्य-शास्त्रियों में भतभेद है। वह इस प्रकार है—अलंकारवादी आचार्य भामह सौंदर्य को केन्द्रीय तत्व मानते हुए भी जब न कान्तमिप निर्भूष विभाति विनिताननम्' कह उठता है तब वह 'सहज' नहीं, 'आहार्य' सौंदर्य को काव्य के लिए आवश्यक मानता है। इसी प्रकार जब रीतिवादी वामन तारुण्य से अपने 'गुण' को उपमित कर 'अलंकार' की तुलना में उसे प्राथमिकता देता है तब वह 'सहज' सौंदर्य को प्राथमिक महत्व देता है। कुन्तक ने दोनों को आत्मसात् करते हुए कहा 'सहजाहार्यकविकौशलशालिनी (वक्रता)'। यद्यपि वामन 'सहजं' के साथ 'आहार्य' को भी स्वीकार करते हैं, फिर भी 'सींदर्य' को जहाँ अलंकार और रीतिवादी शब्दार्थ शरीर का आश्रित मानते हैं, वहाँ कुन्तक शब्दार्थ को अलंकार्य कह कर भी अर्थ के जिस परिस्पन्दमय आंतरिक स्वभाव को उससे अभिन्न कर देते हैं, एक विशिष्ट काश्मीरी शैव दर्शन की भूमिका पर वह अलंकारवादी एवं रीतिवादी से उनकी सौंदर्य सम्बन्धी दृष्टि को भिन्न कर देता है। रसवादी और ध्वनिवादी तो अलंकार्य 'रस' को ही मानते हैं-अभिधा और अधिक से अधिक लक्षणा तक की सामर्थ्य से संवलित एवं अर्थ कोवे शरीर ही मानते हैं, अलंकार्य शरीरी नहीं।

काव्य की आत्मा के प्रश्न पर सर्वाधिक उभर कर नजदीक आने वाले मतवाद अधिक ध्यान देने योग्य हैं—निर्माण की दृष्टि से विचार किए जाने के परिणाम-स्वरूप प्रसूत वादों में 'वक्रोक्तिवाद' और ग्रहण की दृष्टि से प्रादुर्भूत 'रसध्वनिवाद'। इस संदर्भ में आनन्दवर्द्धन, कुन्तक एवं अभिनव गुप्त के विचार अधिक महत्वपूर्ण हैं। मैं इस ऐतिहासिक क्रम को मानकर चलता हूँ कि पहले आनन्दवर्द्धन, फिर कुन्तक और तब अभिनव गुप्त हुए। तीनों ही आचार्य अद्वयवादी काश्मीरीं भैव दर्शन के अनुयायी, प्रवंत्तक और पोषक हैं।

इसके पूर्व कि ग्रहण और निर्माण की दृष्टि से एक दूसरे के नचदीक आने वाले रसध्विन एवं वक्रोक्ति की आपेक्षिक महत्ता का निर्द्धारण करें, यह तो देख लें कि 'वक्रता' और 'रस' काव्य की आत्मा हो भी सकते हैं या नहीं ? कुंतक की वक्रता है—वक्रत्त्वं किवव्यापारः । प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकी किवगत व्यापार और रसध्विनवादी का रस है सहृदय-गत चर्व्यमाणात्मिका प्रतीति-विशेष । निष्कर्ष यह कि एक किवगत है और दूसरा सहृदयगत । यदि काव्य शब्दार्थमय है तो इन दोनों में से एक भी काव्यगत नहीं है । फिर भी काव्य की आत्मा से इन दोनों का क्या सम्बन्ध ?

वैसे इस प्रश्न पर अन्यत्र (वीणा) मैंने विचार किया है जिसका सारांश यह है कि यदि काव्य की उपमा, जैसा कि अभिनव गुष्तपाद ने कहा भी है, बीज, वृक्ष एवं फलात्मक परिणित से दी जाय, तो कहना पड़ेगा कि काव्य का अस्तित्व कि हृदय से लेकर शब्दात्मक प्रकाशन द्वारा सहृदयगत रसात्मक परिणित तक व्याप्त है। इस प्रकार काव्य का अस्तित्व यदि इतनी व्याप्ति के साथ मान लिया जाय तो उक्त समस्या का निवारण हो जायगा। समग्रता में काव्य का स्वरूप और उसकी व्याप्ति समझ लेने पर लक्षणा द्वारा उसके किसी खण्ड में उसकी स्थिति मानी जा सकती है। काव्य के इस व्यापक रूप से 'किव व्यापार' भी है और 'रसात्मक परिणित' भी। अतः, निर्माण की दृष्टि से एक को और ग्रहण की दृष्टि से दूसरे को काव्य की अन्तरात्मा कहा जा सकता है। वास्तव में ध्विनत्तरसवादी और वक्रोक्तिवादी दोनों ही इस तथ्य से सहमत है कि आह्लादमय दशा से ही काव्य निकलता है और आह्लाद ही में उसकी परिणित होती है। ठीक ही है, जो अपने बीज भाव में जैसा होगा परिणित में भी वैसा ही होगा।

'ध्विनि' और 'रस' का जैसा अमिट प्रभाव कुन्तक पर है वैसा ही अनिवार्य प्रभाव कुन्तक का अभिनव गुष्त पर भी है। कुन्तक की ही भाँति अभिनव ने भी यह स्वीकार किया है कि काव्यगत सींदर्य का मूल माध्यम है-वक्रता या वक्रोक्ति। अभिनव ने 'नाटचमेव रसः' का अभिनव भारती में समर्थन किया था। उन्हें श्रव्यकाव्य पर रसात्मकता का वितान फैलाने में कठिनाई का अनुभव हुआ था। तभी कहा था कि जिस प्रकार नाटच में लोक-धर्मी और नाटच धर्मी होते हैं उसी प्रकार काव्य में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति होती है। नाटच का लोकधर्मी और काव्य की स्वभोवोक्ति दोनों को कुन्तक और अभिनव ही ने 'लोचन' और 'वक्रोक्तिजोवित' में मिति स्थानीय माना है तथा नाटचधर्मी और वक्रोक्ति को सौन्दर्यधायक माध्यम। नाटचधर्मी और वक्रोक्ति द्वारा लोक-धर्मी और स्वाभावोक्ति को खचित चित्र द्वारा सुन्दर और सरस बनाया जाता

है। इसीलिए कुन्तक ने कहा है कि यदि वर्णनीय पदार्थ स्वभावात्म फलक ही उत्कृष्ट होगा, तो वक्नोक्ति उससे अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती । इसी-लिए कुन्तक का अभिमत है कि यह वक्रता ही है, कवि-व्यापार है जो वर्णनीय पदार्थं स्वभाव को सुन्दर एवं सरस रूप में प्रस्तुत करता है। जो पदार्थ को सुन्दर एवं सरस रूप में प्रस्तुत न करे वह कवि ब्यापार ही नहीं है। कुन्तक मानते हैं कि कुछ पदार्थ तो ऐसे होते हैं जो सहज सुन्दर होते हैं। कवि व्यापार उस लीन सौंदर्य को कुरेद कर ऊपर कर देता है। कुन्तक मानते हैं कि वक्रता का परम रहस्य 'स्वभावस्याञ्जस्येन परिपोषणम्' ही है। उत्कृष्ट स्वभाव वाले वर्णनीय पदार्थ में लीन सौंदर्य को विना किसी प्रकार की प्रौढोक्तिवश आलंका-रिक लेप लगाए उभार देना चाहिए। वक्रता का उत्कृष्टतम रूप कृन्तक के मत से यही है। रसात्मकता ही इनके मत से उत्कृष्ट स्वभाव है। इस प्रकार एक ने 'वकता' के संदर्भ में रस का और दूसरे ने रस के संदर्भ में वक्रता की उपा-देयता की बात समान बल से कही है । कुन्तक ने लोकोत्तर आह्लादकारी वैंचित्र्य की सिद्धि में 'वक्रोक्ति' की और अभिनव गुप्त ने काव्योचित सौंदर्य और तज्जन्य आहलाद की सिद्धि में स्वभावोक्ति से भिन्न बक्रोक्ति की बात कही है। जिस प्रकार कवि व्यापार वक्रता का उत्कृष्ट रूप रसादिमय स्वाभा-विक सौन्दर्य को सहज उभार देने में है, उसी प्रकार आनन्दवर्द्धन का कवि कर्म भी विभावादि संयोजन में है।

'व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्' वाले प्राचीन करण-स्वरूपवादी आचार्यों के मत से 'प्रतिभा' कि व्यापार ही है और शक्ति, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास मिलित रूप में करण या हेतु । पण्डितराज जगन्नाथ 'फलाव्यवच्छिनं कारणं करणम्' वाले नव्यचितकों के अनुयायी हैं, अतः उन्होंने सीधे प्रतिभा को ही करण कह दिया है । अस्तु यह प्रतिभा भी एक व्यापार—कि व्यापार—ही है, जिसका स्वरूप है 'काव्यानुकूल शब्दार्थोपस्थिति'। आनन्दवर्द्धन ने ग्रहण की दृष्टि से विचार करते हुए कहा है कि ग्राहक रसावेश की प्रतिभा का साक्षात्कार कर लेता है (अभिव्यक्ति प्रतिभा विशेषम्)। आचार्यों ने रस प्रतीति को प्रयानक रसन्यायेन एक सम्मिश्र प्रतीति कहा है जिसमें शब्द, अर्थ, उभयगत सौंदर्य व्यंजक उपकरण, विभावादि, चित्त तथा आनन्दांश सभी एकरस रहते हैं। यह रसात्मक स्थित यदि किव के मन में न होगी, तो ग्राहक में परिणत किस प्रकार होगी ? अतः किव के हृदय में जो काव्योचित मानस दशा या अनुभूति होती है, वह शब्दानुविद्ध होती है। सामान्यजन की जीवनानुभूति और किवजन की काव्यानुभूति में अन्तर सही शब्द से अनुभूति का एकरस

होना और न होना ही है। किव में वही अनुभूति सही शब्दों में उभरती है। आज के जो चिंतक 'भाषिक सर्जना' अथवा 'सही शब्द की तलाश' की बात करते हैं, गहरे चिंतन के धरातल पर वे उसी भारतीय काव्य-चिंतना को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्त ने भी विभाव-संयोजन को ही किव का मुख्य कर्म कहा है। इस प्रकार समूचा भारतीय चिंतन आरम्भ से अब तक ही केन्द्रीय तत्व— काव्यानुभूति या सौंदर्यानुभूति या आह्लादमय अनुभूति या रसानुभूति—के आसपास चक्कर काटती है।

इस प्रकार ग्रहण की दृष्टि से काव्य की आत्मा पर विचार करने वाले यदि समग्र रूप में रसवादी (रसवादी एवं ध्विनवादी-दोनों) ही कहे जाएँ तब उनकी और वक्रोक्तिवादी दोनों की चिंतन धाराओं में अनेक समानताएँ लक्षित होती हैं। इस साम्य या इन अनेक समानताओं के बावजूद अन्तर उनके तारतिमक महत्व-अवधारण में है। रसवादी या ध्विनत रसवादी सहृदयिनष्ठ परिणित को केन्द्र में रखकर विचार करते हैं और वक्रोक्तिवादी निर्माता कविगत अंकुरण-प्रक्रिया पर अपने को केन्द्रित रख कर विचार करता है। वैसे काव्य की उत्कृष्ट-तम भूमि रसवत्ता को दोनों ही समान महत्व देते हैं। सहृदयहृदयाह्लाद दोनों का ही लक्ष्य है। कि व्यापार इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए होता है, इसमें दोनों ही सहमत हैं। अभिप्राय यह कि काव्य की आत्मा के प्रश्न को लेकर आचार्यों ने काव्य वृक्ष के बीज भाव से आरम्भ कर परिणित तक अपने काव्य-चिन्तन को सारित किया है। इसलिए कुछ लोगों का जो आपेक्ष है कि भारतीय चिन्तन निर्माण की दृष्टि से कुछ नहीं है, चिन्तय ही है।

काव्यात्मचितन के इस संदर्भ में सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं ध्विनवादी। इनकी दृष्टि सैद्धान्तिक ही नहीं, व्यावहारिक भी थी। व्यावहारिक दृष्टि से शून्य-प्राय चितकों की काव्यात्मवादी विचारधारा काव्यनामधारी समस्त कृतियों के साथ निवाही नहीं जा पाती। काव्य का समुच्छल जिस मानस से होता है, उसमें काव्योपयोगी उपकरण विभिन्न तारतिमकताओं में एकोन्मुख हो सकते हैं। यह संभव नहीं है कि सर्वत्र किव-मानस में रसात्मक एकता के अनुरूप एकोन्मुख काव्योपकरण संक्लिष्ट होकर सर्वदा उदित हों। इसीलिए सर्वत्र बिना काव्यार्थबोध के रसात्मक प्रतिमान लागू करना रसान्धता है। अभिनव गुप्त ने भट्ट नायक को इसीलिए रसांध कहा था। ध्विनवादियों ने इसीलिए यह मानते हुए भी कि 'रसेनैव सर्वं जीवित काव्यम्' 'यत्र तु रसादीनामविषमत्वं स काव्यप्रकारों न सम्भवत्येव', रसात्मक प्रतिमान को न तो

सर्वत्र लागू किया है और न तो उसका सर्वत्र व्यवहार ही। काव्योचित सौन्दर्य के उन्मेष में कौन-सा तत्व उदग्र है-इसका अनुभव किए बिना, उदग्र तत्व किस तारतामिकता से संक्ष्लिष्ट है-यह जाने बिना न तो उस आलोच्य काव्य का विक्लेषण किया जा सकता है और न तो कोई प्रतिमान ही लागू किया जा सकता है।

रसवादी की तुलना में ध्वनिवादी यह नहीं मानता है कि रस चाहे किसी भी स्थिति में क्यों न हो, आत्मस्थानीय होता है। दर्पणकार, मिहम भट्ट, भट्ट नायक तीनों ही थोड़े अन्तर के साथ यह स्वीकार करते हैं कि रस चाहे किसी भी स्थिति में हो, काव्य की आत्मा है। ध्वनिवादी भी कहते हैं कि विश्व में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो किसी न किसी प्रकार की चितवृत्ति न पैदा करे और चित्तवृत्ति रूप ही रस है। अतः रस-शून्य कोई काव्य हो नहीं सकता, क्योंकि वह वस्तु-शून्य नहीं होता और मान लिया कि यदि ऐसी कोई वस्तु है तो किसी प्रकार की चित्रवृत्ति नहीं पैदा करती, प्रभाव नहीं उत्पन्न करती, तो कोई भी किव वसी वस्तु काव्य में ग्रहण ही क्यों करेगा? फिर भी ध्वनिवादी रसमात्र को—चाहे किसी भी स्तर का क्यों न हो—काव्य की आत्मा नहीं मानते। फिर समस्या खड़ी होती है कि ध्वनिवादी किस स्तर पर रस को काव्य की आत्मा कहना है? और जिस स्तर पर उसे आत्मा कहना चाहता है, आत्मा शब्द का प्रयोग उस सीमित रूप के लिए सम्भव है क्या?

वास्तव में ध्विनवादी जब ध्विनत रस को काव्य की आत्मा मानता है—पर अध्विनत स्थिति को 'रस' की नहीं—तब आत्मा की असर्वव्यापकता खटकती है। इस समस्या को हटाने के लिए एक ही रास्ता शेष है और वह यह कि जिस प्रकार आत्मा की दो भूमिकाएँ हैं—निगुर्ण एवं सगुण, उसी प्रकार रस की भी दो स्थितियाँ हैं—एक निर्गुणवत् अव्यक्त और अक्विंचत्कर तथा दूसरी व्यक्त और आनन्दकर। जिस प्रकार आत्मा समुचित अभिव्यंजकों के सहारे रसमूर्ति के रूप में साकार होती है उसी प्रकार रस भी अनुरूप उपकरणों के सहारे प्रधानतः प्रकाशित होता है और इसी दूसरे रूप में वह सगुण ब्रह्म की भाँति अपनी समग्र निहित सुन्दरता में प्रकाशित होता है। जिस किव के हृदय में रसानुरूप संघटना होगी, उसी से सरस काव्य की विस्फूर्ति होगी और जो तादृश मनःस्थिति का समुच्छलन होगा उसी की सहृदय में। रसात्मक परिणित होगी। अतः सर्वत्र रस की सम्भावना मूर्खता ही है।

इस स्थित में रस की चर्चा पुरानी और नई कविता के संदर्भ में की जाय तो कहा जा सकता है कि इसका सम्बन्ध नए और पुराने की अपेक्षा अनुरूप मनः स्थिति से है। न तो समस्त पुरानी रचना ही रसात्मकता का समुच्छलन है और न नयी कविता से इस दिशा में सिद्धान्ततः निराशा ही है। यह अवश्य है कि पुरानी मनः स्थिति में सन्तुलन जितना सहज और सम्भव था, नई मनः स्थिति में वह नहीं मिल रहा है। जहाँ मिल रहा है, वहाँ की मनः स्थिति के नया होने में सन्देह किया जा रहा है। हाँ, सन्तुलन की ओर विकास-गामी विश्व मनोवृत्ति को मानकर आशा अवश्य की जा सकती है कि काव्यों में रसात्मकता की प्रतिष्ठा पुनः हो सकती है।

this his top often it with those offer to no it is now with the

है शिक्षको हो। । एउट्टा कावार है कि असमारी 4 के कारोग कहा गीवार ज्यान है है

from the first state of the control of the particle of the par

reduces to the rests (Jupines Street, Color of Street, Street,

the first and the second to the second the second

# चौदह समीक्षा और शोध : समस्या और समाधान

ंत्रही किए करी है है है है स्पान्य आहत है है कि संस्कृति है कि सहसे में अन्वेषण, गवेषणा, अनुसन्धान, खोज एवं शोध ये शब्द प्रस्तुत सन्दर्भ में अभीष्ट धर्मी का बोध कराने वाले पर्यायवाची शब्द हैं। धर्मी का बोध समान अथवा एक रूप से कराते हुए भी ये शब्द व्युत्पत्ति निमित्त अथवा धर्मगत एकता का बोध नहीं कराते। इन विभिन्न पर्यायवाची शब्दों से एक ही धर्मी की विभिन्न विशेषताओं का उसी प्रकार बोध होता है जैसे रूप, रूपक एवं नाट्य शब्दों से एक ही दृश्यकाव्य रूपी धर्मी की भिन्न-भिन्न चाक्षुषता, समारोप एवं अवस्थानुसार विशेषताओं का । गवेषणा से ज्ञानेन्द्रिय की इच्छा या जिज्ञासा भाव, जो आलोच्य धर्मी का बीज भाव है, प्रतीत होता है। अन्वेषण एषणा या जिज्ञासा जैसे बीज भाव के उदय के अनन्तर या अनुरूप होने वाले प्रयत्न पक्ष का बोध कराता है। जिज्ञासा और अनुरूप प्रयत्न के फलस्वरूप होने वाली प्रगतियों का बोध अनुसन्धान तथा खोज शब्द कराते हैं। अनुसंधान का अर्थ है विच्छिन्न संबंध सूत्रों का पुन: संधान या यथावस्थानीकरण । ऐतिहासिक या दैनिक व्यवधानों के कारण दो वस्तुओं, शब्दों एवं अर्थी तथा दो व्यक्तियों का सम्बन्ध-विच्छेद सम्भव है । इस सम्बन्ध-संधान की जिज्ञासा और अनुरूप प्रयत्न द्वारा यथावस्थानीकरण सम्भव है । जिज्ञासा और प्रयत्न (इच्छा और क्रिया) से न केवल विच्छिन्न सूत्रों का यथावस्थानीकरण होता है, वरन् अज्ञात तथ्यों का प्रकाश में आनयन भी हो सकता है। अज्ञात तथ्यों का प्रकाशन में आनयन स्थुल और सूक्ष्म दो प्रकार का हो सकता है—स्थूल प्रकाशन में अज्ञात किवयों, कृतियों एवं ऐतिहासिक तथ्यों का प्रकाशन समाविष्ट हो सकता है और सूक्ष्म प्रकाशन के अन्तर्गत नवीन, मौलिक स्थापनाओं और सिद्धान्तों तथा व्याख्यायों का सन्निवेश । शोध शब्द में शुद्धि या परिष्कार का भाव स्पष्ट है-जिससे परम्परागत शब्द (पाठ), अर्थ (विचार एवं धारणाएँ) दोनों के अन्यथामूलक या अन्यथाकृत रूप का परिष्कार समझा जा सकता है और इस क्षेत्र में उसकी उपादेयता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आज शोध अथवा अनुसन्धान से प्रायः तीन लक्ष्यों की पूर्ति की चर्चा की जाती है—नवीन तथ्यों का प्रकाशन, मौलिक स्थापना एवं मौलिक व्याख्या। इनके साथ-साथ पाठ-सम्पादन का शोध में समावेश होने से परिष्कार वाला उद्देश्य भी जुड़ जाता है। उक्त शब्दों में इन सभी की पूर्ति की क्षमता विद्यमान है। निष्कर्ष यह कि आलोच्य धर्मी के बीजभाव जिज्ञासा एवं प्रयत्न से लेकर प्रक्रिया एवं परिणतियों—प्रकाशन, स्थापन, व्याख्यान एवं परिष्करण—तक के बोध की क्षमता उपर्युक्त पर्यायवाची शब्दों में सिन्निहित है।

इच्छा विविध प्रकार की होती है, पर जब वह ज्ञान विषयिणी होती है तब आलोच्य धर्मी के लिये तद्गत तीव्रता और स्पष्टता के अनुरूप प्रयत्न होता है, जो परिणति पर्यवसायी होता है। अध्ययन और आलोचन भी जिज्ञासा पूर्ति के ही निमित्त होते हैं, पर प्रस्तुत धर्मी के वे पर्याय नहीं हैं। वे दोनों इसके अंग हो सकते हैं। 'तदधीते तद् वेद' में जिस अध्ययन का उल्लेख है वह शब्दकर्मक माना गया है। इस प्रकार शब्दपाठ तथा अध्ययन पर्याय माने गये हैं और अर्थबोध वेदन । विज्ञान के प्रभाव ने एक सामान्य वृत्ति परम्परागत मान्यताओं की ओर से आँख मूंद लेने की पैदा कर दी जो अज्ञ और अकर्मण्यों के लिये शोध के क्षेत्र में, व्यवस्थित विचार के क्षेत्र में सस्ता बहाना बन गया। इसका परिणाम यह हुआ कि जो शब्द सामाजिक मान्यताओं के सिक्के हैं उनकी भी व्यक्तिगत मान्यता की आधुनिकता के नाम पर अवहेलना प्रारम्भ कर दी गई है। काव्य के क्षेत्र में शब्दों की क्षमता देखकर कवि द्वारा अपनी कल्पना गक्ति से अनाविष्कृत अर्थो का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, परन्तु विचार के क्षेत्र में, दर्शशास्त्र एवं विज्ञान के क्षेत्र में अशक्तिमूलक छूट यदि शब्दार्थ के सम्बन्ध में बरती गई तो एक दुःसमाघेय संकट उत्पन्न हो जायगा, विचार विनिमय असम्भव हो जायगा और आज इस संकट के बोध को 'भाषा की समस्या' शीर्षक से आलोचना के सम्पादक ने व्यक्त भी किया है। अस्तु, यह आनुषंगिक समस्या है। मैं इसे यहाँ तूल देना नहीं चाहता। समस्या है - अध्ययन और आलोचन तथा शोध के क्षेत्र भेद की। आज अध्ययन पाठ और परम्परा तक ही नहीं, अर्थ वेदन तक पहुँच गया है। लेकिन इतना अवश्य है कि जब हम यह कहते सुने जाते हैं कि अमुक अध्ययन-रत हैं तो हमारा अभिप्राय ग्रन्थ-परिशीलन से अवश्य होता है अर्थात् अध्ययन का सम्बन्ध ग्रन्थ से, शब्द सन्दर्भ से अवश्य है। ग्रन्थ सम्पर्क के अभाव में अध्ययन शब्द का प्रयोग सम्भव नहीं है। आलोचन इसके बाद की प्रक्रिया है।

अध्ययन यदि शब्दकर्मक और अर्थबोध पर्यवसायी है तो आलोचन अर्थ विष-यक एक मननात्मक प्रक्रिया है। इसे ही ऊहापोह भी कहा गया है। इसकी परिधि में आज निष्कर्ष का कम, पर सर्वतोमुखी व्याख्यान का समावेश अधिक किया जाता है। आलोचन हर तरह से देखना, बुद्धिपूर्वक देखना ही है। आज आलोचन या आलोचना आलोच्य को हर प्रकार से देखना ही नहीं दिखाना भी है। आज का अलोचक आलोच्य वस्तु या व्यक्ति का सर्वतोमुखी दर्शन करता ही नहीं, कराता भी है। आलोचन अपने इस सर्वतोमुखी विश्लेषण से आगे बढ़कर जब स्थापना का आग्रही हो जाता है तब वह शोध या अनुसन्धान से एक होने का प्रयत्न करने लगता है। इसी दृष्टि से कभी-कभी आलोचना और अनु-सन्धान पर्याय से भी हो जाते हैं।

कतिपय मनीषी और चिन्तक शोध और आलोचना को काल की दृष्टि से भिन्नार्थक बताना चाहते हैं। उनका कहना यह है कि शोध्य अतीत और आलोच्य वर्तमान होता है । विगत कृतियों और कृतिकारों का शोधन तथा वर्तमान कृतियों और कृतिकारों का आलोचन होता है, अतः आलोचना और अनुसन्धान एक नहीं हैं। आज दिनकर पर अनुसन्धान नहीं, आलोचना हो सकती है । लेकिन आज तुलसीदास की आलोचना और दिनकर पर अनुसन्धान हो रहा है! यह क्या है ? ग़लत या सही ? तार्किक मनीषियों का कहना है कि चाहे आलोचना हो या अनुसन्धान, बुद्धिपूर्वक ही दोनों सम्भव हैं। दोनों में ही प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास आवश्यक है। प्रतिभा, अजित ज्ञान और अभ्यास जितने ही उत्कृष्ट होंगे, आलोचना और अनुसन्धान भी उतने ही उत्कृष्ट हो सकते हैं । अतः न तो पुराने और नये के आधार पर आलोचना और अनुसन्धान का अन्तर ही हो सकता है और न काल निरपेक्ष प्रकृतिगत अन्तर ही । यह तो ठीक जान पड़ता है कि कालभेद से आलोचना और अनुसन्धान का अन्तर नहीं किया जाना चाहिये । ऐसा करना प्रयोगों को देखते हुए सम्भव नहीं है । आलोचना सूर और तुलसी की भी हो सकती है और हुई है और अनुसन्धान में आज भी कहा जा सकता है कि नवीन स्थापनाओं के सन्दर्भ में अद्यतन कृतियों का उपयोग अनुसन्धान के अन्तर्गत आ सकता है, पर केवल दिनकर के काव्य का, पन्त और महादेवी के काव्यों का विभिन्न प्रतिमानों के आधार पर विश्लेषण अनुसन्धान नहीं कहा जा सकता है। ठीक है; यदि दिनकर, पन्त और महादेवी और अज्ञेय की कृतियों का आलोचन महज समझने और समझाने की सीमा तक ही है, तो वह आलोचना ही है; पर यदि किसी मौलिक स्थापना का अंग है तो अनुसन्धान है। अनुसन्धान की कोख में अध्ययन और आलोचन समा सकते हैं, किन्तु आलोचन की

कृक्षि में अनुसन्धान नहीं। दूसरे आलोचन केवल बौद्धिक प्रक्रिया है, अनुसन्धान में प्रयोगशाला के परीक्षण भी अन्तर्निहित हैं। बुद्धिपूर्वक किये गये शारीरिक प्रयत्न भी अनुसन्धान की परिधि में समाविष्ट किये जा सकते हैं, आलोचना में नहीं। आलोचन और उसके पर्यायवाची शब्द समीक्षा में व्युत्पत्तिलभ्य बौद्धिक पक्ष दर्शन है, शोध या अनुसन्धान के पर्यावाची शब्दों में नहीं; पर इसका अभिप्राय यह नहीं कि यहाँ बौद्धिकता अपेक्षित नहीं । आलोचना अनुसन्धान का अंग है-यह तो माना ही जा चुका है। अन्य चिन्तकों ने आलोचना और अनुसन्धान के कालिक भेद को अनपेक्षित मानकर प्रकृतिगत अन्तर स्पष्ट किया है। आलोचना आविष्कृत एवं अनाविष्कृत प्रतिमानों पर कृतियों का विश्लेषण-मूल्यांकन पर्यावसायी होता है। अनुसन्धान में मूल्यांकन नहीं, वरन् अज्ञात का प्रकाशन, नव-व्याख्यान, स्थापना और पाठ-परिष्करण होता है। परन्तु क्या मूल्यांकन स्वयं स्थापना नहीं है-मूल्यांकन नये व्याख्याओं पर सम्भव नहीं है ? वया नई व्याख्या अज्ञात का ज्ञात स्तर पर लाना नहीं है ? स्थापना, अज्ञात का प्रकाशन और नव व्याख्या को इतना व्यापक मान लें तब तो अनु-सन्धान का स्तर अभिमत स्तर से नीचे चला जाएगा । मैं समझता हूँ कि अनु-सन्धान या शोध का लक्ष्य मौलिक स्थापना ही है । वही पुनर्व्याख्या या अज्ञात का प्रकाशन जो क्रमागत स्थापनाओं से नई स्थापना कराने का अंग हो, अनु-सन्धान की परिधि में ग्राह्य है, न कि उस व्याख्या या अज्ञात प्रकाशन का जिससे क्रमागत स्थापना में कोई अन्तर न पड़े। यदि अतीत के गर्भ से कोई ऐसी वस्तु निकल आवे जो अब तक की अपने क्षेत्र की मान्यता को बदल दे तो वह अनुसन्धान होगा । यदि कोई ऐसी व्याख्या की जाए जिससे अब तक की अपने क्षेत्र की मान्यता अग्राह्य हो जाए तो वह शोध या अनुसन्धान होगा, आलोचना उसका अंग हो सकती है। पाठभेदों के परिष्कार से भी मान्यताएँ प्रभावित होती हैं। विज्ञान के क्षेत्र में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है, पर मैं साहित्य का विद्यार्थी होने के नाते उसी क्षेत्र से उदाहरण देना चाहता हूँ। इसके पूर्व कि मैं उदाहरण से अपनी बात स्पष्ट करूँ यह कह दुँ कि यदि मूल्यांकन क्रमागत मान्यता से भिन्न, स्वस्थ और अभिनव है तो उस तक पहुँचने वाली आलोचना अनुसन्धान ही है, अन्यथा समझाने की उपयोगिता तक ही पर्यवसित होने के कारण आलोचना मात्र । यह समझना-समझाना तदवधिक प्रचलित मान्यताओं की सीमा में ही होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना भी की है और आलोचना के माध्यम से एक अभिनव दुष्टि की स्थापना भी। उनकी स्थापना को समझे विना उनकी आलोचना नहीं समझी जा सकती । उनका लोकादर्श या

उनका रसवाद उनकी स्थापनाएँ हैं और उस सीमा में विश्लेषण या उस दृष्टि का कृतियों और कृतिकारों पर संचार उनकी आलोचना । इसी प्रकार अज्ञात तथ्यों के प्रकाश में आने से जहाँ तक क्रमागत मान्यता के प्रभावित होने का प्रश्न है, अतीत में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं। पहले घनानन्द नाम का एक ही कवि माना जाता था, भेदक सम्बन्ध सूत्र टूट गये थे। नयी खोज और उससे उपलब्ध सामग्री द्वारा अब वे तीन अलग-अलग हो गये हैं। इसी प्रकार पाठभेद या तिन्नरपेक्ष शब्दों या शब्द-राशियों की नयी-नयी व्याख्या से भी मान्यताएँ बदली हैं । भरत सूत्र के 'निष्पत्ति' और 'संयोग' शब्द ही हैं । उनकी नयी-नयी व्याख्याओं ने पूर्वागत मान्यताओं को बदल दिया है। बज्जयानी तन्त्र के 'मैथुनस्य परावृत्तौ विमुखं लम्पटं परम्' में प्रयुक्त 'परावृत्तौ' की नूतन-नूतन व्याख्याओं से व्याख्याकारों ने विभिन्न अभिमत प्रस्तुत किये हैं । डॉ॰ जगदीश गुप्त ने 'रस-सिद्धान्त' की समीक्षा करते हुए डॉ० नगेन्द्र की इतिवृत्त की कुछ मान्यताओं को 'लीला' और 'शीला' जैसे पाठभेद की चर्चा चलाकर अग्राह्म स्वीकार कर दिया है। अधिक उदाहरणों की आवश्यकता नहीं इतने से ही स्पष्ट है कि अध्ययन, आलोचना और अनुसन्धान परस्पर पर्याय नहीं हैं, उनके <mark>अ</mark>र्थवृत्त की परिधि उत्तरोत्तर विस्तृत है । आलोचना और अनुसंधान का लक्ष्यभेद से अन्तर है। आलोचना का लक्ष्य समझना तथा दोष-गुण बताना है, शोध और अनुसन्धान का लक्ष्य नूतन स्थापना है। थीसिस का भी यही अर्थ है । क्रमागत मान्यता में कोई फ़र्क न उत्पन्न करने वाला विश्लेषण आलोचन हो सकता है-अनुसन्धान नहीं। अतः जो लोग मूल्यांकन के माध्यम से आलो-चना और अनुसन्धान का अन्तर स्पष्ट करते हों - उन्हें मूल्यांकन का अर्थ भी स्पष्ट करना चाहिये । यदि मूल्यांकन स्थापना-भेद-पर्यवसायी हो तो अनुसन्धान अन्यथा आलोचन का बोधक तत्व हो सकता है। साथ ही आलोचन अनुसन्धान का अंग भी हो सकता है। संक्षेप में आलोचन और अनुसन्धान के अन्तर को हम यों रख सकते हैं :-

- (१) आलोचन से अनुसन्धान का क्षेत्र विस्तृत है।
- (२) आलोचन तदवधिक मान्यता की परिधि में समझना-समझाना है, जबिक अनुसन्धान से किसी नई स्थापना का जन्म होता है।
- (३) अनुसन्धान में समझाने के अतिरिक्त प्रयोगशाला में शारीरिक श्रम भी हो सकता है।
- (४) आलोचन की अपेक्षा अनुसन्धान में तटस्थता की भावना अधिक होती है।

(प्र) आलोचना स्वतन्त्र सर्जना है अतः वह अनुसन्धान व तथ्यपरक वस्तु का स्वरूप बोध कराती है।

अध्ययन, आलोचना तथा अनुसन्धान का अन्तर और स्वरूप स्पष्ट करने के अनन्तर अनुसन्धान से सम्बद्ध दूसरा पक्ष आता है—अनुसन्धान और उसका वर्तमान स्वरूप जो उत्तरोत्तर चिन्ता का विषय बनता चला जा रहा है। स्पष्ट है कि शोध या अनुन्धान की प्रक्रिया युग की देन है, इसीलिये वस्तुमुखी विश्लेषण उसकी व्यावर्तक विशेषता है। नूतन स्थापनाएँ अतीत में भी होती थीं पर प्रयोग में इनकी प्रक्रिया अन्तर्मुखी और सिद्धान्त में विशुद्ध वैचारिक हुआ करती थी। ज्योतिष शास्त्र, मन्त्र एवं आयुर्वेद शास्त्र की तमाम मान्यताओं की सिद्धि के लिये प्राचीन युग में किसी विशिष्ट प्रयोगशाला का उल्लेख नहीं मिलता । उनकी रासायनिक प्रयोगशाला क्या रही होगी, आज कहना कठिन है। खुदाइयों से सब कुछ का पता चलता है पर इसका पता नहीं चलता। प्रसिद्ध रासायनिक नागार्जुन ने क्या श्रोशैल पर प्रयोगशाला खोल रखी होगी? योग भाष्य के व्याख्याता वाचस्पति मिश्र ने तत्व वैशारदी में कहा है--- "न चौषधिभेदानां तत्तत् संयोगिवशेषाणाश्व मन्त्राणाश्व तत्तदवर्णावापोद्धारिणा सहस्रेणापिपुरपायुलौकिकर्वेप्रमाणव्यवहारो शक्तः कर्तुमन्वयव्यतिरेकौ।" अर्थात् भिन्न-भिन्न औषधियों तथा उनके पारस्परिक संयोग विशेष से उत्पन्न प्रभावों का परीक्षण तथा भिन्न-भिन्न वर्णों के जाप एवं उच्चार द्वारा उद्भूत मान्त्रिक शक्ति का निर्द्धारण हजारों पुरुषों से कभी सम्भव नहीं है। म० म० कविराज जी ने कायासिद्धि की शतसहास्रधिक विधियों का संकेत 'कायासिद्धि' नामक लेख में किया है। इन सब अनुसन्धानों की अध्यात्माश्रित अन्तर्मुख प्रयोगगत प्रक्रिया थी और सिद्धान्त के क्षेत्र में विशुद्ध बौद्धिक--यद्यपि उसकी दिशा का भी निर्धारण आध्यात्मिक अनुभूतियों के ही परिप्रेक्ष्य में हुआ करता था। निष्कर्ष यह कि वर्तमान अनुसन्धान की प्रक्रिया बहिर्मुखी एवं वस्तुमुखी है। आलोचना में भी तटस्थता और वस्तुमुखीनता अपेक्षित होती है, पर अनुसन्धान में उससे कहीं अधिक। आलोचना वैयक्तिक भी हो सकती है, अनु-सन्धानलभ्य स्थापनाएँ अत्यधिक वस्तुमुखी होने के कारण अधिक जन मान्य। आलोचना व्यक्तिवादी बन गयी है, अनुसन्धान नहीं। यही उसका अधिक वस्तुमुखी होने का प्रमाण है।

पश्चिम से विज्ञान के प्रभाव में समागत अनुन्धान की प्रक्रिया आज न केवल विशुद्ध जिज्ञासा की दृष्टि से ही परिचालित हो रही है वरन् जीविका और व्यवसाय के लिये उपाधि प्राप्ति के उद्देश्य से भी की जा रही है।

व्या वसायिक वृत्ति का अंग आज अनुसन्धान ज्यादा वनता जा रहा है, फलतः उसका स्तर गिरता जा रहा है। व्यावसायिक वृत्ति प्रत्येक क्षेत्र की पवित्रता नष्ट कर देती है। विश्वविद्यालयों में उपाधि के निमित्त लिखे गये शोध प्रवन्धों में आती हुई यथोत्तर गिरावट इसी व्यावसायिक वृत्ति के कारण है। उपाधि-निरपेक्ष शोधकार्य जो मनीषयों द्वारा भ्रान्ति के अन्धकार को दूर करने के लिये लिखे जा रहे हैं, वे उनके विपक्ष में लिये जा सकते हैं। इस गिरावट का कारण बहुत से लोग विषयों की पुनरावृत्ति को बताते हैं। बढ़ती हुई विश्वविद्यालयों और अनुसन्धायकों की संख्या पुनरावृत्ति लायेगी ही। इसके निराकरण के सम्भाव्य रास्ते हैं, तथापि मैं यह मानने को प्रस्तुत नहीं हूँ कि पुनरावृत्ति ही इस गिरावट का कारण है। काव्य के क्षेत्र में विषयों की एकता के बावजूद गिरावट क्यों नहीं आती ? कारण है—प्रातिभ क्षमता एवं निष्ठा । आनन्द वर्द्धन ने कहा है कि यदि व्यक्ति में प्रातिभ क्षमता एवं निष्ठा है तो विषयों की पुनरावृत्ति नवीनता में घातक नहीं हो सकती। एक ही विषय पर नयी-नयी बात, यदि प्रातिभ क्षमता और निष्ठा है तो लिखी जा सकती हैं, यद्यपि विषय की पुनरावृत्ति से बचने के लिये अखिल भारतीय और वैश्विक हिन्दी परिषदों की स्थापना से योजनापूर्वक प्रयत्न किये जा सकते हैं। वाङ्मय की अन्य शाखाओं में ऐसे प्रयत्न चल रहे हैं। स्तर की गिरावट का कारण केवल यह व्यावसायिक वृत्ति ही नहीं है-अन्यथा कोई भी अव तक का शोध प्रवन्ध अच्छा न होता । विषयों की आवृत्ति के साथ निर्देशक की अक्षमता, सामग्री का अभाव, प्रक्रिया का अपरिचय, आर्थिक एवं अन्यविध धिरती हुई समस्याओं का जाल, शोधकों का अनिश्चित भविष्य, देश और विश्वविद्यालयों की चहारदीवारी के भीतर की भयावह राजनीति आदि अनेक कारण हैं। प्राय: विश्वविद्यालयों की चहारदीवारी के बाहर रहकर कार्य करने वाले हर समीक्षा लेखन और अनुसन्धान को अध्यापकीय कहकर उपहास करते हैं । उपहास करना तो मानव मात्र की एक वृत्ति है । पर उसके कारणों के परिप्रेक्ष्य में उसकी विवशता को समझना और उसके निराकरण में प्रयत्न कहीं अधिक मानवीयता के द्योतक हैं । दैनन्दिन के सहस्रमुखी समस्याओं से, राजनीतिक कुचक्रों से जब तक सारस्वत मिदरों को मुक्त न किया जायगा तब तक गोध और अनुसंधान का स्तर उठ नहीं सकता। केन्द्रीय और प्रान्तीय शासन अनुन्धान और देश की बौद्धिक अभ्युन्नित के लिये पैसा वहा रहा है-बहाने को तैयार है, पर वे कौन से प्रतिरोधी तत्त्व हैं जो इतना पैसा बहाने के बावजूद अभीष्ट की पूर्ति नहीं होने देते ? इसका मूल कारण नैतिकता की

गिरावट है जो शार्टकट बताने वाली आज की गन्दी राजनीति का सड़ा प्रसव है। निष्कर्ष यह कि इस गिरावट को हटाने का रास्ता निष्ठापूर्वक अपनी प्रातिभ क्षमता का विनियोग है। प्रातिभ क्षमता के विनियोग के लिये निष्चिन्तता अपेक्षित है और निष्चिन्तता के लिये आज की स्विधिन्ध राजनीति का सारस्वत मन्दिरों से निष्कासन। पर यह राजनीति आज की वैष्टिक व्यवस्था का अंग है, अतः अन्ततः उसकी जगह स्वस्थ व्यवस्था लाने के लिये स्वस्थ वैचारिक क्रान्ति का सशक्त आवाहन आवश्यक है।

अनुसन्धान का स्वरूप, उसकी सांप्रतिक वस्तुमुखी पद्धित, जिज्ञासापूर्ति एवं उपाधि-प्राप्ति-मूलक द्विविध प्रयास, व्यावसायिकवृत्ति तथा स्वार्थान्ध राजनीति के विद्यालयों में प्रवेशवश उसकी दुःसमाधेय गिरावट के निरसन का आत्यन्तिक उपाय—इन विविध पक्षों पर विचार करने के पश्चात् सवाल यह खड़ा होता कि सांप्रतिक स्थितियों में यथासम्भव शोध-स्तर के समुन्नयन के लिये क्या किया जा सकता है ?

भारत की सीमा में अखिल भारतीय हिन्दी परिषद् को 'हिन्दी अनुशीलन' के माध्यम से प्रत्येक विश्वविद्यालय में हो रहे तथा हो चुके शोधकार्यों की संक्षिप्तियाँ तथा शीर्षक प्रकाशित करते रहना चाहिये जिससे यथासम्भव पनरावत्ति से हम बच सकें । प्रत्येक विश्वविद्यालय में भाषा और साहित्य के क्षेत्र में निर्दिष्ट और सुनियोजित विषय हों, शोधकार्य करने वाले उन्हीं में से विषय चयन करें। स्थानीय भाषा तथा प्रादेशिक साहित्य (लोक साहित्य) की दिष्ट से किये जाने वाले अनुसन्धान कार्य तो उस क्षेत्रीय विश्वविद्यालय से सम्बद्ध किये ही जाएँ। इसी प्रकार जिस विश्वविद्यालय का जो क्षेत्र निर्धारित हो वहाँ का पुस्तकालय उस विषय में सर्विपक्षया अपने को समृद्ध करने का प्रयत्न करे। सर्वोपरि अखिल भारतीय शोधोपाधि समिति हो जिसमें शोध-प्रबन्ध परीक्षणार्थ प्रस्तुत किये जायँ जहाँ से त्रृटियाँ गोपनीय रूप से निर्देशक के पास भेज दी जायँ। इस प्रकार जब वह प्रबन्ध तैयार हो जाय तब व्यावसायिक दृष्टि से भी परीक्षकों के पास जाने में कोई विशेष क्षति न हो सकेगी। मौखिकी एक विशेष प्रकार के आयोजन के रूप में खुली पद्धति से ली जाय । शोधकर्ता अपने क्षेत्र में सर्वाधिक विज्ञ होता है—अतः कोई भी उससे प्रश्न पूछ सकता है और उसे प्रष्टा को सन्तुष्ट करना ही चाहिये। इन प्रक्रियाओं के साथ साम्प्रतिक स्थितियों के बावजूद शोध का स्तर ऊपर उठ सकता है।

#### पन्द्रह नवलेखन: स्वरूप और सम्भावनाएँ

600

नवलेखन नये लोगों का लेखन है। नये लोग वे हैं जिनमें 'नयी चेतना' है। 'नयी चेतना' उस विज्ञान के प्रभाव में अंकुरित हुई है जो धर्माध्यात्म से आक्रान्त समूची परम्परा, उपलब्धियों एवं मूल्यों को नकार कर नये सिरे से नयी जमीन तोड़ रहा है। उसी की प्रकृति इसमें भी उतर आयी है। 'विज्ञान' की भाँति 'नयी चेतना' भी वस्तुमुखी प्रगति (एप्रोच) में विश्वास रखती है। सही की तलाश पुरानी चेतना को भी अभीष्ट थी और नयी चेतना का भी गन्तव्य है, पर मार्ग दोनों के परस्पर भिन्न और अपने हैं। पुरानी चेतना का मार्ग 'भीतर' से 'बाहर' की ओर था और 'नयी चेतना' का 'बाहर' से 'भीतर' की ओर है।

पुरानी चेतना धर्माध्यात्म से आक्रान्त थी। वैसे जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, धर्माध्यात्म ने भी 'सत्य' का साक्षात्कार किया था, पर उसका मार्ग 'भीतर' की ओर से आरम्भ होता था। वह मानता था कि वह स्वयं उलटा है, अतः सब कुछ उलटा दीख रहा है। सही देखने के लिये फिर से उलटना पड़ेगा—श्रद्धा, विश्वास और भावना का संवल ग्रहण करना पड़ेगा। विज्ञान ने भी 'सत्य' के साक्षात्कार की प्रतिज्ञां की है, पर उसका मार्ग बाहर से प्रारम्भ होता है। वह इन्द्रियों और यन्त्रों के सहारे निरीक्षण, परीक्षण और प्रयोग करता है। वह सन्देह, तर्क और बुद्धि का पाथेय ग्रहण करता है। पुरानी चेतना बिना भीतर से होकर बाहर आये 'बाहर' को अपने यथातथ्य रूप में नगण्य और तुच्छ समझती थी। कारण, उसकी धारणा भी भीतर से होकर बाहर आने के पूर्व या तो 'दृष्टि' का संकोच दृश्य को सही रूप में ग्रहण न होने देता था अथवा 'दृश्य' स्वयं में स्वप्न और 'श्रून्य' था।

पुरानी चेतना की विवेकवादी धारा दृश्य को तथा आनन्दवादी चेतना 'दृष्टि' को ग़लत समझती थी और फिर 'सही' क्या है–इस पर सोचती थी।

तत्पश्चात् समझ के अनुसार प्रयत्न करती थी। विवेकवादी धारा के चिन्तक 'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' कह कर 'दृश्य' को और आनन्दवादी धारा के विचारक 'दुख देगी यह संकुचित दृष्टि' द्वारा दृष्टि को ग़लत कहते थे। इस प्रकार ये लोग भीतरी साधना से जिनत 'अनुभूति' को 'सत्य' मानते थे। 'बुद्धि' समर्थन का साधना मात्र थी, उसकी स्वतन्त्र प्रतिष्ठा नहीं थी—भावना उससे कहीं अधिक बड़ी वस्तु थी, क्योंकि वह भीतरी थी। इस प्रकार पुरानी चेतना ने जो कुछ वर्तमान, यथार्थ, बाहर और सामने था उसे उसी रूप में हेय निरूपित कर दिया था—उपेक्षणीय ठहरा दिया था (चाहे भीतर से लौटने पर वह पुनः ग्राह्म हो सके—वह भी केवल आनन्दवादियों के यहाँ, विवेकवादियों के यहाँ नहीं)। वह सुख और शान्ति भीतर से होकर बाहर आने में पाती थी।

'नयी चेतना' का भी लक्ष्य 'सत्य' की उपलब्धि है, पर उसका मार्ग विज्ञान के प्रभाव में वस्तुपरक है— 'बाहर' से है। हो सकता है, 'भीतर' से भीतर की ओर जाते हुये जैसे बाहर 'सही' हो गया, उसी प्रकार से 'बाहर' से बाहर जाते हुये सही 'भीतर' भी आ जाए। डॉ० भगवतशरण उपाध्याय का यह कहना भी इस सन्दर्भ में कितना सही लगता है कि पूरब से पूरब पश्चिम है, पश्चिम से पश्चिम पूरव। ठीक उसी प्रकार मैं भी कह सकता हूँ कि भीतर के भीतर बाहर है और बाहर के बाहर भीतर। कुल मिलाकर ये शब्द के झमेले हैं। न 'बाहर' है न 'भीतर', 'बाहर' भी है और 'भीतर' भी, दोनों हैं भी, नहीं भी। 'सत्य' चुतब्कोटि-विनिर्मुक्त है। धर्माध्यात्म से आक्रान्त 'पूरानी चेतना' जहाँ 'भीतर' से पहुँची थी, विज्ञान से आक्रान्त 'नयी चेतना' वहीं बाहर से पहुँचेगी। सृष्टि ही गोल नहीं है, सर्जना भी गोल है। परम सत्य का प्रतीक (वृत्त)इसीलिए गोल है। वह 'भीतर' और 'बाहर' द्वारा अपने को ही खोलता रहता है—'ध्वंस' और 'निर्माण' में अपने को ही व्यक्त करता रहता है। वस्तुतः ध्वंस और निर्माण एक ही सर्जनात्मक सिक्के के दो पहलू हैं—तभी तो दोनों अपने-अपने अस्तित्व में एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं।

हाँ, तो 'नयी चेतना'—जो नवलेखन की अन्तरात्मा है—को समझाते हुए 'पुरानी चेतना' की बात कही गई और पुरानी चेतना का सन्दर्भ अधिक दार्शनिक हो गया। पर 'पुरानी' और 'नयी' 'परम्परा' और 'प्रयोग'—दोनों को एकरस करके चलने वाले की चेतना और काव्य-चेतना को क्या कहा जाए ? केवल चेतना और काव्य-चेतना। 'अज्ञेय' ने 'आँगन के पार द्वार' में उपर्युक्त अर्द्ध वृत्तों को कैसी गोलाई दी है:

"आँगन के पार द्वार खुले द्वार के पार आँगन भवन के ओर छोर सभी मिले....... उन्हों में कहीं खो गया भवन । कौन द्वारी को आगारी न जाने पर द्वार के प्रतिहारी को भीतर के देवता ने किया बार-बार पालागन ।"

अाँगन के पार द्वार और द्वार के पार आँगन, इनका ओर-छोर मिलकर वृत्त—भवन—बनाता है। इस आकार में भवन उभरता भी है और खो भी जाता है। यहाँ 'द्वारी' 'आगारी' हैं भी, पर विचार करने पर, सत्य की उपलब्धि हो जाने पर उन्हें अलग-अलग करके जानना कठिन हो जाता है। भीतर के देवता 'सत्य' ने अपने प्राकट्य या बोध के लिये जो 'द्वार' सिरजा है, उस पर प्रतिष्ठित प्रतिहारी उससे निर्मित होकर भी उसमें देवतात्व का प्रतिष्ठापक होने से देवता का भी प्रणम्य बन गया है। ऐसी रचनाओं के मूल में निहित चेतना सबल काव्य चेतना है—नयी और पुरानी से भिन्न।

'नवलेखन' में निहित 'नयी चेतता' एक सापेक्ष चेतना है-एक अर्द्धवृत्त है जो अपनी सर्जनात्मकता में 'सही' की तलाण अत्यन्त आकुल भाव से कर रही है। अतः उसके इस मूल रूप से अनवगत डॉ॰ देवराज का यह कहना कि 'नवलेखन' मात्र लेखन है, सर्जन नहीं-मुझे स्वीकार्य नहीं। वास्तव में डॉ॰ देवराज केवल 'लेखन' देखते हैं-दोष-दृष्टि के उदग्र हो जाने से उसका विशेषणांश 'नव' ओझल हो गया है। यदि यह 'नव' लक्षित हो पाता, तो निश्चय ही उसके मूल-सर्जनात्मकता-का आभास मिल गया होता। 'रचनात्मक अनुभूति' काव्य की अन्तरात्मा है और जहाँ रचनात्मक अनुभूति सिक्रय होगी वहाँ 'नवता' का समुच्छलन सहज है। इसीलिए 'नवता' काव्य की स्वरूपगत विशेषता मानी गयी है। यों सर्जनात्मकता या रचनात्मकता सृष्टि मात्र का मूल है और काव्य भी एक सृष्टि है। सृष्टि मात्र के मूल में रहने वाली रचनात्मकता से काव्य की मूलवितनी रचनात्मकता की विशेषता इस माने में होती है कि वह सही शब्द के साथ रहती है। काव्य की अन्तरात्मा रचनात्मक अनुभूति का स्वरूप 'सही शब्दों में होने वाली काव्योचित अनुभूति' है। पण्डित-राज ने भी ठीक कहा था—''काव्यानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः प्रतिभा''। स्फुरणा केवल अर्थ-छिवयाँ नहीं है वरन् अनुरूप शब्दानुगत अर्थ-छिवयाँ है। अभिप्राय यह कि सैद्धांतिक धरातल पर नयी चेतना का नवलेखन निश्चय ही सर्जना है। इसी धरातल से विचार करते हुये डॉ० जगदीश गुप्त की भी 'नवलेखन' के स्वरूप के विषय में धारणा है कि वह वर्जनाओं की प्रतिक्रिया मात्र न होकर अनुभूति की यथार्थता एवं समग्रता का परिचायक है। वैचारिकता से समर्थित तथा अनुभव से प्रमाणित, व्यक्तित्व-सम्पृक्त यथार्थ-ग्रहण उसकी प्रकृति के अनुकूल रहा है जिसके लिए वह मानव-चेतना के अगणित अलक्षित आयामों की खोज में प्रवृत्त हुआ है। आधुनिकता के नाम पर सांस्कृतिक पराभव की द्योतक, परमुखापेक्षी आत्मनिष्धात्मक—यहाँ तक कि आत्मघाती प्रवृत्ति—नवलेखन की केन्द्रीय वृत्ति नहीं है, क्योंकि एक तो उसमें मूल्य दृष्टि का अभाव है, दूसरे उसमें विवशता मात्र की चीत्कार है और तीसरे क्रान्ति और विद्रोह की मूलभूत निष्ठा ही विखर जाती है।

प्रायोगिक धरातल पर निश्चय ही अनास्था, आक्रोश, कुण्ठा, त्रास, दु:ख, आत्महत्या, विवशता की छटपटाहट, घुटन, अस्वीकृति, अनिश्चय, अश्लीलता, भटकाव और उलझन की मनोवृत्तियाँ नये लेखन में अवश्य मिलती हैं—पर ये सर्जनात्मकता के सन्दर्भ में भी आ सकती हैं और फैशन के नाम पर भी । सचमुच इन स्थितियों को भुगतने वालों की संख्या कम नहीं है । आज का तीन-चौथाई जनमानस इन स्थितियों से गुजर रहा है। अतः उसका चीत्कार अधिक सुनाई पड़े, तो कोई अस्वाभाविक नहीं है। जो 'यथार्थ' है हम उससे कतरा भी नहीं सकते, कतराना चाहिये भी नहीं। आज हमारे समक्ष दो रास्ते हैं-या तो हम इसी गन्दी और गलीज व्यवस्था के कीड़े बनकर उसी में बिलबिलायें और मरें अथवा उससे उबरने के लिए मिट्टी में गडकर भी संघर्ष करें। नये लेखन की ये अराजक चीत्कारें किसी की दृष्टि में ऊष्मा और तिक्तता से संवलित हैं और किसी की दृष्टि में सुष्पित और नपुंसकता के प्रतिरूप हैं। दोनों ही बातें अपने सन्दर्भ में सम्भव हैं। यदि नया लेखक निर्माण के सन्दर्भ में उन्हें लाता है तो यह टूटन भी, ध्वंस भी उसके अंग हैं— फलतः ग्राह्म हैं और आत्महत्या की ओर ले जाने वाले हैं तो आत्मविस्मृति और नपुंसकता के स्रोत हैं-फलतः निन्द्य हैं।

यदि उपर्युक्त दोनों ही स्थितियाँ न होतीं, तो क्या डाँ० देवराज को वहाँ कोई 'शुकदेव' दिखाई न देता ? नवलेखन के नाम पर आयी हुई कितपय. रचनाओं को देखकर स्वयं उन्हीं में से एक (वंशी माहेश्वरी) कह उठता है कि क्या वास्तव में आज रचनाकार अपने क्षेत्र में सही भूमिका निभा रहा है ? उसे रोष है और वह उन रचनाकारों के मुखौटों को नोचना चाहता है, खरोंचना चाहता है जो लचर, आयातित अनुभूतियों और शब्दों के फ़ार्मूलों से लोगों को चौंका रहे हैं। वास्तव में ऐसे लोग 'कविता' से अधिक अपने को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। साथ ही उनके अनुसार समूचा नवलेखन ऐसा ही नहीं है। दूसरी ओर ऐसे भी रचनाकार हैं, और उभर रहे हैं जो ईमानदारी के साथ अपना दृष्टिकोण लेकर सामाजिक विसंगतियों, विषमताओं, विवशताओं और इस आततायी जवड़ोंवाली व्यवस्था की भयानक यन्त्रणा भोग रहे हैं और निभा रहे हैं छटपटाते हुए साहित्य के लिए सर्जनात्मक तथा प्रभावशाली भूमिका।

सत्ताधारी अवसरवादियों और 'दृष्टि'-हीन सुविधा-सम्पन्न लोगों की वात छोड़ें, पर जो वस्तुतः ध्वंसशील, ध्वंसोन्मुखी, विघटनकारी तथा अराजक वृत्तियों के शव पर परिवर्तन के माध्यम से लोक-हित के दायित्व-बोध से सम्पन्न होकर निर्माण की प्रतिमा प्रतिष्ठित करना चाहते है, उन्हें निश्चय ही सर्जनात्मक शक्ति के प्रति आस्था हैं। वे निराला और मुक्तिबोध की भाँति जमीन में गड़कर भी, यथास्थितिवादी अथवा प्रतिक्रियावादी के खूनी पंजों में फँसकर भी, खून का स्वाद लेने वाली परिस्थितियों में जकड़कर भी उन्हें तोड़ते रहेंगे और आगे बढ़ते रहेंगे। वास्तव में नयी चेतना तभी अपने प्रतिज्ञात की पूर्ति कर सकती है जब वह समिष्ट-हित के सन्दर्भ में दायित्व-बोध का जीवन जिन्ने और साथ ही मानवता की विजय के प्रति आस्थावान रहे।

and we fire to the life to the first of

## सोलह नन्यशास्त्रीय समीक्षा के शिखर । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य गुक्ल एक दृष्टि-सम्पन्न समीक्षक हैं और उनकी दृष्टि को लोकमंगल-वादी कहा गया है। मंगल या लोकमंगल से गुक्ल जी का मंतव्य यह है कि संसार सत् और असत् का मिश्रण है। असत् की वृद्धि संसार या समाज की अधोगति या अव्यवस्था है और सत् की वृद्धि उसकी ऊर्ध्वगति और सुव्यवस्था। असत् की वृद्धि से या बढ़ती हुई अव्यवस्था से लोक या समाज का संरक्षण ही उसका मंगल-विधान है। लोक या समाज के विधायक या संरक्षणकारी तत्वों की समष्टि ही 'धर्म' है। जब-जब असत् पक्ष की वृद्धि से अव्यवस्था उत्पन्न होती है, तब-तब 'धर्मसंस्थापनार्थाय' किसी विधाष्ट मननीय शक्ति का उदय होता है—जिसे हम 'अवतार' संज्ञा देते हैं। गुक्ल जी लोक या समाज के संरक्षण के लिये क्षात्र-संघ की प्रतिष्ठा आवश्यक समझते हैं। भारतीय परम्परा में लोक-धारक धर्मतत्व की जब-जब ग्लानि हुई है, तब-तब क्षत्रिय के रूप में ही मान-वीय शक्ति का अवतारी रूप प्रकट हुआ है। इसीलिये वे मानते हैं कि अवतार समाज को धारण करने वाली पूर्ण शक्ति का व्यक्त और विकसित रूप है।

सत् की रक्षा के लिये या समाज के संरक्षण और विधारण के लिये असत् से संघर्ष की अपेक्षा है और यह संघर्ष किसी व्यक्ति या संघ द्वारा ही छेड़ा जा सकता है। यह व्यक्ति ऐसा हो, जिसकी वृत्तियाँ परिष्कृत हों। वृत्तियों के परिष्कार का अर्थ है—उन्हें व्यक्तिगत राग और द्वेष से ऊपर उठाकर लोकसामान्य की भावभूमिका पर सर्वदा स्थिर रहने के अनुकूल बनाना अर्थात् लोकमंगल या लोक लक्ष्य के अनुरूप बनाना, संकीर्णता को हटाना और सद्भावों को बढ़ाना। उस लोक विधारक धर्मसम्पन्न व्यक्ति की वृत्तियाँ जहाँ एक ओर परिष्कृत हों, वहीं, दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि वे ऊर्जस्वल भी हों जिससे लोक-व्यवस्था लाई जा सके और उसे स्थिर रखा जा सके। निष्कर्ष यह है कि इस धर्मसंस्थापक व्यक्ति में 'शक्ति' और 'शील'—दोनों की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। इस प्रकार शुक्ल जी जिस क्षावसंघ को

सामाजिक व्यवस्था के लिए अपेक्षित मानते हैं, उसमें 'शक्ति' और 'शील' की अनिवार्य स्थिति स्वीकार करते हैं। 'शील' हृदय की वह स्थायी वृत्ति है जिस से सदाचार या लोक-मंगल विधायक कर्त्तव्यों की प्रेरणा आपसे आप हुआ करती है। गीता में ऐसे ही 'शील'-सम्पन्न लोगों की विशेषता का निर्देश करते हुए कहा गया है कि शीलवान् वह है जिससे न लोक उद्विग्न हो और जो न स्वयं लोक से उद्विग्न हो । शील-नियन्त्रित शक्ति ही लोक मंगल की विधायिका है। 'शील<mark>' एवं 'शक्ति'-सम्पन्न 'सुन्दर' व्यक्ति या संघ द्वारा सम्पाद्य लोक-</mark> विधारक-धर्म का स्वरूप निर्देश करते हुए शुक्ल जी ने अनेकत्र अनेकधा निर्वचन प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने कहा है कि प्रोत्साहन और प्रतिबंध के द्वारा मन, वचन और कर्म को व्यवस्थित रखने वाला तत्व ही धर्म है। धर्म ब्रह्म की व्यक्त प्रवृत्ति है। उन्होंने इस धर्म को अपने ढंग से दो प्रकार का बताया है—सामान्य और विशेष । समस्त विश्व की व्यवस्था का विधारक तत्व यदि सामान्य धर्म है, तो विभिन्न देश और समाज के विधारक विशेष-धर्म । शुक्ल जी ने इस 'धर्म' पर आधारित अपनी लोकमांगलिक दृष्टि का वैशिष्टच निरूपित करते हुए कहा है कि उनका 'धर्म' ईसाई, जैन और बौद्धों का वैराग्य-प्रधान धर्म नहीं है जिसमें केवल अहिंसा और प्रेम जैसी कोमल वृत्तियों को ही एकांगी महत्व दिया गया है। इसीलिये टालस्टाय की लोकमांगलिक दृष्टि को एकांगी ब्राह्मण धर्म बताते हुए शुक्ल जी ने 'असत्' के संघर्ष में अक्षम बताया है। वे लोक मंगल के लिए उस रूसी साम्यवादी आदर्श को भी अमान्य घोषित करते हैं जिसमें अल्पशक्ति वालों की अहंवृत्ति को परितुष्ट करने का विशेष प्रयत्न है । उनकी दृष्टि में दुर्वृत्तियों (क्रान्ति) के सहारे बढ़ने वाली यह साम्य व्यवस्था लोकमंगलकारी नहीं है। वे मानते हैं कि वहाँ या साम्यवादी व्यवस्था में व्यक्ति स्वातन्त्र्य का हनन होता है--वहाँ अपने श्रम का फल अपने को नहीं है। शुक्ल जी उसी प्रतिबन्ध को लोक मंगल की दृष्टि से उपयोगी मानते हैं जो दूसरों को उद्विग्न न करे। इस प्रकार शुक्ल जी अपने इस विवेचन में एक तरफ़ जहाँ अपनी लोक-मंगलवादी दृष्टि का भारतीय परम्परा में सर्वथा न्तन अर्थ भर कर अपना वैशिष्ट्य निरूपित करते हैं, वहीं दूसरी तरफ़ लोक-मंगल के अन्य विधायकों-टालस्टाय, गाँधी, साम्यवादी एवं पूँजीवादी विचार-धाराओं-से भी अपना पार्थक्य कर लेते हैं।

शुक्ल जी की लोकमांगलिक भूमि की चरम परिणति वह है जहाँ व्यक्ति-सत्ता का लोक-सत्ता में पूर्णतः विलयन हो। मानवता की चरम परिणति यही है-यही मनुष्य का काम्य है-यही उसकी मुक्तिदशा है जो आनन्दमयी है। शुक्ल जी की दृष्टि से समस्त 'धर्म' एवं 'काव्य' की साधना इसी परिणित (व्यक्ति सत्ता की लोकसत्ता में परिणिति) के लिये है। वे मानते हैं कि धर्म साधना की दृष्टि से जो 'शिव' या 'मंगल' है, काव्य-साधना की दृष्टि से वही 'सुन्दर' और दार्शनिक दृष्टि से उसी को 'सत्य' भी कहा गया है। शुक्ल जी मानते हैं कि सामान्य और विशेष उभयविध धर्म में अनुरूप दया, दाक्षिण्य, औदार्य और मृदु तथा ऊर्जस्वल भावों का काष्ठापन्न रूप ही ईश्वरत्व है। उनके अनुसार मनुष्य ने अपनी इस मानवीय-यात्रा के प्रयत्न के संदर्भ में अव्यक्त बह्म और उसके सगुण रूप की कल्पना की है। असत् की हानि द्वारा सत् की स्थापना करने के लिए अपेक्षित धर्म का आश्रय ही अवतार है।

ऊपर कहा गया है कि शुक्ल जी के अनुसार धर्म साधना और काव्य साधना दोनों का ही लक्ष्य 'व्यक्ति सत्ता का लोक सत्ता में विलयन' है। इनके अनुसार अव्यक्त ब्रह्म का व्यक्त रूप जिस प्रकार राम आदि अवतार हैं उसी प्रकार 'जगत' भी है—इसीलिए 'सियारामयय सव जग जानी' उनकी दृष्टि में संगत है। धर्म साधना में तत्पर भक्त की भक्ति का अर्थ शक्ति, शील एवं सौन्दर्यमय समाज विधारक अवतार में स्थित लोकमांगलिक गुणों का पुनः पुनः भावन और उस पर विह्वल होना है—धर्म की रसात्मक अनुभूति करना है। इस भक्ति का लक्ष्य अपनी व्यक्तिगत सत्ता का सियाराममय ब्रह्म के सगुण रूप लोक की सत्ता का विलयन ही है। यही व्यक्ति की संकीर्ण भावनाओं से छूटकर मुक्ति पाना है।

काव्य को भी शुक्ल जी वाणी का ऐसा विधान मानते हैं जो पाठक को उसकी व्यक्तिगत संकीण भावभूमि से ऊपर उठाकर लोक सामान्य की भूमिका पर उठा ले जाय। अध्यात्म या धर्म के क्षेत्र में जो स्थान ज्ञानयोग या भक्तियोग का है, काव्य में वही स्थान 'भावयोग' का है। ज्ञानयोग आत्मा को मुक्त करता है और भावयोग 'मन' को। काव्यानुभूति या रसानुभूति और कुछ नहीं, बिल्क व्यक्ति सत्ता का लोक सत्ता में विलयन है। व्यक्ति सत्ता में लोकसत्ता के विलयन से व्यक्ति में लोकविरोधी तत्वों का विलयन होता है—लोक मंगल की वृक्ति परिष्कृत होती है। विलयन की यह प्रक्रिया जितना प्रवन्ध काव्य द्वारा या अभिनय द्वारा सम्पन्न होती है, उतना अन्य काव्यरूपों से नहीं। इसीलिये प्रवन्ध काव्य को शुक्ल जी अधिक महत्व देते हैं। संक्षेप में यही शुक्ल जी की लोकमांगलिक दृष्टि है।

इसी लोक मंगलवादी दृष्टि से शुक्ल जी अपनी सैंद्धांतिक और प्रयोगिक समीक्षाआओं में परिचालित हुए हैं । आलोचनाओं में ही नहीं, वरन् अपने निबन्धों में भी वे इसी दृष्टि को मुख्य विषय के स्पष्टीकरण के संदर्भ में व्यक्त करते हैं।

शुक्ल जी की काव्योचित स्थापनाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष 'रस' का पुनराख्यान है जो अंशतः मनोविज्ञान पर और अंशतः उनकी उपर्युक्त लोक-मांगलिक दृष्टि पर आधारित है। (रस विवेचन के संदर्भ में उनकी प्रायः समस्त स्थापनाएँ किसी न किसी प्रकार आ जाती हैं।) मनोविज्ञान पर आधा-रित होने के कारण जहाँ वे एक ओर व्यक्तिगत मनोविकारों या मनोवेगों के हत्प में स्थायी मान के विश्लेषण से रस विवेचन का आरंभ करते हैं वहीं दूसरी ओर अपने लोकमंगलवादी दर्शन के अनुरूप उसकी चरम परिणति व्यक्तिसत्ता का लोकसत्ता में विलयन-फलतः सत्कर्म प्रवित्त मानते हैं । भरत ने भाव शब्द की व्युत्पत्ति वताते हुये जो दो विकल्प-''भवन्तीतिभावाः, उद्भावयन्तीति-भावाः" प्रस्तुत किये थे, उनमें से पहला अद्यतन मनोवैज्ञानिक स्वीकार करते हैं और दूसरा प्राचीन भारतीय आचार्य। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'भाव' का विश्लेषण करते हुये उन्होंने स्वीकार किया है कि प्रत्ययवोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम भाव है। शुक्ल जी ने व्यावहारिक दृष्टि से स्थायीभाव या भाव को दो कोटियों में वर्गीकृत किया है —सुखात्मक कोटि तथा दु:खात्मक कोटि । इन दोनों कोटियों में आने वाले आठ स्थायी भावों की चर्चा उन्होंने की है। निर्वेद को वे अभावात्मक मानते हैं। तुलसीदास के विवेचन के प्रसंग में शांत का भी उल्लेख किया है। भक्ति के स्वरूप की उनकी अपनी लोकादर्शमूलक व्याख्या है। वे मानते हैं कि ब्रह्म के सत्यस्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति धर्म है और धर्म की रसात्मक अनुभूति भक्ति है । उन्होंने जगत् के बीच हृदय के सम्यक् प्रसार में ही भक्ति का प्रकृत लक्षण माना है। इस प्रकार भक्ति द्वारा भी अंततः उपासक का लक्ष्य अपने व्यक्तित्व को सियाराममय चराचर जगत् में विलीन कर देना ही है । निष्कर्ष यह कि वे काव्य-साधना और धार्मिक-साधना का—जैसा कि ऊपर कहा गया है—एक ही लक्ष्य मानते हैं। भेद केवल प्रस्थान का है। अस्तु, स्थायीभाव के अतिरिक्त उन्होंने संचारियों की भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या प्रस्तुत की है। चकपकाहट जैसे नवीन संचारी की ओर भी इंगित किया है।

भावों के निरूपण की भाँति रस के व्याख्यान में भी शास्त्रीय निरूपण से इनकी कतिपय उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। रस के अवयवों में संचारी का उल्लेख तो ऊपर किया जा चुका है-शेष रहे विभाव और अनुभाव। इन दोनों में विभाव-चित्रण पर शुक्ल जी ने जमकर विचार किया है। विभाव का निरूपण करते हये उन्होंने कई नई मौलिक बातें कहीं हैं। काव्य की विधायिका कल्पना, जो जीवन और जगत की अनुभृति की पृष्ठभूमि पर सिक्रिय हो, का सर्वाधिक उपयोग वे विभाव चित्रण में ही मानते हैं । विभाव का चित्रण तभी सफल है जब वह सहृदय मात्र के हृदय में समान अनुभूति जगा सके। विभाग का निरूपण करते हुए ही (क) प्रकृति की आलम्बनात्मकता (ख) प्रबंध काव्य का सर्वाधिक महत्व (ग) विभाव की लोक व्यवहार तक व्याप्ति (घ) तथा संकेतित अर्थों के संदर्भ में 'विम्वार्थ' की स्थापना की बात की है। शुक्ल जी के अनुसार विभाव की स्थिति काव्य और नाट्य की परिधि में ही नहीं है वरन् लोक व्यवहार में भी संभव है-- शर्त यह है कि उसमें लोक सामान्य धर्मों की स्थिति हो। विभाव की अनेकरूपता के ही संदर्भ में उन्होंने कहा है कि जिन रूपों के विधान से सहृदय मात्र समान भाव में निमग्न हो जाते हैं, वे हैं-( १ ) प्रत्यक्ष रूप विधान (२) कल्पिन रूप विधान (३) स्मृत रूप विधान (४) स्मृत्याभास रूप (५) प्रत्यभिज्ञात रूप (६) प्रत्यभिज्ञाताभास रूप (७) अनुमान-नाश्रित प्रत्यभिज्ञात रूप। ये सभी रूप शुक्ल जी के अनुसार भाव व्यंजक, रसी-द्बोधक एवं रसमग्नकर्ता हो सकते हैं--आवश्यक इतना ही है कि एक ओर जहाँ ग्राहक की दृष्टि रागद्वेष से शून्य हो और दृश्य मुक्त हो वहीं दूसरी ओर उन रूपों में समान भाव जगाने की अनुरूप लोकसामान्य धर्मों की संस्थिति हो। इस प्रकार शुक्ल जी विभावपक्ष के अन्तर्गत उन सब प्रस्तुत वस्तुओं और व्यापारों को लेते हैं जो हमारे मन में सींदर्य, माधुर्य, दीप्ति, कांति, प्रताप, ऐश्वर्य और विभूति इत्यादि की भावनाएँ उत्पन्न करती हैं। प्राचीन शास्त्रीय परम्परा में विभाव की इतनी अधिक व्याप्ति स्वीकार नहीं की गई है। व्यावहारिक क्षेत्र में प्रायः उदारचेता मानव करुण परिस्थितियों में पड़े हुए व्यक्ति को देखकर व्यक्तिबद्ध दु:ख-संकीर्ण भूमिका से ऊपर उठ जाता है और व्यक्ति के दु:ख से भर जाता है--उस लोक में अपने व्यक्ति को लीन कर देता है--और फलतः सद्यः परोपकाररत हो जाता है। आचार्य शुक्ल इस सत्कर्म प्रवर्त्तक उन्मुक्त मनोवेग को, जो दु.खात्मक कोटि का होते हुए भी व्यक्तिबद्ध भूमिका की भाँति क्षोभकारक नहीं है, रसात्मक अनुभव ही कहेंगे। लेकिन प्राचीन आंलकारिक ऐसा कभी भी स्वीकार नहीं करेंगे। शुक्ल जी ने रसात्मक अनुभव को भी मान-वीय प्रवृत्ति और निवृत्ति का मूल हेतु माना है । कदाचित् इस प्रकार की कल्पना में मनोवैज्ञानिक दृष्टि ही कारण है। शास्त्रीय आचार्य रसात्मक अनुभव का पर्यवसान 'चर्वणौन्मुख्य' या 'चर्वणा' में मानेंगे- 'कर्त्तव्यौन्मुख्य' में नहीं। शुक्ल

जी ने स्पष्ट कहा है—''क्रोध, भय, जुगुप्सा और करुणा के संबंध में साहित्य प्रेमियों को शायद अड़चन दिखाई पड़े; इनकी वास्तविक अनुभूति दुःखात्मक होती है। रसात्मक प्रतीति आनंन्दस्वरूप कही गई है—अतः दुःखरूप अनुभूति इसके अंतर्गत ली जा सकती है—यह प्रश्न कुछ अड़चन डालता दिखाई देगा। पर 'आनंद' शब्द को व्यक्तिगत सुखभोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे ठीक नहीं जँचता। उसका अर्थ मैं हृदय का व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्त और हलका होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही उपपुक्त समझता हूँ।" पर साथ ही वे यह भी मानते हैं कि हृदय मुक्त होने से वह दुःखात्मक अनुभूति भी रस कहीं जाती है।

शास्त्रीय मान्यता से भिन्न शुक्ल जी की अतिरिक्त धारणा यह भी है कि जहाँ शास्त्रकार रस उपकरण के सांकल्प (उक्त होने से या आक्षिप्त होने से) पर ही रस निष्पत्ति मानते हैं, वहाँ शुक्ल जी वैंकल्प में भी पूर्ण निष्पत्ति स्वीकार करते हैं। काव्यप्रकाशकार ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए कहा है कि यद्यपि कति-पय रचनाओं में केवल विभाव या केवल अनुभाव या केवल संचारी की ही स्थिति हो सकती है, पर इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि वहाँ अन्य अवयवों से निरपेक्ष रह कर ही रस निष्पत्ति हो जाती है, वरन् अवशिष्ट अवयवों का आक्षेप कर लिया जाता है। इस प्रकार रसनिष्पत्ति के लिये सभी अवयव आवश्यक हैं। इसके विपक्ष में शुक्ल जी की मान्यता कहीं-कहीं यह भी प्रकट हुई है कि वैसे सामान्यतः रसनिष्पत्ति में भले ही विभावादि रसावयवों का सम्यक् योग प्रपानक रस की भाँति अखण्ड रसानुभव पैदा कर दे, पर यह बात नियम पूर्वक नहीं कही जा सकती। 'रस-मीमांसा' में उन्होंने लज्जा के सभी अवयवों की उपस्थिति में भी रस निष्पत्ति का अभाव और प्रकृति के संक्लिष्ट चित्रण में अन्य अवयवों के न रहने पर भी रस की निष्पत्ति होना माना है। इस प्रकार यदि शास्त्रीय पदावली में कहा जाय तो कहा जा सकता है कि रसानुभव एवं रस के कार्यकारण-भाव-सम्बन्ध के खण्डनार्थ व्यतिरेक व्यभिचार और अन्यत्र अन्वय व्यभिचार—दोनों ही प्रदर्शित किया है । शास्त्रीय मान्यता इससे बिल्कुल भिन्न है।

वैसे गुक्ल जी दध्यादि न्याय, प्रपानक रस न्याय का यत्र-तत्र उल्लेख करते हुये यह स्वीकार करते हैं कि सभी अवयवों से संयोग होने पर रस का ज्ञान उस समूहालम्बनात्मक ज्ञान से भिन्न है जिसमें भिन्न-भिन्न विषय अपना पृथक्-पृथक् स्वरूपबोध करते हैं-फलतः उसके अनुसार प्रपानक रस का ही दृष्टांत स्वीकार किया जाना चाहिये, जिसके अनुसार सभी की अपृथक् रूप से

एकरस अनुभूति स्वीकार्य हो सके । शुक्ल जी रसप्रतीति को ध्वन्यालोककार की भाँति घट प्रदीप न्याय से नहीं, प्रस्तुत साहित्यदर्पणकार की भाँति दध्यादि न्याय से मानते हैं।

रस की निष्पत्ति प्रक्रिया या साधारणीकरण की प्रक्रिया में भी शुक्ल जी शास्त्रीय परम्परा से अपना वैलक्षण्य रखते हैं। रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में सबसे पहली बात तो यह है कि ये किसी दार्शनिक विचारधारा का सहारा लेकर उसे आत्मानुभव रूप अलौकिक कोटि की प्रतीति सिद्धि नहीं करते। रसानुभूति को उन्होंने मनोमय कोष तक की ही वस्तु स्वीकार किया है। निष्पत्ति-प्रक्रिया सीधी सी यह है कि काव्य-सामग्री जिस 'साधारण' रूप में गृहीत होती है, उससे ग्राहक 'स्व पर भाव' का विस्मरण कर जाता है—राग-द्वेष के संकीण वन्धन से उसका मन मुक्त हो जाता है। इस मुक्त मन द्वारा साधारण रूप में गृहीत काव्य-सामग्री से उभड़ कर जब अपनी ही (सुष्त) वासना का पुनः आस्वाद होता है तो वह आनन्ददायक होता है—या कम से कम क्षोभकारक नहीं होता।

साधारणीकरण के विषय में उन्होंने माना है कि विभावादि का इस रूप में लाया जाना साधारणीकरण है कि जिससे वे (विभावादि) सब के हृदय में समान भाव जगा सकें—रसात्मक बोध उत्पन्न कर सकें। विभावादि में सबसे अधिक बल गुक्ल जी ने आलम्बन के साधारणीकरण पर दिया है। उन्होंने बताया है कि साधारणीकरण आलम्बन व्यक्ति का नहीं आवलम्बनत्व धर्म का होता है। ग्राहक की प्रतिभा में आलम्बन के रूप में जो चित्र आता है, वह तो व्यक्ति-विशेष का ही होता है। उनकी दृष्टि में इस प्रकार साधारणीकरण 'प्रभाव' का होता है। साहित्यदर्पणकार के प्रभाव में आकर गुक्ल जी ने यह भी माना है कि प्रमाता का आश्रय से दादात्म्य ही साधारणीकरण है।

शुक्ल जी ने रस की दो कोटियाँ या श्रेणियाँ निर्धारित की हैं—उत्तम रस दशा और मध्यम रस दशा। उत्तम रस दशा वह है जहाँ ग्राहक आश्रय से तादात्म्यापन्न हो सके और मध्यम वह जहाँ आश्रय से तादात्म्य लाभ न कर सके। दूसरी दशा का विश्लेषण करते हुये शुक्ल जी ने कहा है कि इस दशा का हमारे यहाँ के साहित्यशास्त्रों में निर्वचन या विवेचन नहीं हुआ है। उनके अनुसार न तो यहाँ आश्रय के साथ ग्राहक का तादात्म्य होता है और न उसके आलम्बन का साधारणीकरण। पर सच पूछा जाय तो एक दृष्टि से यहाँ किंव रूपी मूल आश्रय के साथ ग्राहक का तादात्म्य होता है और साधारणीकरण भी कथित्र्वत् सम्भव है। उन्होंने स्वयं कहा है-''तादात्म्य किव के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है।'' शास्त्रीय दृष्टि से कहना चाहें तो इन स्थलों की दशा भाव, भावाभास एवं रसाभास के अन्तर्गत आ सकती है।

शुक्ल जी रसात्मक अनुभूति को प्रत्यक्षानुभूति या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा भिन्न कोटि की अनुभूति नहीं मानते । वे मानते हैं कि यह भी लौकिक अनुभूति है—अन्तर यदि कुछ बताया जा सकता है तो केवल इतना ही कि वह एक उदात्त या अवदात्त कोटि का सात्त्विक अनुभव है। यदि उसे अलौकिक कहा जा सकता है तो केवल इसी अर्थ में।

शुक्ल जी रसानुभूति और सौन्यानुभूति दोनों में प्रमाता की पार्थक्य-प्रतीति का विसर्जन स्वीकार करते हैं। शुक्ल जी अन्तःकरण या अन्तः सत्ता की तदाकार परिणति को सौन्दर्यानुभूति मानते हैं। जो वस्तु ग्राहक के हृदय पर जितना शीघ्र छा जाय वह उतनी ही सुन्दर है। सुन्दर वस्तु से भिन्न सौन्दर्य नाम की कोई चीज नहीं है-अतः शुक्ल जी के अनुसार सौन्दर्य वस्तु-गत ही हो सकता है। इस प्रकार शुक्ल जी सौन्दर्य संवेदन और रस संवेदन को लगभग एक ही कोटि की वस्तु स्वीकार करते हैं। इस विवेचन में शुक्ल जी विशुद्ध वस्तुवादी दृष्टिगोचर हो रहे हैं। वस्तुवादी दृष्टि के ही कारण वे मानते हैं कि कवि के मानस में जो रूप-तरंगें उच्छलित होती हैं, वे सब इसी चक्षुगोचर संसार सागर की ही हैं। काव्य-गत वस्तुवादिता का ही कदाचित् यह परिणाम है कि विषयप्रधान रचनाओं ने विषयीप्रधान रचनाओं की अपेक्षा उन्हें अधिक आकृष्ट किया। उन्होंने काव्य में subjectivity का विरोध करते हुए वैयक्तिक अनुभूति गोचर 'अध्यात्म' को काव्य से बाहर तक कर देने का उद्घोष किया। उन्होंने काव्य को जगत् की अभिव्यक्ति कहा। उन्होंने कहा है कि यदि जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है तो काव्य जगत् रूप अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति । इसी दृष्टि से उन्होंने अपने को 'अभिव्यक्तिवादी' कहा है। उन्होंने रहस्यवाद को काव्य में वहीं तक ग्राह्म माना, जहाँ तक वह जिज्ञासा के स्तर पर स्वाभाविक सर्वसामान्य के द्वारा ग्राह्य तो सकता है।

प्राचीन आचार्यों की भाँति शुक्ल जी के समक्ष रसादशों से निर्मित होने वाली रचनाएँ ही नहीं थी, ऐसी रचनाएँ और प्रवृत्तियाँ भी थीं, जो रस को विकेन्द्रित करती जा रही थीं। पात्र रसरूढ़ियों से हटते जा रहे थे और ऐसे अनादर्श पात्रों से संकुल साहित्यिक कही जाने वाली कृतियाँ भी आ रही थीं। रसवाद का सम्बन्ध 'सामान्य' या 'सिमष्ट' से ही है—'व्यष्टि' और 'विशेष'

से नहीं । व्यष्टि और विशेष का तो विगलन स्वीकार किया जाता है । अतः शुक्ल जी के समक्ष भी प्रश्न था किया तो वे रसवादी प्रतिमान को अव्याप्त मानें या 'व्यष्टि' और 'विशेष' का आग्रह मानकर चलने वाली कृतियों को असाहित्यिक घोषित करें, उन कल्पनानिर्मित कलाकृतियों को अकाव्य घोषित करें, उन कल्पना निर्मित 'रूपों' से भरी हुई कलाकृतियों को खिलवाड़ बतायें (थोड़ी दूर तक तो बताया भी है) जिन्हें काव्योचित अनुभूति का योग न मिला हो। शुक्ल जी का स्पष्ट उत्तर है कि अनुभूति हीन कल्पना का रूपविधान मन का रञ्जन चाहे करे, पर काव्योचित रमण करने में सर्वथा अशक्त है । इसी प्रकार उन्होंने 'विशेष' या 'व्यक्ति वैचित्र्य' का आग्रह रखकर चलने वाली रचना को काव्य की दृष्टि से व्यर्थ ही कहा है। रस की जगह शीलवैचित्र्य या अन्तःप्रकृति-वैचित्रय को केन्द्रगामी रखने वाली कृतियों से जो समष्टि प्रभाव उत्पन्न होता है, शुक्ल जी ने इस Total effect या समष्टि प्रभाव को त्रिधा विभक्त किया है : (१) आश्चर्यपूर्ण प्रसादन (२) आश्चर्यपूर्ण अवसादन तथा (३) कुतूहल मात्र । सात्त्रिक वर्ग का यदि चरित्रोपस्थापन रहा तो प्रथम स्थिति, तामस वर्ग का यदि चरित्र चित्रित किया गया तो दूसरी स्थिति और किसो वर्ग में न आने वाला हुआ तो तृतीय स्थिति । तीतरी स्थिति के चरित्र को पश्चिमी समीक्षकों ने 'अद्वितीय' माना है और माना है कि यही नूतन सृष्टिकारिणी कल्पना का सबसे उज्ज्वल उदाहरण है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उनके अनुसार प्रवृत्ति तथा निवृत्ति ही प्राणी की सप्राणता का लक्षण है और वह प्रवृत्ति और निवृत्ति मनोवेगों पर निर्भर है, इसीलिए मनोवेगों का स्थान जीवन में महत्त्वपूर्ण है। बुद्धि प्रवितिका नहीं होती, मनोवेगों को निर्णय की सहायता देकर सिक्रय करने में सहायक होती है। काव्य का लक्ष्य इसी मनोवेग को सदाचारों में प्रवृत्ति की ओर, कदाचारों से निवृत्ति की ओर उन्मुख करना है। इस प्रकार आदर्श और नैतिकता की दृष्टि से काव्य सर्वथा मानवोचित सद्वृत्तियों के परिष्कार का साधन है, हृदय को मुक्त दशा में ले जाने का साधन है। हृदय की मुक्त दशा एक अवदात स्थिति ही है जो लोक मंगलोचित कर्ताव्य में पर्यवसित होती है। यह अवदात मनोवृत्ति ही रसात्मक मनोवृत्ति है—यह सुखात्मक भी हो सकती है और दुःखात्मक भी। दुःखात्मक होकर भी इसकी एक विशेषता यह होती है कि वह क्षोभकारक नहीं होती, क्योंकि उसका सम्बन्ध वैयक्तिक हानि-लाभ से नहीं है।

# भारतीय काव्यशास्त्र और उसकी सत्रह संभावनाएँ: शुक्लोत्तर समीक्षा के सन्दर्भ में

म स्थी । व्यक्ति शीर विकेश का यो विश्वास स्थीकार विद्या जाता है। अने: युक्त को सामका सी प्रास या कि या. तो से प्रवाही विभाग को अध्यापन

689

हिंदी समीक्षा में 'शुक्ल'-रेखा लाँघने के बाद जो क्षेत्र सामने आता है, उसमें निम्नलिखित विभिन्न वर्ग के लोग भारतीय काव्यशास्त्र के विषय में पक्ष-विपक्ष एवम् युगोचित परिष्कार की दृष्टि से सोचते-समझते और लिखते पढ़ते हैं। प्रथम वर्ग उन लोगों का है जो संस्कृत साहित्यणास्त्र के अध्येता और मर्मज्ञ हैं--पं० वलदेव उपाध्याय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं० विश्वनाथ मिश्र, डॉ० आनंद प्रकाश दीक्षित, पं० केशव प्रसाद मिश्र, आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री, डा० गणेश त्र्यंबक देशपाण्डेय आदि विशेषतः परिगणनीय हैं। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत उन मनीषियों की गणना की जानी चाहिए जो मूलत: आंग्ल साहित्यशास्त्र के व्यक्ति के हैं, पर हिंदी में भी उसी अधिकार के साथ भारतीय हिंदी साहित्य सर्जना के संदर्भ में सोचते-विचारते हैं और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक धरातल पर अपनी समीक्षाएँ प्रस्तुत करते हैं। इस वर्ग के अंतर्गत डॉ० राम अवध द्विवेदी, डा० रामविलास शर्मा, डॉ० प्रकाशचन्द्र गुप्त तथा डॉ॰ विक्रमादित्य राय आदि का नाम उल्लेख्य है। तृतीय वर्ग उन लोगों का है जिन्होंने प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा की भाँति संस्कृत का भी परम्परागत बोध आनुवंशिक एवं अर्जित रूप में तो प्राप्त किया ही है, अंग्रेजी भाषा और साहित्य में भी अधिकृत ढंग से प्रवेश और पैठ लाभ किया है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी हिन्दी के स्नातक होते हुए भी अंग्रेजी साहित्यणास्त्र से ही प्रथम-प्रथम प्रभावित थे— उसी के नदीष्ण अध्येता थे, पर उत्तरोत्तर संस्कृत साहित्यशास्त्र के संपर्क में आकर भारतीय काव्यशास्त्र के रसात्मक प्रतिमान के बलवत्तर समर्थकों में हो गए। ठीक इसी प्रकार डॉ॰ नगेन्द्र आरंभ में अंग्रेजी के स्नातक और स्वच्छंदतावादी समीक्षक थे, पर उत्तरोत्तर संस्कृत साहित्य-शास्त्र के गंभीर अध्येता और शास्त्रीय समीक्षक बन बैठे। इनके अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग उन हिंदी स्नातकों का है जिन्होंने अपने श्रम से अध्ययन-अध्यापन के क्रम में यथासंभव संस्कृत और अंग्रेज़ी का ज्ञान प्राप्त किया है और कभी

एक पर तथा कभी दोनों पर तुलनात्मक ढंग से विचार करना आरंभ किया है। समीक्षा के इस दौर में कभी-कभी यह प्रश्न भी प्रस्तुत किया गया है कि यदि हिंदी साहित्य का अब एक स्वतंत्र अस्तित्व है तो उसका साहित्यशास्त्र भी अपने साहित्य के संदर्भ में समानान्तर ढंग से विकसित होना चाहिए। अंग्रेजी और संस्कृत साहित्यशास्त्र के पूर्वनिद्धीरित प्रतिमानों का आरोप हिंदी की सर्जनात्मक विधा पर चलाना उसकी स्वतंत्र आलोचना धारा पर कुठाराधात है। पर सर्जनात्मक धरातल पर होता यह है कि हमारे रचियता कभी तो पश्चिमी अनुकरण पर रोमैन्टिक प्रोग्नेसिव, एक्सपेरिमेण्टलिज्म, न्यू पोएट्री, एन्ट्री-पोएट्री की रचना में दत्तचित्त होते रहे और कभी कुछ एक भारतीय संस्कृति की अभिव्यंजना करते रहे और कभी बुद्धिवादी परिष्कार की ओर भी मुड़ते रहे । फलतः आलोचना के पक्ष से भी पूर्व-पश्चिम के साहित्य-शास्त्रियों के द्वारा बने-बनाए मसालों का रसायन तैयार करते रहे। यदि हमारी सर्जना शक्ति भारतीय मिट्टी की महक उभारने में निष्ठावान होती तो हमारी आलोचनावृत्ति भी उससे अनुशासित रहती। जितनी मात्रा में सर्जना सहज विकसित हुई, उतनी मात्रा में कभी-कभी उसके अनुरूप आलोचना की माँग भी होती गई। दोनों की शुद्ध प्रकृति की छानबीन एक स्वतंत्र शोध का विषय है। अस्त । इस तृतीय वर्ग में विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक तथा शोधकर्ता तो हैं ही, स्वतंत्र रूप से लिखने वाले कवि और समीक्षकगण भी हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र पर इनकी भी लेखनी सक्रिय है। सबका नामोल्लेख संभव नहीं है और कतिपय का परिगणन पक्षपात है। अतः इस विवरण से हटकर जब हम उनकी उपलब्यों तथा सीमाओं की ओर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र का ऐसा कोई भी अंग या क्षेत्र नहीं बचा है जिस पर इन लोगों की लेखनी सक्रिय नहीं हुई। काव्यरूप, काव्यस्वरूप,काव्य हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्या-त्मवाद, शब्दशक्ति, दोष एवं छंदोविधान--प्रायः सभी का पुनराख्यान हो चुका है। कभी-कभी साहित्यशास्त्र की समान समस्याओं पर पूर्वी-पश्चिमी विभिन्न दृष्टिकोणों का तुलनात्मक समीक्षण और इस परिप्रेक्ष्य में विशेषता और त्रुटियों का भी उल्लेख किया गया है। कभी रागातिरेक में भारतीय काव्यशास्त्र की निष्पतियों की आवश्यकता से ज्यादा प्राप्ति सिद्ध की गई है और कभी-कभी पश्चिम के सामयिक और जीवन्त विचारों से आकृष्ट होने के कारण भारतीय काव्यशास्त्र में उतनी पैठ न होने से उसके उपादेय पक्षों की भी अवहेलना हो गई है। इधर के अनेक स्वतंत्र तथा शोधोपाधिनिमित्तक प्रयासों से भारतीय काव्यशास्त्र की युगोचित सरणि पर विश्वसनीय और आकर्षक ब्याख्याएँ भी हुई हैं। इनके अतिरिक्त प्रसाद, निराला, महादेवी, माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर, अज्ञेय, मुक्तिबोध, तथा डॉ० श्याम परमार आदि में से कितपय ने तथा कुछ एक ने अनजाने ऐसी बातें कह दी हैं जिनसे भारतीय काव्यशास्त्र की अनेकानेक क्रमागत मान्यताएँ जो धूमिल पड़ गई हैं, दीप्त ही हुई हैं। इन समीक्षकों में अनेक विषमताओं के साथ-साथ एक विशेष साम्य यह है कि ये सभी परम्परागत पौरस्त्य तथा पाश्चात्य प्रतिमानों का अध्ययन करने में आस्था रखते हैं और इस अध्ययन से बललाभ कर स्वतंत्र सोचने-समझने का भी प्रयत्न करते हैं——ग्राह्यता और अग्राह्यता की बात तो समय के स्वतंत्र निकष की है।

शुक्रोत्तर समीक्षा के संदर्भ में एक वर्ग ऐसा भी उभरता आ रहा है जो 'आधुनिक चेतना' का संवाहक, सर्जंक और समीक्षक है। भारतीय काव्यशास्त्र में आधुनिक चेतना के संवाहक सर्जनात्मक साहित्य के समीक्षणों का कोई प्रतिमान नहीं मिलता और न मिलने की संभावना ही है। ये अपनी शक्ति भर पश्चिमी जगत् के उन आधुनिक चिन्तकों के नाम तथा उनके विचारों का अभ्यास करते हैं जो विसंगति, आक्रोश, ऊब, थकान, आत्मिनर्वासन, संत्रास, आत्मिनिष्कासितम्मन्यता, विद्रोह तथा अनास्थामूलक सर्जनशील साहित्य के समानान्तर चिन्तन करते हैं। ये लोग अपनी समीक्षाओं में कामू, सार्व और काफ्का का उल्लेख आवश्यक समझते हैं और उल्लेख से बचने के प्रयत्न करने वालों की अपनी अपेक्षा अधिक आत्महीनता की ग्रन्थि से वाधित मानते हैं—मानों इनके उल्लेख और अनुल्लेख से हटकर कुछ सोचने का रास्ता ही न हो।

इस प्रकार इन विभिन्न वर्गीय समीक्षकों में से कतिपय ने भारतीय काव्य-शास्त्र का पुनराख्यात और रूपान्तरण किया है, जबिक कुछ एक ने साहित्य जगत् के समान और मौलिक प्रश्नों पर पाश्चात्य समीक्षकों तथा वैज्ञानिक मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में भारतीय काव्य प्रतिमानों की सीमाएँ, विशेषताएँ और विशिष्टताएँ उभारी हैं। कितपय ने अतिश्य आस्था और आवेश में रस अथवा ध्विन-जैसे प्रतिमानों की देश-कालातीत व्यापकता और विश्वता प्रतिष्ठापित की है। कुछ एक ने इन प्रतिमानों का युगोचित परिष्कार भी किया है, पर इस सन्दर्भ में कभी-कभी मूल वृत्ति का सटीक अपरिचयवश स्वकीय अतिरिक्त ज्ञान का आरोपण भी हो गया है। चिन्तन की इस भाग-दौड़ में आश्चर्य तो तब होता है जब संस्कृत साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र से आये हुये समीक्षक 'भाव' या 'भावना' को काव्य का केन्द्रीय तत्व मानने से मुकर जाते हैं। स्थिर दृष्टि के अभाव में

अथवा स्थिरता मात्र को जड़ता का पर्याय मानने वाले कतिपय स्वयंभू समीक्षक बड़ी दृढ़ता के साथ कहते हैं कि सर्जना और अनुभवी समीक्षा समानान्तर चलती हैं। और सबसे बड़ी बात यह है कि समीक्षा जिस प्रतिभा-प्रसूत 'नवता'-सम्पन्न कृति की की जाती है, उसका प्रतिमान उसी कृति में निहित रहता है। यह तो स्पष्ट है कि प्रतिमेय या समीक्ष्य पहले होता है और समीक्षा अथवा तद्पयोगी प्रतिमान बाद में। इस प्रक्रिया में प्रत्येक प्रतिमान अपने पूर्ववर्ती प्रतिमेय के अनुरूप आविष्कृत पूर्ववर्ती प्रतिमान प्रतिभाप्रसूत परवर्ती कृति या प्रतिमेय की दृष्टि से अनुपयोगी और अनुपादेय है और इस दृष्टि से समस्त पूर्ववर्ती प्रतिमान परवर्ती नई कृति के सन्दर्भ में अनुपयोगी और अपर्याप्त हैं। फलतः सभी क्रमागत और पूर्ववर्ती प्रतिमान या व्यवस्था का वत्त सर्जनात्मक सीधी गतिमयता का अथवा उसके स्वस्थ विकास का प्रतिबन्धक ही हो सकता है, अतः उसकी चर्चा अनावश्यक, निरर्थक तथा भारमात्र है। फिर जहाँ तक भारतीय काव्यशास्त्र का सम्बन्ध है, वह तो काफ़ी समय से अवरुद्ध हो चुका है। वह शास्त्र जिस प्रकार की सर्जना का मापक है उसकी मूल धर्माध्यात्माध्त मनोवृत्ति से सांप्रतिक बुद्धिवादी अथवा आधुनिक विज्ञानाश्रित प्रेरक मनोवत्ति सर्वथा भिन्न है। तब की मानसिक बुनावट और बनावट से आज के मानस की बुनावट और बनावट में एकदम दमक है, उसके ताने-बाने सभी भिन्न हैं। इस स्थिति में 'आधुनिक साहित्य' का जहाँ तक सम्बन्ध है, उसके न्यायसंगन मृल्यांकन की बात है, भारतीय काव्यशास्त्र को भला भी दिया जाय तो प्रातिभ समीक्षकों के लिये कोई क्षति न होगी। कतिपय अधूनातन साहित्य के पक्षधर विवेचकों ने तो यह भी कह दिया कि अब शब्द-शक्ति, अलंकार, रस और ध्विन से काम नहीं चलने का । कुछ-कुछ इसी आशय की बात ग्रुक्लोत्तर समीक्षा के आरम्भ में होते ही आचार्य वाजपेयी ने 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में भी कह दी थीं । उन्होंने कहा था कि प्रातिभ कृतियाँ अनाविष्कृत सौंदर्य भंगिमाएँ होती हैं और इसी में कृति की सर्जनात्मकता है। अतः इनकें सन्दर्भ में पूर्वागत प्रतिमान जो आविष्कृत भंगिमाओं के सन्दर्भ में प्रकट हुये थे या आविष्कृत किये गये थे, एकदम व्यर्थ हैं। उत्तरोत्तर यह स्वर तीव्र-तीव्रतर होता गया, पर नव छन्द, नव ताल, नव भंगिमा, नव अप्रस्तुत, नव प्रतीक और नव बिम्ब के साथ शब्दों के माँज-मजाव-जो शैलीगत उपकरण हैं-पर फिर भी बल दिया जाता था। आज तो कविता 'हाथों की छ्टपटाहट' बन गई है। आज तो व्यवस्था का सर्वतोमुखी विरोध है। स्व-च्छन्दता नहीं, अराजकता का ज़ोर है, बौने व्यक्तियों का व्यक्तिवाद है। शुक्लो- त्तर समीक्षा के इन विभिन्न सोपानों—स्वच्छन्तावाद या छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद एवं नवलेखन—पर निर्मित सर्जनात्मक साहित्य के सन्दर्भ में भारतीय काव्यशास्त्र की कितप्य सम्भावनाएँ शेष भी हैं अथवा नहीं, यह आज का एक ज्वलंत प्रश्न है और विचारणीय है।

भारतीय काव्यशास्त्र की अनुपयोगिता अथवा संभावनाओं की निःशेषता के पक्ष में ऊपर जो तर्क दिए गए हैं, वे मुख्यतः दो हैं—

- (१) पहला यह कि शास्त्र अथवा शास्त्रीय प्रतिमानों की सार्थकता अथवा चिरतार्थता कृतियों की समीक्षा में ही है—अपने आप में नहीं; और प्रतिमान जिस प्रतिमेय के गर्भ से प्रसूत होते हैं उसी के लिए उपयोगी होते हैं—फलतः हर नई प्रातिभ कृति के लिए वे निरर्थक हैं।
- (२) दूसरा यह कि जिस प्रकार की मानस-कृति की परिणतिभूत सर्जना के समानान्तर भारतीय काव्यशास्त्र का निर्माण हुआ था, उस प्रकार की मानसवृत्ति ही संप्रति नहीं है। इसलिए भी भारतीय काव्यशास्त्र की संभाव-नाएँ नि:शेष हैं।

विचार करने पर ये दोनों तर्क आपात रमणीय पर पर्यवसाननिस्सार जान पड़ेंगे। सबसे पहले यह स्पष्ट कर देना या कह देना आवश्यक है कि 'दृष्टि' मात्र की स्थिरता को जो जड़ता का पर्याय मानते हैं और स्वयम् का कोई भी पक्ष न रखकर परकीय पक्ष का निराकरण ही जिनका लक्ष्य है, उनके लिये अतीत मात्र की संभावना नि:शेष है अनुभव के निकष पर उपलब्ध हेमप्रभ प्रतिमानों और मूल्यों की समस्त अतीतगामी मान्यताएँ व्यर्थ हैं। उनके लिये अवश्य भारतीय काव्यशास्त्र की भी संभावनाएँ निःशेष हैं। अतः मैं केवल उनकी दृष्टि से प्रतिमानों पर विचार करूँगा जो किसी 'दृष्टि' में आस्या रखते हैं, फलतः स्वयम् 'दृष्टि' रखते हैं। इसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट कर दूँ कि जीवनोपनोगी 'दृष्टि' ही काव्य में भी प्रतिफलित होती है। जीवनोपयोगी 'दृष्टि' दो प्रकार की हैं और दोनों परस्पर दो ध्रुवान्त हैं चेतनावादी और पदार्थवादी । भारतीय काव्यशास्त्र जिस दृष्टि की प्रसूति है, वह है चेतनावादी । अतः जिनकी इस दृष्टि में आस्था नहीं है उनके लिये भी भारतीय काव्यशास्त्र की संभावनाएँ अन्ततः संतोषकर नहीं प्रतीत होंगी । चेतनावादी दृष्टि भी सम्प्रति दो प्रकार की है—एक को समर्थन है मनोविज्ञान का और दूसरे को अध्यात्म का। अध्यात्मवादी मनोविज्ञान-सम्मत चेतना को तो मानता ही है, पर बेहोशी में उस चेतना के अभाव में एक उसकी भी चेतना मानता है जिसके कारण व्यक्ति 'चेतना'-हीन

होने पर भी मृत घोषित नहीं होता। भारतीय काव्य-शास्त्र की दृष्ट प्रधा-नतः इस आध्यात्मिक चेतनावाद पर खड़ी है। वक्रोक्ति, रस एवं ध्वनिवाद के निरूपणों में तो वह दृष्टि पारिभाषिक पदावलियों के माध्यम से मूर्त भी हो गई है। काव्य हेत्, प्रतिभा और प्रयोजन के संदर्भ में भी यत्र-तत्र यह दृष्टि उद्रिक्त है। अलंकार, दोष, छंद, रीति और औचित्य अवश्य ऐसे प्रतिमान हैं जिनमें 'दृष्टि' का निक्षेप न भी किया जाय—और किया भी प्रायः नहीं गया है - तो वे 'दृष्टि' निरपेक्ष वालों के लिए भी काम के हो सकते हैं। 'संकेत' से जिस संभावना की ओर संकेत किया जा रहा है, उसका स्पष्टीकरण बाद में दिया जायगा। इस संदर्भ में मैं संक्षेप में एक तथ्य की ओर और भी संकेत करना चाहता हुँ कि प्रजातांत्रिक जीवन-प्रणाली ग्रहण करने वाला भारतवर्ष, जो व्यक्तिगत संभावनाओं का उपासक है, इसी आध्यात्मिक चेतनावादी दृष्टि को अपनी प्रकृति और प्रणाली के अनुरूप पायेगा। कारण, भूतवादी जीवन-प्रणाली सामूहिक चेतना और चिन्तन में संभावना देखती है। व्यक्ति इस श्रृंखला का एक अविच्छिन्न कड़ी हो सकता है। इसलिये उपर्युक्त दोनों आक्षेपों का प्रतिवाद मैं इसी सीमा में कर सक्गा। अपने को 'अत्याधुनिक' अथवा 'आधुनिकता'-सम्पन्न कहने वाली प्रतिभाएँ तो व्यवस्था मात्र के विद्रोह में ही अपना अस्तित्व देखती हैं। अतः उन्हें प्रजातांत्रिक जीवन-प्रणाली भी अमान्य है। इस प्रकार अमान्यता ही जिसकी पताका है, उसके लिये मेरी बात निरथंक है। जो आश्वस्त और स्थिर होना ही नहीं चाहता, उसे वैसा किया भी कैसे जाय ?

उक्त सीमा का स्पष्टीकरण कर देने के बाद पहले प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि भारतीय दृष्टि प्रतिमेय से जो प्रतिमान निकालती है, वह अपने आप में इतना 'सामान्य' होता है कि उस प्रतिमेय को व्याप्त करता हुआ अपनी प्राप्ति में वह और भी अधिक विस्तृत होता है। 'व्यक्ति' का यही विस्तार उसमें भावनाओं का द्वार खोल देता है। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायगी। वक्रोतिजीवितकार का एक निकष है—'अन्यूनानितिरिक्त' तथा 'मनोहारिणी स्थितिः'। अर्थात् कलाकृति मात्र में 'अन्यूनानितिरिक्त' तथा 'मनोहारिणी स्थितिः'। अर्थात् कलाकृति मात्र में 'अन्यूनानितिरिक्त' तथा 'मनोहारिणी स्थिति' दो तत्व हों, तो वह उत्कृष्ट मानी जायगी। कलाकृति समाधिस्थ खष्टा के शरीरव्यापी प्राणावेग का मूर्त रूप है। यदि भीतर से खष्टा ने कहीं भी समाधि में, अभिव्यक्ति के लिये उन्मुख प्रातिभ स्वप्न के पीछे सक्रिय प्राणावेग में जहाँ भी शैथिल्य आया कि कृति में वह झलक जायगा, उतना अंश परिवर्तनीय हो जायगा। समस्त कलाकृति इस

परिवर्तन में या तो 'न्यून' हो जायगी अथवा 'अतिरिक्त अन्यूनानितरिक्त' न हो सकेगी । भारतीय काव्यशास्त्र पर यह बहुत बड़ा आक्षेप है कि वह केवल पद्यबद्ध काव्यकृतियों के संदर्भ में ही स्पष्ट हो पाया है। संस्कृत का गद्यकाव्य भी अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व उस प्रकार विकसित नहीं कर पाया है जिस प्रकार आज गद्य विधाएँ पद्य विधाओं से भिन्न अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व विकसित कर चुकी हैं। उक्त प्रतिमान न केवल पद्मबद्ध विधाओं पर ही कार्यान्वित किया जा सकता है, अपितु गद्यबद्ध विद्याओं पर भी लागू किया जा सकता है। यदि कोई मूल कृति कृतिकार द्वारा संक्षिप्त आकार में की जाती है, तो वह 'अन्यूनानितिरिक्त' की कसौटी पर खरी नहीं है। फलतः वे लोका-यतन, गोदान, झूठा-सच, अमृत-विष आदि पद्यविधाएँ एवं गद्यविधाएँ उत्कृष्ट नहीं हैं जो अपना संक्षिप्त रूप दे चुकी हैं। समूचे वँघे प्राणावेग के साथ प्रातिभ श्रम के साथ जो कलाकृति उतरी होगी, वह इतनी सुसंश्लिष्ट और सुगठित होगी कि उसे कहीं से भी कम-ज्यादा किया ही नहीं जा सकता। यह बात केवल शुक्ल जी के निबन्धों के लिये ही नहीं, समस्त कलाकृतियों के लिये है। कलाकृति के निर्माण में साँस टूटनी नहीं चाहिये—और साँस नहीं ट्टेगी—नो उसका परिणाम भी इतना सुसंघ्लिष्ट और सुगठित होगा कि ु उसे कहीं से भी छोटा-बड़ा नहीं किया जा सकता। इसीलिये लघुकाय कृतियाँ जितनी सुसंश्लिश्ट होती हैं, वृहत्काय कम । 'शेखर : एक जीवनी' वहत्काय है पर उसका सारा वस्तु-दर्शन फाँसी के तख्ते का एक क्षण है। किसी ने ठीक कहा है--

## एक क्षण की बाहुओं में अमरता जब वंदिनी हो धन्य है वह एक ही क्षण।

इस विषय का दूसरा पक्ष है—'मनोहारिणी स्थित'। 'स्थित' शब्द भी ध्यान देने योग्य है। सहृदयग्राहक की प्रातिभ परिधि में उसकी 'स्थित' संभव ही है। वह इतना विशाल और विस्तृत न हो कि कृति अपनी समग्रता में ग्राहक की पैठ पकड़ में ही न आ सके—एक तरफ़ का पढ़ते-पढ़ते दूसरी ओर का विस्मृत हो जाय। विस्मृति अपनी अनावश्यक विस्मृति से भी संभव है और अनाकर्षकता से भी—वासीपन से भी, ताजगी या मानवता के अभाव से भी। इन दोनों त्रुटियों से यदि कलाकृति ग्रस्त नहीं हो सकी है, तभी उसकी भनोहारिणी स्थिति' भी संभव हो सकेगी। इसी प्रकार भारतीय काव्य- शास्त्र से अनेक निकष लिए जा सकते हैं। आवश्यकता केवल इन सूत्रों की प्रयोगोपयोगी 'व्याख्या' की है।

समग्र कलाकृति की भाँति उसके माध्यम अथवा अनिवार्य अंग—भाषा के विषय में भी ऐसे-ऐसे प्रतिमान 'वक्रोक्ति' और 'ध्विन सिद्धान्त' में समाहित हैं जो अपनी व्याप्ति में संभावनागर्भ हैं। कदाचित् क्रोचे को छोड़कर पिचमी चिन्तक भी ऐसा कोई न हो सकेगा जो किवता या काव्य के स्वरूप-संघटक तत्वों में भाषा को स्थान न देता हो। क्रोचे भी आलोचक की दृष्टि से यदि बात करे तो 'भाषा' की ओर उसे भी ध्यान देना होगा। भारतीय चितकों ने 'भाषा' या 'अभिव्यक्ति' को पर्याप्त महत्व दिया है। प्राचीन काव्यशास्त्र में तो काव्य की ऐसी कोई परिभाषा ही न होगी जिसमें भाषा—शब्द एवं अर्थ—का सिन्नवेश न हो। 'वर्णना काव्यमुच्यते' और है क्या ? काव्येतर क्षेत्र के मूल्यों से काव्य मूल्यवान हो या न हो, काव्य का अपना जो मूल्य है, वह स्वायत्त और स्वयं पर्याप्त भी है—'वर्णना' में, 'अभिव्यक्ति' में। वक्रोक्ति और ध्विन-सिद्धान्त इसी मूल्य का उद्घोष करते हैं। दोनों ही काव्योचित 'उक्ति' या 'अभिव्यंजना' उसे मानते हैं जो सटीक हो—अपरिवर्तनीय हो, अन्यूनानितिरक्त हो। ध्वत्यालोककार का कहना ही है—

### उक्तयन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन् । शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेविषयी भवेत् ॥

अर्थात् कलाकार कलाकृति में जिस सौंदर्य को उभारना चाहता है, उसके लिए उसने जिस उक्ति का सहारा लिया है—एकमात्र वही उसके लिए क्षम हो, उसका स्थानापत्र दूसरी कोई उक्ति हो ही न सके, असंभव हो, अशक्य हो । ऐसी ही उक्ति, ऐसा ही शब्द अभिप्रेतार्थ का प्रकाशन करता हुआ 'ध्वनि' पद व्यपदेश्य होता है । सही शब्द की तलाश हर कृतिकार को होती है—चाहे वह इसे श्रम से खोज ले या प्रातिभ आवेश में पा ले । इससे भी आगे बढ़कर वक्रोक्तिकार यह कहता है कि 'वर्णना' और 'वर्ण्य' विचार की दृष्टि से (अपोद्धारबुध्या) पृथक्-पृथक् मान लिए जाते हैं—निर्माता की दृष्टि से ऐसा संभव ही नहीं है । वर्ण्य दो ही हैं—वस्तु का स्वभाव और व्यक्ति का भाव । वस्तु का स्वभाव निसर्ग सुन्दर है, तो प्रातिभ कुदाल से उसे जैसे का तैसा ही कुरेद

न् १. कबिहि अरथ आखर <mark>बल साँचा ।—</mark>मानस

कर उभार दे और स्वतः सुन्दर न हो तब उसे अपनी ओर से सुन्दरता प्रदान करे। कुंतक ने 'वक्रता' का रहस्य उद्घाटित करते हुए कहा है—'स्वभावस्यै-वांगस्यैव निरूपणं वक्रतायाः परं रहस्यम्'। वक्रता कुछ और का और कर देने में नहीं है, अपितु जो है उसको सीधे और सहज ढंग से, यथावत् रूप से उभार देने में है। वह वक्रता व्यावहारिक और शास्त्रीय उक्ति पद्धित से लक्ष्यभेद के कारण होने वाली भिन्तता भर है—वैचित्र्यवाद नहीं। बलाकार वस्तु के सामाव और व्यक्ति के भाव को, जो निसर्ग सुन्दर हैं, अपने अभिव्यंजन का लक्ष्य बनाता है। शास्त्रकार या वैज्ञानिक और व्यावहारिक वक्रता का लक्ष्य यह होता ही नहीं; और होगा तब उसका कवित्व उद्विक्त माना जायगा। वक्रता महन्न इस भिन्तता में है—वाग्वैचित्र्यवाद में नहीं। उन्होंने कहा ही है—

लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरिमदं वाचैव यो वा बहिः।
वन्दे द्वाविप तावहं कविवरी वन्देतरां तं पुनः
यो विज्ञात परिश्रमोऽयमनयोभारावतारक्षमः।।२।१०७

एक किव वह होता है जो वर्ण्य वस्तु-गत लीन सौंदर्य को अपनी वाणी की महिमा से उभार कर ऊपर ला देता है और दूसरा वह होता है जो वस्तु को अपनी वाणी से मनोहरता प्रदान करता है। धन्य ये दोनों ही नहीं हैं— धन्य वे भी हैं जो समझकर इन्हें राहत देते हैं।

इस समस्त विवेचन के आलोक में यह स्पष्ट है कि किव या कलाकार के मानस में वर्णना और वर्ण्य अपनी अखंडता और अविच्छेद्यता में युगपत् उभरते हैं—भाषा और सौंदर्यबोध साथ-साथ उभरते हैं। वे इस प्रकार एक-रस और अनुरूप तथा युगनद्ध होते हैं कि न तो उन्हें एक दूसरे से पृथक् किया जा सकता है और न तो वर्णना के संघटक अवयवों का परिवर्तन ही किया जा सकता है। भारतीय काव्यशास्त्र का यह प्रतिमान हमारी उक्त सीमा में शुक्लोत्तर समीक्षा-वारणा के संदर्भ में रचित कलाकृतियों के लिए भी समान रूप से लागू किया जा सकता है। छायावादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, नकेन-वादी, एवं नई किवता तक के लिए तो ये प्रतिमान अपनी व्याप्ति में अग्राह्य ही नहीं उपादेय भी हैं। रहे वे, जिन्हें मान्यता मात्र से ही विरोध है—उनकी वात मैं नहीं करता।

उसी प्रकार अलंकार, रीति एवं दोष, छंद आदि की व्याप्ति पर विचार करने से समानताएँ प्रतीत होंगी। अलंकार विशेष अवस्य धूमिल हो गए

हैं, अतः उनका मुलम्मा घिस गया है--चमक चली गई है, पर कथन भंगिमा ही जब अलंकार का पर्याय है तो उसकी इयत्ता और अनुपयोगिता किंस प्रकार संभव है ? अलंकार शब्द से चिढ़ हो सकती है पर उसकी मूल वृत्ति से नहीं। आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि प्रातिभ आवेश में कलाकार जिस मूल संवेदन की अभिव्यक्ति करता है, उसी प्रयत्न से अनायास अंग रूप में जो भंगिमाएँ बन जायँ, वे ही 'अपृग्यत्ननिर्वर्त्य' अलंकार हैं। यहाँ वे एक ऐसी सामान्य बात करते हैं जिसकी व्याप्ति तब तक बनी रहेगी जब तक कविता का माध्यम भाषा रहेगी। व्यक्ति के अंग-सन्निवेश की भाँति कविता में पद-सन्निवेश 'रीति' है-उपयोगिता इसकी भी हैं। काव्योचित संवेदन की अनुभव-बेला में कलाकार का समूचा शरीर—रक्त तक प्रभावित रहता है। स्नायएँ तनी रहती हैं। संवेदन का जब तक पूर्ण मोचन नहीं हो जाता, तब तक सारा शरीरान्तर्वर्ती स्पंदन एक क्रम में बँघा रहता है। यही भीतरी क्रम-स्पंदन वाणी में गतिमयता अथवा लयवत्ता भी डाल देता है, जो छंदों के विभिन्न ढाँचों में अभिव्यक्त होता है। बात यह है कि खंडन करने वाले और संभावनाओं की नि:शेषता देखने वाले 'सामान्य' रूप को नहीं देखते । देखते केवल हैं तब तक की आविष्कृत कलाकृतियों की सौंदर्य-भंगिमाओं को ध्यान में रखते हुए निकाले गए विशेष-विशेष मानों को । ये विशेष-विशेष मान परवर्ती कलाकृतियों की नूतन भंगियों की दृष्टि से अवश्य ही अपर्याप्त और अनुपयोगी होंगे। अतः केवल तब तक आविष्कृत विशिष्ट भेद-प्रभेदों तक ही उनका ध्यान जाता है, उनको अत्मसात् कर अपनी व्याप्ति में पर्याप्त विस्तृत 'सामान्य' तक नहीं जाता, इसीलिए उन सीमाओं में संभावनाओं की निःशेषता का दिखाई पड़ना सहज संभव है।

दूसरी आपत्ति यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र जिस प्रकार के जीवन की सर्जनात्मक अभिव्यंजना के संदर्भ में समानान्तर सृष्ट हुए हैं, वह जीवन और मानस धर्म तथा अध्यात्म पर आधृत उपकरणों से संकुल थे—उनकी बनावट और बुनावट से 'आधुनिक' साहित्य के मूल कारणभूत जीवन और मानस की बनावट और बुनावट ही भिन्न है। अतः दोनों भिन्न प्रकृति के उत्सों से समुद्गत सर्जनाओं के समानान्तर और अनुरूप आविष्कृत प्रतिमान एक दूसरे के लिए अनुपयोगी होंगे। इस आक्षेप का उत्तर देते हुए यह कहा जा सकता है कि जो 'संवेदना' काव्य के रूप में मूर्त होती है उसके संघटक अवयव दो हैं—'भाव' और 'दृष्टि'। काव्योचित संवेदन में इन्हीं का रासायनिक मिश्रण होता है। यह एक स्वतन्त्र विवाद का प्रश्न है कि वे 'भाव' और 'दृष्टि' कहाँ

तक काव्य में व्यक्तिगत हैं, समष्टिगत हैं या यथासंभव व्यक्तिगत हैं। इस प्रकृत पर पौरस्त्य एवम् पाक्ष्चात्य, प्राचीन तथा आधुनिक चिन्तकों ने काफ़ी कुछ कहा है अद्यतन सुपठित और अधीत आलोचकों तथा अनुसंधायकों ने स पर भी बहुत कुछ सोचा विचाराहै। इस प्रश्न पर यहाँ विस्तार से विचार करना तो उपयुक्त नहीं है, अवसर और प्रसंग भी नहीं है, पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि यदि कविता व्यक्तिगत नहीं है, तो 'संवेदना' का भी यथासंभव अव्यक्तीकरण होना चाहिए। अस्तु, प्रकृत यह है कि 'मूल संवेदन' ही काव्य-तरु का बीज है जिसके संघटक अवयव हैं—'भाव' ें और 'दृष्टि' । शुक्लोत्तर काल में जहाँ तक छायावादी साहित्य और समीक्षा का प्रश्न है 'व्यक्ति' और 'भावना' (Individual और feeling) का पर्याप्त महत्व था। यह अवश्य था कि इससे पूर्व जिन विजड़ित ढाँचों में जिन परि-गणित आलम्बनों से संबद्ध 'भाव' व्यक्त किए जाते थे—उन सबको तोड़ा गया और जीवन के साथ यथासंभव मिलाते हुए उनकी व्याप्ति विस्तृत की गई। हमारे अन्तर्राष्ट्रीय संबंध भी विस्तृत होते गए, हमारी 'दृष्टि' भी विकसित होती गई। हमने अनुभव किया कि मूल मनोवृत्तियाँ और मूल प्रणालियाँ सार्वभौम हैं -- यद्यपि भौमिक परिवेश और सामाजिक जीवन के बाह्य रूप भेदक बन कर सदा रहे हैं और रहेंगे। हमने देखा है कि उभयत्र आंदोलन की अतिवादी प्रतिक्रिया में 'व्यक्ति' और 'भावना' का पुनः विरोध 'परम्परा', 'समाज' और 'वस्तुमुखीनता' का स्वीकार और फिर उत्तरो-त्तर विज्ञान की निष्पत्तियों पर आधृत 'दृष्टि' और जिया हुआ जीवन सर्जना का केन्द्र बनता गया-सामानान्तर आलोचना की सृष्टि होती गई। आज सुविधा-भोगियों की समाज-व्यवस्था पर असुविधाग्रस्त युवा रक्त क्षुब्ध है। फलतः समस्त विश्व में विभिन्न कारणों से उनका आक्रोश विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति पा रहा है और काव्य की 'नई प्रवृत्ति' अथवा 'अ-प्रवृत्ति' के रूप में सामने आ रहा है। इस अत्याधुनिक दौर में आनेवाली पीढ़ी श्रीहर्ष की परम्परा की वैतण्डिक पीढ़ी है। इसका 'अपना कोई पक्ष नहीं है', यही पक्ष है और परकीय समस्त पक्षों का खण्डन ही लक्ष्य है—'अस्वीकृति' ही झंडा है। इन्हें मैं छोड़ता हूँ। पर शुक्लोत्तर शेष सर्जना और आलोचना की समानान्तर प्रवाहित धाराओं के संदर्भ में भारतीय काव्यशास्त्र की संभावनाओं पर जब विचार करता हूँ, तब उसी उपर्युक्त मूल संवेदना (भाव + दृष्ट ) की बात पर आता हूँ। 'भाव' या 'भावनाएँ' तो सार्वभौम हैं। वे आज तक तो नहीं बदलीं और न बदले हुए लोगों को देखते हुए बदलने की संभावना ही है।

ख़ैर, अंतिम बात तो कहना विज्ञान के जमाने में ख़तरे से ख़ाली नहीं है, पर मनुष्य 'इन्हीं भावनाओं' के कारण मनुष्य है-मानवीय भावनाओं के अभाव में मनुष्य के लिए 'पशु' से बदतर संज्ञा ढूढ़नी होगी। छायावादी अथवा स्वच्छंदता-वादी साहित्य की प्रतिक्रिया में 'भाव' और 'व्यक्ति' का इतना विरोध हुआ कि जहाँ पहले साहित्य या काव्य सर्वस्व 'सींदर्य' और 'आनंद' का केन्द्र अथवा मूल उत्स भूमि 'भाव' था-उसकी जगह 'बुद्धि' प्रतिष्ठित हो गई। जहाँ 'भाव' की रसात्मक पर्यवसिति और प्रतिष्ठा थी, वहाँ बुद्धि को रसात्मक घोषित कर 'बुद्धिरस' की बात जाने लगी। यह नहीं मालूम कि 'बुद्धिरस' कह कर वे कहना क्या चाहते थे ? इस प्रसंग की अनेक बातों को यहाँ उठाने से प्रकृत विचार व्यवहित हो जायगा । जहाँ तक रोमाण्टिक भावभूमि के विपक्ष में ग़ैर-रोमाण्टिक भावभूमि की ग्राह्मता की बात है, भारतीय रससिद्धान्त का उससे कोई विरोध नहीं है। ग़ैर-रोमाण्टिक अब भाव तो है, पर उसकी हलकी उफान 'बुद्धि' की, 'दृष्टि' की आँच में जल गयी है-वह गंभीर है। प्रगतिवादी साहित्य 'सामान्य भाव' की जगह 'सामूहिक भाव' मानता है-भाव का विरोध वह भी नहीं करता। भारतीय काव्यशास्त्र जब ''प्रसन्नगंभीर पदाः काव्यबंधासुखावहा:" की घोषणा करता है, तब यह 'प्रसन्त-गंभीर जीवन' के चित्रण की बात करता है। काव्य 'दृष्टि' का नहीं, जीवन' का कलात्मक उरेह है। यदि जीवन जीने के मूल में 'दृष्टि' है, तो उरेहे हुए जीवन के साथ-साथ दृष्टि संबद्ध होने के कारण स्वयं उभरती हुई चली जायगी। चित्रित जीवन यदि जलाशय है तो भाव उसका जल और दृष्टि उसकी गह-राई या गंभीरता है। 'रसवाद' बुद्धि अथवा 'दृष्टि' का विरोधी नहीं है, क्यों कि वह स्वयम् 'दृष्टि' पर आधृत है। रसवाद या रसिसद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है जहाँ 'उपयोगितावाद' और 'कलावाद' का ही विरोध शान्त नहीं होता, समंजस व्याख्यान नहीं होता, प्रत्युत इस विवाद का भी समाधान हो जाता है कि काव्य में महत्व काव्येतर मूल्यों का है या काव्य के अपने मूल्य का, वर्ण्य विषय का या वर्णियता की क्षमता अथवा प्रतिभा का ? रससिद्धान्त इन तमाम परस्पर विरोधी विचारों का समन्वय करता है। रसवाद 'सामाजिक' की वस्तु है, अतः रस व्यंजक उपकरणों का समाजानुमोदित होना नितान्त आवश्यक है । सामाजिकता औचित्य का पर्याय है और औचित्य ही रस की परा उपनिषद् है। इस प्रकार उपकरण में उपगोगिताबाद है और परिणाम में कलाबाद या आनंदवाद । रसवाद 'व्यक्ति' और 'दृष्टिहीनता' का विरोधी है । रससिद्धान्ती की रस कल्पना ऐसी है जो काव्य में ही संभव है. अतः इस दृष्टि से वर्ण्यगत

समस्त मूल्यों की पर्यवसिति (काव्यानंद) कलाकृति से होने वाले आनंद में ही होती है। कभी-कभी छायावादी या स्वच्छंदतावादी समीक्षक अपने संदर्भ में रसवाद को इसलिये नाकामयाब मानते हैं कि रससिद्धान्त का सर्वस्व वर्ण्य है, वर्णियता नहीं। यह सिद्धान्त ग्राहक-हृदय-वेधी वाण (वर्ण्य) को ही सर्वा-धिक महत्व देता है - उस वर्ण्य-वाण के प्रयोक्ता के सामर्थ्य या प्रातिभवल को नहीं। पर यह भी उनका रसिद्धान्त के संबंध में अज्ञान है। आनंदवर्द्धन ने रसिद्धान्त की दृश्य-श्रव्य-काव्य मात्र में व्याप्ति की प्रतिष्ठा करते हुए कहा है कि ग्राहक की प्रतिक्रिया रूप में उत्पन्न आह्नादकर चित्तवृत्ति ही रस है काव्य से समुदृक्त अनुकूल संवेदना ही रस है। प्रतिकूल संवेदना के लिए कोई उन्मुख ही क्यों होगा ? रस की व्याप्ति आनंदवर्द्धन ने 'अनुकूल संवेदना' तक बढ़ा दी है जब वे कहते हैं कि किव ऐसी वस्तु का वर्णन ही क्यों करेगा जो कोई प्रभाव न छोड़े, किसी प्रकार की चित्तवृत्ति न पैदा करे ? उनके शब्दों में 'चित्तवृत्ति' ही रस है। इस व्याप्ति से अपरिचित लोग ही रस के संकीर्ण ढांचे की बात करते हैं। रहा यह कि रससिद्धांत वर्ण्यपर्यवसायी ही है, कवियता के सामर्थ्य का लेखा-जोखा नहीं करता—यह भी अज्ञान-विजृम्भण है। आनंदर्द्धन ने कहा है-

## सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् । अलोकसामान्यमभिन्यनिक परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।

महाकवियों की वारघेनु सहृदय वत्स के निमित्त जिस स्वतःस्फूर्त आनंदप्रवाहमय दुग्ध का प्रस्रवण करती है, सहृदय वत्स उस समय न केवल उस आनंद
या रस का ही आस्वाद लेता है, प्रत्युत उसी रसावेश में वह किव की प्रतिभा
का भी साक्षात्कार कर लेता है उसके सामर्थ्य और उसकी अंतरचेतना में
निहित सौंदर्य का साक्षात्कार कर लेता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त काफ़ी
व्याप्ति रखता है। इसके साथ एकबात यह भी जान लेनी है कि रस-सिद्धान्ती
यह कभी नहीं कहता कि चाहे जैसा भी काव्य हो और चाहे जिस किसी प्रकार
की मनोवृत्ति की उपज हो—सर्वत्र रस प्रतिमान पर ही उसे कसना चाहिए।
ध्वित्वादी, जो वस्तुतः रसध्विनवादी है, का कहना है कि काव्य-समीक्षा के लिए,
उसके संबंध में अपना मत व्यक्त करने से पहले यथासंभव सहानुभूतिपूर्वक रचना
के माध्यम से रचयिता के साथ एकख्प हो। इस प्रक्रिया से वह रचयिता के अन्तस्
की सारी प्रक्रिया और मूल संवेदन का साक्षात्कार कर ले। वह यह भी देख ले कि
मूल वृत्ति या संवेदन क्या है और उसकी अभिव्यक्ति के लिए तरपर् उपकरण विस

क्रम और तारतिमक्ता में सिक्रय हैं। इस आकलन में यदि प्रेरिक वृत्ति रसमय है, तभी रसात्मक प्रतिमान का प्रयोग करे—अन्यथा रसांधता मानी जायगी, अविवेक समझा जायगा। प्राचीन रचनाएँ भी सभी रसात्मक वृत्ति का ही परिणाम न थीं—सो आज भी कहाँ और कैंसे होंगी? सवाल जहाँ जो है उसके समीक्षण और उद्घाटन का है, जो नहीं है उसके समारोपण का नहीं। रसिसद्धान्त की संभावना उन्हीं रचनाओं के लिए है जो अनुकूल संवेदना या रसात्मक मनोवृत्ति का सभुच्छलन हों।

रहा यह कि तब से आज के मानस की बनावट और बुनावट सर्वथा भिन्न हो गई है। उस विषय में काव्य-संवेदना के दो मूलभूत अवयवों-भाव तथा दृष्टि-की दृष्टि से सोचने पर यह लगता है कि इनमें से भाव तो सार्व-भौम और शाश्वतप्राय हैं, दृष्टि अवश्य बदलती रहती है। अपनी सभ्यतामय विकास की यात्रा में आज का मानव अपने रूप और व्यापार से भाव का सीधा संबंध नहीं रख रहा है-बौद्धिकता के अतिरेक से संबंध पर्याप्त घुमावदार हो गया है। भाव के ऊपर कुंडलाकार बैठी बौद्धिक जटिलता ही मुखर हो रही है-जीवन में भी और उसके प्रतिफलनात्मक काव्य में भी। पर ऐसे सर्जकों की भी कमी नहीं है जो भारतीय दृष्टि से जीवन जीते हों और हृदय तथा जगत् के निरावरण रूप-व्यापार से आकृष्ट होते हों। गीत और नवगीत वाले तो निरपवाद रूप से इस धारा के सर्जक हैं। रससिद्धान्त की संभावना उनके यहाँ तो थोड़ी-बहुत होगी। निष्कर्ष यह कि बनावट मूल-वृत्तियों के परिवर्तन से नहीं, दृष्टिमात्र के परिवर्तन और बौद्धिक जटिलताओं के कुण्डलन से है। मानस अंशतः अवश्य परिवर्तित होगा, परन्त मूल मनोवत्तियों के माने में नहीं। उतनी दूर तक प्राचीन मान्यताओं की व्याप्ति संभावित है भावपक्ष से । अभिव्यक्ति पक्ष से सम्बद्ध वक्रोक्ति और ध्वनि सिद्धान्त तो उक्त पद्धति से आज भी संभावनागर्भ हैं। रहीं शब्द-शक्तियाँ— तो अशक्त शब्द का समर्थक कौन होगा ? उद्दिष्ट प्रतीति विघातक दोष की स्वीकृति में किसे विसम्मति होगी ?

यह सब कहने के बाद अंततः एक बात यह अवश्य कहनी है कि मेरा अभिप्राय यह कभी नहीं है कि जो प्राचीन चिन्तकों ने कह दिया है—वहीं और उतना ही सब कुछ है, और सब व्यर्थ है। मेरा कहना यही है कि भारतीय प्रकृति और यहाँ के ग्राहकों के गुण-धर्म को समझकर उसके अनुरूप दृष्टि को व्यापकता प्रदान की जाय। इसी व्यापक दृष्टि का ही युगानुरूप विकास किया

जाय—तभी सही, सच्चा, मौलिक और उल्लेख्य विकास होगा। जिसकी अपनी कोई दृष्टि न होगी उसका अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर कोई महत्व न होगा। रवीन्द्र ने अपनी रचनाओं में अपनी मिट्टी की गंध और महक उभारी थी, अतः अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर उसका स्वागत हुआ। अज्ञेय अनेक प्रयत्नों के बावजूद वह रूप अभी उस स्तर तक अपनी रचनाओं में न उभार पाए—अन्यथा उनका भी नोबुल पुरस्कार वाला स्वष्त सार्थंक हो गया होता।

मान है। जो है महा लिंगा है है मुक्ता है में साम है ने महा है। नहीं है कार्य है जार है जार है जार है जार जार जार जार जार है जार है जार है जार है जार है जार जार जार जार जार जार जार जार जार है जार है जार है जार है जार है जार जार जार है जार है जार जार जार जार जार जार जार जार है जार जार जार है जार जार जार जार जार है जार जार है जार जार है जार जार जार है जार जार जार है जार

्रिती है वीवसानी जीनों है तिस्ता । इसके की है किया हुए का इस कार अन्य महारेश महारोजी, हुए के उन्हें कर के किया है कारी हुए कि वीवसानी सामित्र के बीद हो हो कर विश्व कर है है। अस्ति की है को रेस सामान सर्वा है किया हम से दे हैं एकू कर के सामान करी

उन्हों नाम में त्यापात है हम हमें अने मंग है हम हमें मान है स्वाप कि वार का लिए हैं

## भारतीय कान्यशास्त्र के अठारह पुनराख्याताः आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

1.00,000 Pro 12 (2013) 210 TSMIK 1 00100

## क

'भारतीय साहित्यशास्त्र की रूपरेखा' प्रस्तुत करते हुये आचार्य वाजपेयी ने यह लक्षित किया है कि पिछली कुछ शताब्दियों के यूरोपीय समीक्षकों ने अपने साहित्यालोचन की परम्परा का जैसा क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत किया है वैसा प्रयास अपने साहित्यालोचन की परम्परा के उल्लेख में आधुनिक भारतीय विद्वानों ने नहीं किया। दृष्टि-भेद के कारण इस प्रकार के कार्य की आशा आधुनिक भारतीय विद्वानों से ही करना युक्तियुक्त है। दृष्टि-भेद से हमारा अभिप्राय है पूर्णतावादी और अपूर्णतावादी या विकासवादी दृष्टिकोण। निश्चय ही इस दिशा में प्रयत्नशील आधुनिक विद्वानों में कदाचित् पहला वैज्ञानिक प्रयास डाँ० डे का है। हिंदी में यह श्रेय आचार्य वाजपेयी को और मराठी में डाँ० देशपाण्डे को प्रमुख रूप से दिया जा सकता है। यों तो इतिहास अनेक लिखे गये हैं परन्तु उनमें व्यक्त प्रयास विशिष्ट प्रकृति का है, संश्लिष्ट प्रकृति का नहीं।

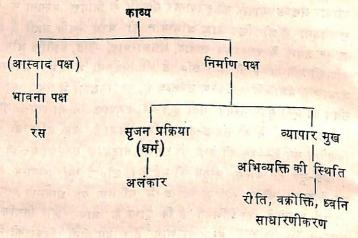
डॉ॰ डे ने भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा प्रस्तुत करते हुए क्रम-विकास के जो चरण निष्कर्ण रूप में निर्धारित किये हैं, वे इस प्रकार हैं—Formative stage, Creative stage, Definitive stage, एवं Scholastic stage । इसी संदर्भ में आगे चलकर प्राग्टविन, ध्विन एवं पश्चध्विन जैसे तीन खण्डों में भी उसे विभक्त किया है । आचार्य वाजपेयी ने अपनी प्रस्तावित रूपरेखा में विकास के जो चरण निर्धारित किये हैं, वे इस प्रकार हैं । (१) उद्भवकाल या निर्माणकाल, (२) अन्वेषण या विदग्धविवेचन का युग, (३) काव्य-तत्व-चितन का वास्तविक युग, (४)समन्वय युग या पांडित्य युग, (५)विघटन और विकलन का युग और (६) आधुनिक युग (नवजागरण काल) । इस विभा-

जन के अतिरिक्त आचार्य वाजेपेयी ने आलोचक-समिष्ट के अन्तर्जगत् की साहित्यशास्त्रीय विवेचनना संबंधी प्रक्रिया को ध्यान में रखकर अपनी स्वच्छं-दत,वादी प्रकृति के अनुरूप भी साहित्यालोचन के सैद्धांतिक और व्यावहा-रिक पक्षों का विकास-क्रम निर्धारित किया है। सैंद्धांतिक पक्ष की दृष्टि से उन्होंने तीन चरण बताये हैं (१) अन्तरंग (रस) तत्त्व और उसके भावन-पक्ष का प्राधान्य, (२) अपेक्षित सर्जन-प्रक्रिया में रूपयोजनात्मक मानस-सर्जन-प्रक्रिया तथा (३) अभिव्यंजना की स्थिति । पहले में रस, दूसरे में अंलकार और तीसरे में रीति, वक्रोक्ति तथा ध्विन की स्थिति मानी है। इसी संदर्भ में समुद्रवंघ के वर्गीकरण से उक्त विवरण की तुलना भी प्रस्तुत की है। डॉ॰ देशपाण्डे के अनुसार ''रस को केन्द्र में रखकर नाट्य-पक्ष से उसके विभावक रूप में जहाँ एक ओर अभिनय की चर्चा की गई, वहाँ श्रव्यकाव्य के पक्ष से रस का विभावन करने वाले उत्तरोत्तर सूक्ष्म तत्त्वों का अनुसंधान होता गया जिनमें से कुछ रस के स्वरूपाधायक और कुछ उत्कर्षाधायक धर्म थे । बस्तुतः, काव्य-पक्ष से विचार करने वालों ने काव्यात्मक शब्दार्थ का शास्त्रीय शब्दार्थ से व्यावर्तक धर्म 'सींदर्य' पाया । भामह से रुद्रट तक के किये गये प्रयासों से क्रमशः यह स्थापित किया गया कि सौदर्य 'रस' में है और शब्दार्थों से रसनिष्पत्ति किस प्रकार होती है, इस पर ध्वानिकार ने विचार किया। इस प्रकार रस को ही केन्द्र में रखकर नाड्य-पक्ष और श्रव्य-पक्ष से प्रवाहित होती हुई विभिन घाराएँ ध्वनिसम्प्रदाय में एकाकार हो उठीं।" अतः देशपाण्डे ने जो विकास का सविस्तार अध्ययनपूपक प्रतिपादन किया है, उससे ये चरण निर्धारित हुए हैं—(१) क्रियाकल्प (२) काव्य लक्षण, (३) काव्यालकार, (४) साहित्य, तथा (५) साहित्यपद्धति । आचार्य वाज-पेयी की भाँति स्वसम्मत विकास की रूपरेखा निर्धारित करने में समुद्रबंध को इन्होंने भी उद्धृत किया है। इस प्रकार आपाततः पृथक् प्रतीत होते हुए काव्य-सिद्धांतों में एक अन्तःस्थित सम्बन्ध-सूत्र ढूँढ़ निकालने के ये ही प्रमुख प्रयास हैं। अन्य कुछ विद्वान् भी हैं, पर उन लोगों ने इस सम्बन्ध-सूत्र का उद्घाटन न कर पलब्ध सामग्री का वर्गीकरण मात्र किया है।

इस सन्दर्भ में आचार्य वाजपेयी जी के प्रयास की कई विशेषताएँ उद्-घाटित होती हैं। यह सही है कि डॉ॰ डे अथवा देशपाण्डे ने अपने निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले आधारभूत सामग्री का विशद अध्ययन भी प्रस्तुत किया है; पर आचार्य वाजपेयी के स्वच्छंदतावादी समीक्षक मानस का संघटन उन्हें बाह्य वस्तु-विवेचन की अपेक्षा आन्तर विश्लेषण की ओर कहीं अधिक रुचि

के साथ प्रवृत्त करता है। यही कारण है कि विभिन्न सिद्धान्तों के अन्त:-सम्बन्ध का बहुत ही आकर्षक उद्घाटन हो सका है। दूसरी विशेषता इस उद्घाटन की यह भी है कि उनके प्रयास के मूल में आंग्ल-साहित्यालीचन की समृद्ध ऐतिहासिक परम्परा के गहन अध्ययन और तज्जनित संस्कार से निर्मित निर्मल पैनी दृष्टि विशेष सिक्रय है । इसलिए वे साहित्यालोचन-प्रवण समष्टि-मानस के क्रमिक आंतरिक व्यापार का मार्मिक उपस्थापन कर सके हैं। कवि-मानस का प्रथम व्यापार भाव से उमंग उठना है, द्वितीय व्यापार अखण्ड व्यापार की हृदयान्तर संक्रांति के निमित्त कल्पना में सखण्ड रूपयोजना है और फिर बाह्य अभिव्यक्ति की चरम स्थिति आती है। इसी क्रमिक प्रयास के फलस्वरूप रसवाद, अंलकारवाद, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि-वाद की प्रतिष्ठा होती है। डॉ॰ डे की विवेचना में प्रभूत अध्ययन पर आधारित वैज्ञानिक वर्गीकरण उपलब्ध है, पर सिद्धांतों में स्थिर साहित्यिक संबंध का ऐसा सूक्ष्म उन्मेष नहीं है। श्री देशपाण्डे ने साहित्य-सिद्धांतों की विभिन्न धाराओं में जो संबन्ध-सूत्र प्रदर्शित किया है, वह अविरोधी क्रमिक विकसित रूप है—रस को केन्द्र में रखकर नाट्यपक्ष एवं कान्य-पक्ष से उस सम्बन्ध-सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। डॉ॰ डे एवं अन्यान्य लोगों ने इन सिद्धान्तों को पारस्परिक विरोध में गतिमान या धावमान बताया है। आचार्य वाजपेयी का अभिमत है कि काव्य के भावन और निर्माण-पक्ष से किये गये विचारों के वे सहज परिणाम हैं। इन तीनों विचारकों में से दो देशपाण्डे की इस विचारधारा के अनुरूप नहीं हैं कि एकमात्र इसको ही केन्द्र में रखकर विभिन्न सिद्धांत प्रवाहित हुये हैं। मेरा भी विचार इसी पक्ष का है और ऐसा होने का कारण यह है कि जब स्पष्ट रूप में वामन, कुंतक आदि रीति और दक्नोक्ति को काव्य की आत्मा कह रहे हैं, तो उस पर धूल किस प्रकार डाली जा सकती है ? दूसरे, रस को कान्ति गुण का स्वरूप मानकर भी 'कान्तिमतीगौडीया' कहने वाला वामन रस को केन्द्रीय वस्तु किस प्रकार मान सकता है ? आचार्य जी के विवेचन की एक और बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सिद्धान्तों का पारस्परिक सम्बन्ध विरोधात्मक प्रवृत्ति के द्वारा नहीं, बित्क साहित्यिक प्रवृत्ति के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। साहित्यिक प्रकृति यह कि पहले सम्भवतः भारतीय आचार्यों ने काव्य के भावन पक्ष पर बल इतना दिया कि निर्माण-पक्ष उपेक्षित-सा हो गया। अतः निर्माण-पक्ष से विचार आरम्भ हुआ और तरह-तरह के सिद्धांत क्रमिक रूप से विकसित होते गये।

उपर्युक्त तीनों आचार्यों के द्वारा निर्धारित साहित्यालोचन की ऐतिहासिक प्रगति के विभिन्न चरणों की जहाँ तक बात है, बहुत दूर तक वे मिलते-जुल ते से हैं। फिर भी, जहाँ डॉ॰ डे एवं डॉ॰ देशपाण्डे ने विकास के चरणों की सीमा पण्डितराज तक ही सीमित रखी है, वहाँ वाजपेयी जी ने दो चरण और आगे के दिखाकर यह स्पष्ट कर दिया है कि भारतीय समीक्षा-धारा अभी प्रवहमान है। उनकी निम्नलिखित वर्गीकरण-प्रक्रिया भी नितांत साहित्यिक और मार्मिक है—



किन्तु यह सब पिश्चमी दृष्टि से हैं, भारतीय दृष्टि से नहीं—यद्यपि ज्ञान के क्षेत्र में वाजपेयी जी का स्वच्छंद व्यक्तित्व पूर्व एवं पिश्चम की सीमा से ऊपर उठा हुआ है और वे इसे ही पसंद करते हैं। दूसरी बात यह है कि वे स्थूल ऐतिहासिक ब्योरों में न पड़कर साहित्यिक और आन्तर विश्लेषण की ओर कहीं अधिक उन्मुख रहते हैं।

भारतीय चितन को पश्चिमी सींदर्यशास्त्र के गहन अध्ययन और मनन से जिनत निर्मल दृष्टि से देखकर उन्होंने जो अपना मत प्रकट किया है, वह एक व्याख्याकार का नहीं, मौलिक चितक का है। 'रस की नई व्याख्या' का भी महत्त्व इस दृष्टि से कहीं ज्यादा है।

हिन्दी के अन्य मनीषियों ने ऐतिहासिक नहीं, सैद्धान्तिक वर्गीकरण पर अवश्य विचार किया है। शुक्ल जी ने रस के अंग रूप में ही अन्य सिद्धान्तों की चर्चा की है। प्रसाद जी का आधार ऐतिहासिक नहीं, दार्शनिक है। वस्तुवादी और आत्मवादी कहलाने वाले भी साहित्यिक से अधिक दार्शनिक हैं। अन्तरंग और बृहिरंग वाले भी उन्हीं के नजदीक हैं। भारतीय दृष्टि यह अवश्य है कि अखंड (रस) सखंड (रूप) होकर ही दूसरे तक (सहृदय ग्राहक तक) पहुँच सकता है, पर मानस में या प्रतिभा में केवल रूप-योजना नहीं होती, अपितु अनुरूप शब्द स्फुरण भी होता है। पण्डितराज ने 'प्रतिभा' की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा है—'काव्यानुकूल शब्दार्थोस्थितः प्रतिभा'। इस प्रकार जहाँ एक ओर भारतीय दृष्टि से 'रूप योजना' में अंलकार और अंलकृत दोनों हैं, वहीं मानस-सर्जन-प्रक्रिया में वे समस्त काव्योपकरण घटित हैं, जो अभिव्यक्तिकाल में वाहर आते हैं। इस स्थिति में उक्त तीन स्थितियों के अन्तर्गत विभिन्न सिद्धान्तों को रखना और फिर उसे समुद्रबंध से मिलाना अनुरूप नहीं है।

सम्प्रति, उनके द्वारा विवेचित एक-एक काव्य-सिद्धान्त को लेना चाहिए।

आचार्य जी मानते हैं कि अंलकारवादियों ने जिस अंलकार को कान्य की आत्मा माना है, उसका प्रयोग उन लोगों ने दो अर्थों में किया है: (१) कान्य-सौन्दर्य या कल्पना-सौन्दर्य, तथा, (२) कल्पना द्वारा समाहित रूप या अर्थ सम्बन्धी चमत्कार। पहला अंलकार का व्यापक अर्थ है और दूसरा सीमित। पहला उसका अंतरंग पक्ष है और दूसरा बहिरंग। पहले के अन्तर्गत समस्त सौन्दर्य-स्रोत (गुण, रीति, वक्रोक्ति, रस) अन्तर्भूत हैं और दूसरे में वक्रतामुलक अभिव्यक्ति-प्रणाली के रूप में स्वीकार करके कित्यय अलंकार ही।

जहाँ तक अंलकार के उपर्युक्त द्विविध रूप की बात है, इस विषय में कुछ कहना आवश्यक जान पड़ता है। भारतीय दृष्टि से 'अलंकार' शब्द के अंलकार-वादियों द्वारा कथित द्विविध अर्थों को समझाया जाय, तो कहा जायगा कि इन लोगों ने 'अंलकार' शब्द का दो प्रकार की व्युत्पत्तियों के माध्यम से अर्थ किया है—भावव्युत्पत्ति (अंलकरणम् अलंकार: ) तथा करण ब्युत्पत्ति (अलंक्रियतेऽनेनेति अंलकार: )। पहली दृष्टि से वह सौन्दर्यपरक अर्थ में भी प्रयुक्त हो सकता है और दूसरी दृष्टि से व्यापक एवं सीमित सौन्दर्य-साधन के अर्थ में। व्यापक अर्थ में समस्त सौन्दर्य-स्रोत अंलकार होंगे तथा सीमित अर्थ में कतिपय अलंकार ही। वाजपेयी जी ने 'सौन्दर्यपरक' अर्थ को व्यापक और अभिव्यक्ति-प्रणाली परक अर्थ को तथा समाहित-कल्पनाकृत रूप-सृष्टि को सीमित अर्थ में अंलकार कहा है। Image Making Faculty के रूप में पश्चिमी दृष्टि कल्पना का कार्य

केवल रूप-सृष्टि मान सकती है, और उसी दृष्टि से वाजपेयी जी की इस उक्ति की भी सार्थ कता है। पर पदि काव्यीय-कल्पना का स्थान भारतीय दृष्टि से कारियंत्री प्रतिभा ग्रहण कर सकती है, तो उसकी सृष्टि के अतर्गत मूल भाव को हृदयान्तर तक पहुँचाने के अनुरूप समस्त उपकरण सिन्निविष्ट हैं। इस स्थिति में केवल अंलकार की बात गले के नीचे नहीं उतरती। यदि यथाकथिवत् इस पक्ष को स्वीकार भी कर लिया जाय कि कारियंत्री प्रतिभा या कल्पना केवल रूप-सृष्टि ही करती है, तो भी यह विचारणीय है कि क्या समस्त रूप-सृष्टि सीमित अर्थ में अलंकार का पर्याय है ? उस रूप-सृष्टि में अंलकार ही है या अंलकृत भाव-व्यंजक सामग्री भी ? हाँ, यदि उसे लाक्षणिक अर्थ में अंलकार (कलापक्ष के लिये) कहना अभीष्ट हो, तो कोई आपित्त नहीं। रहा कल्पनाकृत रूप-सृष्टि में शब्दालंकार का अप्रवेश, तो उसे बहिरंग मानकर उपेक्षित कर दिया गया है।

#### रीतिवाद

निस्संदेह, वाजपेयी जी के इस निर्णय से मैं शब्दशः सहमत हूँ कि रीति-सम्प्रदाय भी अलंकार का ही एक अंग माना जा सकता है। काव्य के सर्जन-पक्ष से विचार करने पर मुख्यतः दो ही काव्यात्मवादों की स्थिति जी विद्वान् करते हैं, उनसे में पूर्णतः सहमत हूँ। जब वामन 'सौन्दर्य' को काव्य का शास्त्रव्यादर्त्तक तत्व स्वीकार करते हैं और उसे अंलकार से अभिन्न तथा एकमात्र अलंकार-साध्य मानते हैं, तो उन्हें अलंकारवादी कहने में हमें हिचक ही क्या हो सकती है ? पर यह अंलकारवाद रीतिमुखी अलंकारवाद है। जहाँ पूर्ववर्ती अंलकारवादी समस्त सौन्दर्यस्रोत को अलंकार के अन्तर्गत रखते थे, वहाँ ये लोग उन्हें 'रीति' के अंतर्गत रखते हैं। रीति को गुणमय मानते हैं और अंलकार को गुण की अपेक्षा काव्य का बहिरंग तथा अप्राथमिक शोभा-वर्द्धक (शोभाधायक नहीं) धर्म मानते हुए इतर कितपय तत्वों को इसी में (गुण में) समेट लेते हैं।

रीति की जो स्वरूपगत विकास और हास की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, उसमें अनेक आवश्यक ऐतिहासिक तथ्य छूट गये हैं। उदाहरणार्थ रीति का स्वरूपगत विकास प्रान्तीय, वैषियक और वैयक्तिक जैसी इतिहास-सम्मत भूमियों पर प्रस्तुत नहीं किया गया। रीतियों की संख्या के विकास और हास के कारणों पर अनुमान करते हुए वाजपेयी जी ने जो तर्क दिया है, वह उनके मौलिक चिन्तन का ज्वलन्त प्रमाण है। उन्होंने बहुत ही सही कहा है कि वामन

ने नये-नये नाम साहित्यिक शैलियों के लिये चलाये और उन्हीं की देखादेखी रुद्रट एवं भोज ने भी नये-नये प्रान्तीय नामों से अभिहित कर रीतियों की संख्या बढ़ा दी । इसी प्रसंग में ह्रास के कारण पर जो विचार किया गया है, वह भी कम महत्त्व का नहीं है । वामन ने पूर्वागत वैदर्भ एवं गौड़ के अतिरिक्त एक 'पांचाल' नाम भी आविष्कृत किया। साथ ही रीतियों का संबंध जहाँ एक ओर प्रांतों से स्थापित किया, वहीं दूसरी ओर गुणों से भी । संख्या प्रांतों की भी और गुणों की भी बढ़ाई। परवर्ती आचार्यों ने प्रांतों से संबंध हटाकर उसे केवल गुणों (विषय और व्यक्ति) से जोड़ा फलतः संख्या घटती गई। अंततः तो गुणों से भी रीति का संबंध समाप्त हो गया। मम्मट तक आते-आते रीति अनुप्रास अलंकार के भेद के रूप में और गुण रस के धर्म में सिमट गया। वाजपेयी जी के इस अनुमान में भी कुछ सार जान पड़ता है कि रीति और अलंकार-सम्प्रदाय के बीच किसी समय स्पर्द्धा रही होगी। रीति-वादियों ने गुण को काव्य का अनिवार्य और प्राथमिक शोभाधायक धर्म माना और अलंकार को आनुषंगिक उत्कर्षाधायक धर्म बताया। अलंकारवादियों ने तो नहीं, ध्वनिवादियों ने अवश्य बीस गुणों को भिन्न-भिन्न काव्यतत्वों में अंत-र्भूत कर दिया । जयदेव तक अलंकारवादी आचार्य वामन-सम्मत गुणों का पृथक् उल्लेख करता रहा। ध्वन्यालोककार के विवेचन तक यह दिखाई पड़ता है कि रीति का आधार गुण की जगह 'समास' हो गया था। आगे चलकर मम्मट-कृत विवेचन से यह निणीत होता है कि तब 'समास' को हटाकर कटु-मध्र एवं मिश्र वर्ण हो गये थे। इस प्रकार आधार के क्रमिक परिर्वतन से वृत्ति एवं रीति अभिन्न हो गई और रीति अंलकार के एक भेद-अनुप्रास-में सिमट गई और सिमट कर रस-निष्पत्ति में परम्परया साधक हो गई।

रीति मत से पृथक् गुण-सम्प्रदाय की बात इधर हिंदी के विभिन्न मनी-वियों ने चला रखी है, लेकिन मुझे कम से कम यह ज्ञात नहीं है कि गुण-सम्प्रदाय का प्रवेतक कौन है।

#### वक्रोक्तिवाद

इस मत पर बहुत चलते ढंग से विचार किया गया है। यद्यपि ऐतिहासिक क्रम से देखा जाय तो यह मत ध्विनमत के बाद आता है, पर सर्जना-पक्ष से किये गये विचार के फलस्वरूप अलंकार और रीतिमत के बाद इसी का क्रम आता है। वाजपेयी जी ने वक्रोक्ति का स्वरूप बताते हुए ठीक ही कहा है कि वैद-ग्ध्यभंगीभणिति द्वारा कुंतक ने रमणीय उक्ति अथवा वक्रोक्ति को काव्य की संज्ञा देने के पश्चात् उसका विस्तार काव्य के समस्त स्वरूप का स्पर्श करते हुये किया है । हाँ, प्रभेद की चर्चा करते हुए काव्य-वक्रता की ओर गज-निमीलिका अवश्य द्रष्टव्य है।

#### ध्वनिमत

ध्वनि-सिद्धांत के उद्भव के मूल में वाजपेयी जी इतना ही स्वीकार करना चाहते हैं कि काव्य में अब तक नाट्य के समकक्ष 'रस' तत्त्व की मूर्द्धन्य स्थिति स्वीकृत नहीं थी । ध्वनि-सिद्धांत के द्वारा एक तरफ़ काव्य का परम प्रतिपाद्य रस को ठहराया गया, तो दूसरी ओर उसके आस्वादन की प्रक्रिया समझाई गई। निस्संदेह, ध्वन्यालोककार की कई पंक्तियाँ यह सिद्ध करती है कि वे काव्य में 'रस' को ही मूर्द्धन्य और परम प्रतिपाद्य मानते हैं और उसके आस्वादन का माध्यम व्यंजना या ध्वनन व्यापार स्थापित करते हैं। यद्यपि आनन्दवर्द्ध न ने एक जगह 'काव्य की आत्मा ध्वनि' का प्रतिपादन किया है, तथापि परवर्ती विवेचन पर गम्भीर दृष्टि निक्षेप से यह निष्कर्ष निकलता है कि उनका मान्य सिद्धांत 'काव्यस्यात्मा स एवार्थ' ही है, जिसका अभिप्राय अभिनव गुप्त ने भी यही लगाया है कि आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रस्तुत क्रौंचवध की घटना के माध्यम से काव्य का इतिहास तथा उक्त उद्धरण काव्य की आत्मा 'रस' को ही सिद्ध करते हैं। एक जगह तो आनन्दवर्द्धन ने यह भी कहा है कि ध्वनि-स्थापन का इतना विस्तृत ब्योरा देखकर कोई यह न समझे कि वे ध्विन को काव्य का प्रतिपाद्य मानते हैं। वे तो 'रस' को ही काव्य का मूल प्रतिपाद्य मानते हैं। कहा ही है कि 'रसादिमय एकस्मिन् कवि: स्यादवधानवान्' । इस प्रकार वाजपेयी जी की यह स्थापना बिल्कुल सही है कि आरम्भ में ध्वनि-सिद्धांत द्वारा काव्य में रस की महत्ता और उसके आस्वादन की प्रक्रिया समझाई गई है। इसी तथ्य को 'जयशंकर प्रसाद' में बड़ी ही पैठ पूर्वक प्रस्तुत करते हुए आनन्द एवं अभिनव के साथ उन्होंने यह स्वीकार किया है कि वस्तु एवं अलं-कार ध्विन भी अंततः रसपर्यवसायी होने के कारण ही उपचारतः काव्य की आत्मा कहे गये हैं।

वाजपेयी जी की दूसरी स्थापना यह है कि परवर्ती ध्वनिसम्प्रदायानुया-यियों ने ध्वनि एवं रस की काव्य में व्याप्ति की दृष्टि से तारतम्य का भी विचार आरंभ किया। इस स्थापना से भी मैं पूर्णतः सहमत हूँ। स्वयं अभिनव गुप्त ने रसांध भट्टनायक की समीक्षा करते हुए सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत किया है कि सर्वत्र काव्यव्यवहारोचित चास्ता का भार 'रस' पर ही केन्द्रित नहीं होता, ध्विन के अन्य प्रभेद भी उद्य रहते हैं। अन्य उद्योव तत्व के बावजूद, किव-प्रतिभा का संरम्भ होने के बावजूद भी अव्यक्त और अनुद्गीव 'रस' तत्व पर ही काव्यव्यपदेशोचित चारता का टिकाव स्वीकार करना केवल आग्रह है, विवेक नहीं। निष्कर्ष यह है कि 'रस' की अपेक्षा 'प्रतीयमान' या 'ध्विन' की व्याप्ति की अधिकता पर अवश्य इन लोगों ने बल दिया। हाँ, इसी प्रसंग में एक तीसरी बात उन्होंने कही है कि ध्विन की व्याप्ति की आपेक्षिक अधिकता स्वीकार करने वालों ने ध्विन, गुणीभूत व्यंग्य एवं चित्र काव्य जैसे वर्गीकरण के बीच कहीं रस का उल्लेख नहीं किया। यह इसिलिये ठीक भी है कि स्पष्ट रूप से कहीं 'रस' पर आधारित वर्गीकरण नहीं है, पर इसिलए विचारणीय भी है। असंलक्ष्यक्रम ध्विन के रूप में यहाँ भी उसका नाम है। वाजपेयी जी की इस स्थापना में भी सार है कि ध्विन की आपेक्षिक विस्तृत व्याप्ति मानने वाले केवल एक भेद के रूप में रस की स्थिति मानने लगे। उनके इस वक्तव्य से भी हम सहमत हैं कि इन ध्विनसम्प्रदायनुयायियों ने फिर भी 'रसात्मक वाक्यं काव्यम्' के द्वारा 'रस' की प्रतिष्ठा प्रवहमान रखी और उसकी व्याप्ति मानने वालों का सर्वथा लोप नहीं हुआ।

व्यावहारिक समीक्षा के प्रसंग में 'ध्वनि' से सम्बद्ध कुछ रोचक प्रश्न भी खड़े किये गये हैं। 'हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी' में 'निराला' जी पर लिखते हुए उन्होंने कहा है कि ''प्राचीन शास्त्र कहते हैं कि ध्विनमूलक काव्य श्रेष्ठ है पर इस आग्रह को हम हद के बाहर लिये जा रहे हैं, क्योंकि ध्वनि और अभिधा काव्य-वस्तु के भेद नहीं हैं, केवल व्यक्त करने की प्रणाली के भेद हैं, जो काव्य वस्तु को देखते हुए छोटी चीज हैं।" इन विवेचनाओं में हमें आनन्दवर्द्धन की छाया दिखाई पड़ती है। साथ ही, कालिदास के श्री हर्ष से आपेक्षिक महत्त्व का समाधान मिल जाता है। आनन्दवर्द्धन ने ध्वन्या-लोक के चौथे अध्याय में यह स्पष्ट सिद्ध किया है कि ध्विन भेद प्रणाली है और अभिव्यक्ति की एक प्रणाली भी है। एक ही वक्तव्य के ध्वनि की विभिन्न प्रणालियों से वर्णित होने के उदाहरण दिये हैं। दूसरी बात यह कि ध्वनि और अभिधा में स्वरूपतः ध्वति बड़ी और अभिधा छोटी है, मैं भी नहीं मानता। के जल ध्वनि और अभिधा के सम्पर्क से कोई चीज छोटी बड़ी नहीं हो जाती, किसी वर्ण्य का महत्त्व घट-बढ़ नहीं जाता । यह तो कहने का ढंग है जो वक्तव्य को आकर्षक और अनाकर्षक बना देता है। कालिदास उपमा के कवि हैं, अतः उपमा को उन्होंने शतशः अभिधा में कहा है और नैषधकार उत्प्रेक्षा-सम्राट हैं इसलिये वहाँ उपमा व्यंग्य रहती है। यदि अभिधा और व्यंजना के महत्त्व को हम बेहद मान लें, तो फिर कालिदाम से भी हर्ष बड़े किव हो जाते हैं, पर क्या सहृदय समीक्षक-वर्ग इसे स्वीकार करता है ?

'प्रसाद' की कामायनी की विवेचना के अवसर पर वाजपेयी जी ने ध्विन के कित्यप्य प्रभेदों की भी सोदाहरण विवेचना की है, पर वहाँ यह स्पष्ट नहीं किया है कि कौन सी वस्तु और कौन सा अंलकार किस प्रकार ध्विनित हो रहा है? संभव है, इसके मूल में उनकी स्यूल विवरण की ओर से विमुख रहने वाली मनोवृत्ति सिक्रिय हो। पर यह बात केवल इस कृति के पूर्ववर्ती संस्करण तक ही सीमित है। अपने परवर्ती संशोधित संस्करण में इस प्रकार के अंसतोष का अवसर उन्होंने नहीं रहने दिया है। उसमें समुचित उदाहरणों एवं काव्योचित तथा साहित्यशास्त्र-समिथत विश्लेषण और विवेचन से स्थल को अधिक प्रस्फुटित कर दिया है।

#### रस-सिद्धान्त

वाजपेयी जी ने 'रस-सिद्धान्त' की परम्परागत और मौलिक दो प्रकार की व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। परम्परागत व्याख्याओं के प्रसंग में कुछ संशोधन भी प्रस्तुत किये हैं।

जहाँ तक भट्टलोल्लट की व्याख्या का सम्बन्ध है, उत्पत्तिवादी (नायक के पक्ष से) और आरोपवादी (प्रेक्षक के पक्ष से) दोनों ही प्रकारों के अनुरूप उपपत्तियाँ प्रस्तुत गई हैं। शंकुक का अनुमितिवादी मत भी ठीक-ठीक ढंग से सारगिभत रूप में प्रस्तुत किया गया है। भट्टनायक के मत को प्रस्तुत करने के लिये बड़ी ही सुन्दर शैली में पीठिका प्रस्तुत की गई है। भट्टलोल्लट एवं भट्टशुंकुक की व्याख्या अपर्याप्त बताई गई है । भट्टनायक की अपनी व्यारव्या से पूर्व, पूर्वागत व्याख्याओं द्वारा प्राप्त निष्कर्ष से दो बातें इस प्रकार की आ उपस्थित होती हैं कि जिनका उत्तर दिये बिना आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता। पहली बात तो यह है कि जो सामग्री मंच पर है, उसे प्रेक्षक के भावोद्बोध में कारण क्यों न मान लिया जाय ? उत्तर है कि मान लिया जाता यदि उसका नायक से सम्बद्ध रूप में ज्ञान न होता। परन्तु (अन्य-सम्बद्ध फलतः) परकीय बोध एक ऐसा प्रतिबंधक है जिसके कारण इस सामग्री का उपयोग प्रत्येक के 'आस्वाद'-बोध में तो नहीं हो सकता। वाजपेयी जी ने उन लोगों का तर्क भी बहुत ही ठीक उठाया है, जो यह मानते हैं कि नाटकीय प्रयोगवण एक ऐसा भ्रमात्मक वातावरण तैयार हो जाता है कि प्रेक्षक अपने को नायक से अभिन्न मान लेता है। इस स्थिति में परकीय बोध

का प्रतिबन्ध हट जाता है। पर इस पक्ष में भी एक अनिवार्य प्रतिबन्ध यह है कि नायक के साथ प्रेक्षक का तादात्म्य हो जाने पर प्रेक्षक की अनुभूति भी नायक की लौकिक अनुभूति-सी सुखात्मक (रसात्मक प्रकृति से भिन्न) के साथ दु:खात्मक भी हो सकती है। अतः 'तादात्म्य' और 'ताटस्थ्य' का मार्ग छोड़कर भट्टनायक ने प्रेक्षकगत अनुभूति के रसात्मक प्रवृत्ति को सिद्ध करने के लिये काव्य के तीन व्यापार कित्पत किये—अभिधा, भावना एवं भोग।

भट्टनायक द्वारा आविष्कृत 'भावना' और 'भोग' पर लोगों ने पर्याप्त विचार किये हैं। आचार्य वाजपेयी ने भावना या भावकत्व दो 'भाव' के गुण माना है और बताया है कि यह और कुछ नहीं, बल्कि 'भावना' करने की सामर्थ्य ही है। अपने पक्ष के समर्थन में भरत के नाट्य-शास्त्र की उस पंक्ति का आशय भी उद्घृत किया है, जिसमें यह कहा गया है कि जो काव्यार्थों को भावना का विषय बनावे, वही भाव है (काव्यार्थान् भावयन्ति इति भावाः)। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा है कि काव्यार्थ रस का भावक है। इन उद्धरणों और विवेचनों को जोड़कर यदि आचार्य जी का मंतव्य स्पष्ट किया जाय, तो यह कहा जा सकता है कि 'भावना' एक व्यापार है और ('भावकत्व' रूप में) वह 'भाव' का गुण है। भावना करने की सामर्थ्य है किस विषय की ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये आचार्य जी ने कहा है कि भावना का विषय है काव्यार्थ । अभिनवगुप्त ने भी बिलकुल यही बात कही है कि 'काव्यार्थ' का अर्थ यहाँ 'रस' है, 'काव्य में वर्णित अर्थ' नहीं। इन विवेचनाओं में स्वाभाविक चिन्तन के माध्यम से आचार्य जी वहाँ पहुँच गये हैं, जहाँ अभिनवगुप्त । पर इस प्रसंग और विवेचन के संदर्भ में केवल एक ही उक्त वाक्य 'काव्यार्थ रस का भावक' कुछ संगत नहीं लगता। यदि काव्यार्थ का अर्थ 'काव्य में विणत अर्थ' लिया जाय, तब तो अवश्य संगति नहीं लगाई जा सकती है। पर तब 'काव्यार्थ' भी भावक अर्थात् 'भावन' व्यापार का आश्रय हुआ और 'भाव' को भी भावकत्व या भावना का आश्रेय कहा गया है, अतः इस भासमान असंगति का परिहार किस प्रकार हो सकेगा ? हाँ, यदि काव्यार्थं का अर्थ काव्य में विणित 'भावात्मक' अर्थ ले लिया जाय, तो संगति लगाई जा सकती है। फिर भी, इस विवेचन के संदर्भ में 'काव्यार्थ' शब्द का 'रस', 'भाव' एवं काव्य वर्णित 'व्यंजक अर्थ' तीनों अर्थों में प्रयोग करना तो विचारणीय हो ही जाता है। यों 'भावन' या 'भावना' पर इधर डॉ॰ नगेन्द्र तथा अन्य विचारकों के भी ऐसे बहुरूपी विचार आये हैं कि उन सब के सन्दर्भ में वाजपेयी जी के विचारों का मूल्यांकच किया जा सकता है, पर वह एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय होगा।

'भावना' के अनन्तर 'भोग' पक्ष की व्याख्या में वाजपेयी ने जी दार्शनिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से विचार किया है। कितपय अन्य मूर्द्धन्य समीक्षक काव्य के इस भोगात्मक आस्वाद और तदर्थ अपेक्षित व्यापार दोनों पर अनपेक्षित स्तर तक मनोविज्ञानशास्त्र का सहारा लेने लगे हैं। वाजपेयी जी स्वयं प्रयोग काल में पड़े हुए का सहारा दूसरे के निर्णय में लेना नहीं चाहते।

परम्परानुसार उन्होंने भोग के दार्शनिक रूप का संक्षेप में स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जिस क्रिया के द्वारा साधारणीकृत स्थायी भाव का रस-रूप में उपभोग होता है, उसे भोजकत्व कहते हैं। रजस् और तमस् विहीन सात्विक मन ही काव्य-रस का भोग करता है। आगे उसी का (पिश्चमी) साहित्यिक दृष्टि से स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा है, ''इस स्थिति में सांसा-रिक दृश्य और संवेदनायें तिरोहित हो जाती हैं, शुद्ध साहित्यिक (कल्पना-जन्य) आनन्द उपलब्ध होता है। यह आनंद इसलिये बह्मानन्द सहोदर कहलाता है।"

साहित्यिक दृष्टि से उन्होंने इस आस्वाद को वह कल्पना-जन्य आनन्द वताया है जिसमें आस्वाद्य सामग्री के व्यवहारोपयोगी पक्ष और तज्जन्य संवेदनायें तिरोहित हो जाती हैं तथा सामग्रीगत आनन्दोद्रेकानुरूप पक्ष कल्पना-गृहीत होकर काव्यास्वाद का अनुभव करता है । एडिसन ने भी कल्पनाजनित आनन्द की कुछ ऐसी ही व्याख्या प्रस्तुत की है। भारतीय दृष्टि से वाजपेयी जी यह स्वीकार करते हैं कि वह आनन्द ब्रह्मानन्द सहोदर है और 'निकप' की भूमिका में तो उन्होंने यह भी कहा है कि इस आनन्द को लौकिक या अलौकिक दोनों कहा जा सकता है। वाजपेयी जी के इस वक्तव्य को कुछ लोग बचाव की कौशलपूर्ण पदावली समझते हैं, पर मैं यह नहीं मानता । इस आस्वाद को इस दृष्टि से 'लौकिक' भी कहा जा सकता है कि लोक में रहने वाले सहृदय इसका आस्वाद करते हैं, पर साथ ही कहीं यह प्रश्न न हो जाय कि अन्यविध लोकगत ऐन्द्रिय अनुभूतियों की क्या संज्ञा दी जाय ? क्योंकि एक ही संज्ञा से दोनों का बोध करना ठीक न होगा। जिस प्रकार केवल 'लौकिक' संज्ञा श्रामक है, उसी प्रकार केवल 'अलौकिक' संज्ञा भी भ्रामक है । केवल 'अलौकिक' कहने से यह भ्रम खड़ा हो सकता है कि रसानुभूति कोई लोकोत्तर भूमिका की चीज तो नहीं है ? अतः वाजपेयी जी ने दोनों ही शब्दों का प्रयोग करके दोनों शब्दों से होने वाली भ्रांतियों की जैसे नाकाबन्दी सी कर दी है।

अभिनवगुष्त की रस-व्याख्या को उपस्थित करते हुए उन्होंने भी परम्परा-गत प्रसिद्धि के अनुरूप यह स्वीकार किया है कि अभिनवगुष्त का भट्टनायक से वैशिष्ट्य सहज ही इस बात में है कि जहाँ भट्टनायक भावना और भोग नामक दो पृथक्-पृथक् व्यापार काव्यरसास्वाद के लिए स्वीकार करते हैं वहाँ अभिनवगुप्त इन दोनों के कार्य को एक मात्र व्यंजना-साध्य मान लेते हैं। इसलिए वे अवश्य स्वीकार्य व्यंजना से भिन्न दो नवीन काव्य-शक्तियों की कल्पना अत्यावश्यक मानते हैं। परवर्ती व्याख्याकारों ने एक अन्तर और लक्षित किया है और वह यह है कि भट्टनायक के यहाँ भी जो स्थायी भाव भोग-गोचर होता है वह 'तटस्थ' (नायक) का ही है, प्रक्षेक का अपना नहीं। अतः भट्टलोल्लट एवं शंकुक की भाँति 'ताटस्थ्य' वाला आक्षेप इनके मन में भी सिर उठा सकता है। रस-प्रदीपकार ने इसके परिहार के लिये मीमांसकों के 'विवेका-प्रह' वाला पथ पकड़ा है। पर 'बालप्रिया'-कार एवं 'बालबोधिनी'-कार ने साधारणीकरण की प्रक्रिया को ही इस ताटस्थ्य निवारण के लिए पर्याप्त समझ लिया है, अतः इस ताटस्थ्य का उल्लेख करते हुए भी इसके समाधान का अति-रिक्त प्रयास नहीं किया है।

जहाँ एक ओर वाजपेयी जी ने रस-व्याख्या संबंधी इन चार मतों को प्रस्तृत किया है, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने यह भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न खडा किया है कि जब लोचन में १२-१३ मतों का और रसगंगाधर में कुल १९ रस-व्याख्या से सम्बद्ध मतों का उल्लेख किया गया है, तो क्या कारण है कि उनमें से केवल चार को ही विशेष महत्त्व दिया गया—उन्हीं का लोगों ने केवल या विशेषतः उल्लेख किया ? जब अभिनवगृप्त के अतिरिक्त शेष तीन व्याख्याकारों के मत और लोगों के मतों की ही तरह निस्सार थे, तो इनको भी क्यों नहीं उपेक्षित कर दिया गया ? आचार्य जी का अनुमान है कि इन तीनों मतों की आपेक्षिक अतात्त्विकता भले ही हो, दार्शनिक दृष्टि से इनका महत्त्व भले ही अपेक्षाकृत न्यून या न्यूनतर हो, पर सौंदर्यशास्रीय दृष्टि से यदि इन व्याख्याओं का महत्व पुनः समझने की चेष्टा की जाय, तो ऐसा स्पष्ट जान पड़ेगा कि इन मतों में भी कुछ तत्त्व है। वे निरी भौंड़ी और अस्वीकार्य व्याख्यायें नहीं हैं। चितन की इस लम्बायमान विचार-परम्परा में दार्शनिक दृष्टि से हटकर संभवतः पहली बार वाजपेयी जी ने सौंदर्यशास्त्रीय एक नई दृष्टि से इन अवास्ताविक करार दिये मतों का पुनर्मू ल्यांकन किया है।

वाजपेयी जी का विचार है कि ये चारों मत क्रमणः काव्य की प्रेषणीयता और काव्यरस से अस्वादन की समस्या को समझाने का प्रयत्न करते हैं और

उनमें से प्रत्येक मत समस्या के एक-एक पहलू को लेकर आगे वढ़ता है। भट्टलोल्लट के मत का सम्बन्ध काव्य की निर्माणात्मक प्रक्रिया से है। इन्होंने नायक में रस की स्थिति स्वीकार कर इस बात पर बल दिया कि किव की प्रतिभा में, कल्पना जगत् में, उपस्थित नायक में (नायक-नायिका के व्यवहार द्वारा) रसात्मक स्थिति नहीं रही, तो काव्य द्वारा वर्णित होकर भी वह पाठक या प्रेक्षक में रसात्मक बोध कैसे करा सकेगा ? इस प्रकार निर्माण पक्ष से विचार करने पर भट्टनायक के मत का भी महत्त्व प्रतीत होता है । भट्ट शंकुक के अनुमितिवादी व्याख्यान का महत्त्व इस बात में है कि वह नायक-नायिका के निर्माण में निहित कवि की सौंदर्य साधना को सहदयों तक पहुँचाने की दिशा में किया गया प्रयास है। मध्यवर्ती नट की स्थित द्वारा उसका महत्त्व बताने वाले शंकुक की व्याख्या का संबंध काव्य-कला की अपेक्षा अभिनय कला से ज़्यादा है। भट्टनायक ने एक सीढ़ी और आगे बढ़कर 'भावना' व्यापार के आविष्कार द्वारा काव्य और सहृदय के सम्बन्ध और सामर्थ्यं को स्पष्ट किया । अभिनवगुप्त ने उनसे भी आगे बढ़कर काव्य की ध्वन्यात्मकता का—रस प्रतीति कराने की सामर्थ्य का—विश्लेषण किया । इसी प्रकार ये चारों मत जैसे एक क्रमबद्ध योजना के क्रमिक सोपान हैं। साथ ही इस दृष्टि से अपनी-अपनी जगह चारों का महत्त्व है।

रस-प्रक्रिया से सम्बद्ध वाजपेयी जी के 'साधारणीकरण' संबंधी विवेचन का मूल्यांकन अभी अविशिष्ट है। इस विषय से संबद्ध उनके सारगिभत विवेचन को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। (१) भट्टनायक का साधारणी-करण सिद्धांत केवल काव्य की सामर्थ्य का लेखा न लगाकर दर्शक की सामर्थ्य का भी व्याख्यान करता है। (१) इस प्रसंग में आचार्यों की यह दलील असाहित्यिक ही है कि पूज्य व्यक्तियों या देव के रितभाव का साधा-रणीकरण प्रेक्षक को नहीं हो सकता। जब मूल प्रणेता ने उस भाव की अनुभूति द्वारा उसे प्रस्तुत किया है तो वैसी ही भाव-सृष्टि प्रेक्षक या पाठक में क्यों कर न हो सकेगी ? (३) साधारणीकरण का अर्थ रचियता और उपभोक्ता के बीच भावना का तादात्म्य है। (४) साधारणीकरण वास्तव में किव-किल्पत स मस्त व्यापार का होता है—केवल किसी पात्र विशेष का नहीं।

जहाँ तक पहला पक्ष है, यह तो स्पष्ट ही है कि भट्टनायक ने 'भावना' को काव्य का एक व्यापार या सामर्थ्य माना ही है। लेकिन पाठक में भी भावना की क्षमता होनी आवश्यक है, अन्यथा अक्षम पाठक को भी रसास्वा- दक्तां मानना होगा। दूसरी दलील को असाहित्यिक कहना भी बिल्कुल संगत जान पड़ता है। संगत इसलिये जान पड़ता है कि यदि अरसोचित तत्त्व उभाड़ दिया जाय, तभी साधारणीकरण न होगा और ऐसा करना असाहित्यिकता ही तो है। फिर उसके लिये दी गई दलील भी असाहित्यिक कही जाय, तो इसमें अनौचित्य क्या है? तीसरे सूत्र का भी अर्थ यही है कि रचयिता की अनुभूति रचयिता मात्र की अनुभूति न होकर, असाधारण न रहकर उपभोक्ता या सहृदयमात्र की हो जाय—साधारण हो जाय। और ऐसा होने के लिए समस्त किव किल्पत या रचियता द्वारा उपस्थापित रसोपकरण को निर्विशेष हो जाना पड़ेगा, यही बात चौथे सूत्र से वाजपेयी जी ने कही है। भारतीय आचार्यों ने तो रसोपकरण की ही नहीं, रसांयता की भी संकुचित प्रभावता का विगलन स्वीकार किया है।

इन काव्य-सिद्धांतों की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने क्षेमेन्द्र के औचित्य मत का भी उल्लेख किया है और कहा है कि यह कोई स्वतन्त्र मत नहीं है, इसमें तो केवल विभिन्न काव्यतत्त्वों के समन्वय की योजना है। औचित्य-सम्बन्धी उनका एक सारगिभत लेख 'साहित्यालोचन' में प्रकाशित हुआ, जिसका सारांश इस है प्रकार है। (१) इनका औचित्य सम्बन्धी विवेचन कोई नया सिद्धांत नहीं है, वह तो व्यावहारिक समीक्षा का आश्रय लिये हुए है। (२) औचित्य मत के दो मुख्य आधार हैं—कला-सम्बन्धी और नीति संबंधी (३) औचित्य का नियामक लोक ही नहीं, काव्य और शास्त्र की भी अलोकोपलब्ध सरणियाँ हो सकती हैं। (४) औचित्य मत पिवची अंग-संगति की अपेक्षा व्यापक है।

औचित्य के सम्बन्ध में इधर तीन प्रकार के विचार मिलते हैं—कुछ एक लोग यह मानते हैं कि अंलकार, रीति आदि के समान यह भी नूतन काव्यात्मवाद है। आचार्य जी इस विचार से कर्तई सहमत नहीं हैं, और न होना ही मेरी दृष्टि में भी सही है। कारण यह है कि औचित्य अपने आप में कोई निरपेक्ष तत्त्व नहीं है, वह तो काव्य के किसी मूर्द्धन्य (रस) तत्व की दृष्टि से निहित और परीक्षित होता है, अतः यह स्वतः आत्मस्थानीय हो ही नहीं सकता। दूसरे दल वाले यह मानते हैं कि आनन्द एवं अभिनवगुष्त की परम्परा से हटकर क्षेमेंद्र ने औचित्य के अंग रूप में 'रसौचित्य' का विचार कया है, जबकि आनन्द एवं अभिनव एवं अभिनव 'रस' के अंग रूप में 'औचित्य' की

समीक्षा करते हैं। इसके विरोध में तीसरे लोग यह स्वीकार करते हैं कि क्षेमेंद्र हैं आनन्द और अभिनव की ही परम्परा में (मुझे नहीं अभिमत है), पर जो वह 'रस' का औचित्य के अंग या काव्यांग रूप में विचार करते हैं, उनका मूल रहस्य है आनन्द और क्षेमेन्द्र के विचार का दृष्टिभेद। आनन्द या अभिनव ग्राहक की दृष्टि से 'रस' को मूर्द्धन्य और उसकी निष्पत्ति के लिये अंगरूप में औचित्य का विधान करते हैं, जबिक क्षेमेंद्र व्यावहारिक समीक्षा की दृष्टि से औचित्य का विचार रस-निर्वाह के प्रसंग में करते हैं। वाजपेयी जी भी यही स्वीकार करते हैं कि क्षेमेंद्र अपने औचित्य का विवेचन करने में व्यावहारिक समीक्षा का आश्रय लिए हुए हैं। उनकी दृष्टि यहाँ सैद्धांतिक नहीं, व्यावहारिक है और व्यावहारिक होने पर काव्य के समस्त अंग या अंगी औचित्य विचार की दृष्टि से परीक्षित होंगे ही। यही कारण है कि रस को सैद्धांतिक दृष्टि से आनन्द और अभिनव की भाँति मूर्द्धन्य मानते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने 'औचित्य' का प्रयोग 'रस' पर भी किया है।

प्रायः औचित्य पर विचार करने वाले लोग या तो उसके कला-पक्ष पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करते हुए उसे 'सदृश-नियोजन' में ही सीमित कर देते हैं या वर्ण्य-पक्ष से विचार करते हुए नैतिक सामाजिक मान्यताओं तक ही परिमित कर देते हैं। वाजपेयी जी ने औचित्य के इन दोनों पक्षों पर संतुलित विचार प्रस्तुत किये हैं । कई-कई लोग भरत आदि को उद्धृत करते हुए इस आचित्य का निर्वारक स्रोत एक मात्र 'लोक' को ही मानते हैं -- और निस्संदेह 'औचित्य' की समय के साथ वदलती हुई धारणा लोक प्रवृत्ति द्वारा ही निर्धारित हो स हती है पर काव्य एवं शास्त्र के भी कुछ अपने आर्दश और अपनी रीतियाँ होती हैं, कवि-सम्प्रदाय में दीक्षित व्यक्ति को इन औचित्यनियामक स्रोतों से भी परिचित होना चाहिए। यद्यपि क्रांति-प्रेमी इसका विरोध करेंगे, पर परम्पराविच्छिन्न गगन वेलि-जैसी क्रांति स्वस्थ क्रांति नहीं हो सकती । हाँ, उसके साथ यह भी है कि परम्परा भी वहीं स्वस्थ हो सकती है जो निर्जीव कीटाणुओं को पहचाने और उन्हें जीवनी शक्ति के अनुरूप न समझ कर उनका त्याग करे तथा जीवन्त धारणाओं के साथ बढ़ती चले । आचार्य वाजपेयी का व्यक्तित्त्व इन्हीं आहर्यों के अनुरूप प्राचीनता के प्रति आस्थावान है, साथ ही प्रगति-शीत और दक्तियान्सी वातावरण को छोड़कर विकास के अनुरूप स्वच्छंदता का स्वागत करने वाला है।

#### [ 值 ]

'भारतीय काव्यशास्त्र की रूपरेखा' पर ही विचार करते हुये आचार्य वाजपेयी ने न केवल काव्य-सिद्धांत पक्ष की प्रत्युत व्यवहारपक्ष की भी चर्चा की है। उन्होंने इसके अंतर्गत काव्य के वहुसंख्य गुण-दोषों, भाषा एवं रीति से संबंध रखने वाले अनेक तत्त्वों का उल्लेख किया है। साथ ही शब्द-शक्ति एवं विभिन्न काव्य रूपों के संगठन तथा बाह्य अवयवों की भी बात कही है। बाद में इन व्यावहारिक और विशिष्ट पक्षों के संबंध में यह कहा है कि भारतीय आचार्यों ने इन्हें उपयुक्त घरातल पर स्थित नहीं रखा है, यहाँ तक कि कुछ तत्त्वों की विवेचना में वे लक्ष्य (साहित्यक) छोड़कर इतनी दूर चले गये हैं कि उनका लक्ष्य अकाव्यशास्त्रीय क्षेत्रों में हो गया है। इसीलिये दूसरी आपित यह भी की गई है कि काव्य के ये व्यावहारिक पक्ष प्रायः विश्लष्ट रह गये हैं। शब्द-शक्तियों के संबंध में भी आचार्य जी ने यह धारणा प्रकट की है। के शब्द-शक्ति से संबद्ध विचारों का भी सम्यक् विनियोग काव्यशास्त्र की समस्या के साथ नहीं हो पाया है।

निस्सन्देह भारतीय आचार्यों की काव्यशास्त्रीय चर्चाओं में विवेचना ओर वर्गीकरण के लक्ष्य से दूर जा पड़ने वाली, साहित्य की सीमा को लाँघ जाने वाली बारीकियाँ दृष्टिगोचर होती हैं और इसीलिये कभी-कभी साहित्यिक उपकरणों में विश्लिष्टता के तत्त्व भी मिल जाते हैं। उदाहरण के लिये हम एक ओर भामह, दण्डी एवं उद्भट की काव्यतत्त्व-संबंधी विवेचनाओं को ले लें तो हम पायेंगे कि उनमें दोष, गुण एवं अलंकारों का पृथक्-पृथक् निरूपण तो है, पर उनका निरूपण करते हुये यह नहीं बताया जा रहा है कि काव्य के अमुक मूर्धन्य तत्त्व को या तत्संबंधी औचित्य को ध्यान में रखकर उनको अमुक ढंग से काव्योचित सीमा में संश्लिष्ट रूप से विनियोजित किया जाय । दूसरी ओर साहित्य-दर्पण के लक्षणा-संबंधी वर्गीकरण को ले लिया जाय, जिसमें लक्षणा के ५०-५४ भेद गिनाये हैं, पर भेद गिनाते समय यह ध्यान नहीं दिया गया कि ये प्रभेद केवल प्रभेदकरण सबंधी प्रातिभ-पाटव के प्रदर्शनार्थ है या इसका कोई साहित्यिक उपयोग भी है ? इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि काव्य के अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षों का उतना उपेक्षित और साहित्योचित ढंग से सविस्तर विचार नहीं हो पाया है जितता अधिक परवर्ती आचायों ने अलंकार-स्वरूप-निरूपण संबंधी शास्त्रार्थ में, बाल की खाल निकालने में कोशिश की है। काव्य के भावन-पक्ष पर विचार अवश्य केंद्रित हुआ, पर कितने आलंकारिक हैं जो अभिनवगुप्त की भाँति काव्यो-चित ढंग से उसपर विचार करते हैं ? वे प्रायः दार्शनिक मतवादों की वारीकियों में साहित्यिक समाधान को उलझा देते हैं। इसी दौड़ान में काव्य के निर्माणपक्ष से उठाई जाने वाली आंतर प्रातिभ-प्रक्रिया का सूक्ष्म विवेचन रह भी गया है। स्त्रात्मक संकेत अवश्य उपलब्ध हैं, पर क्या उनकी व्याख्या और विस्तृति अपेक्षित नहीं थी ? म०म० कुप्प्स्वामी शास्त्री ने तो अपने 'High-ways and By-ways' में भावन-पक्ष पर ही विचार करने के फलस्वरूप आविष्कृत ध्वनि-सिद्धांत की अतिरिक्त बौद्धिकता को आचार्य जी के ही शब्दों में स्मरण किया है।

परन्तु इन कितपय 'उपेक्षाओं' और 'अितरेकों' के सत्य होने पर भी अनेक ऐसे भारतीय आचार्य हैं जिन्होंने यदि एक ओर वर्गीकरण के संदर्भ में अपने को साहित्यिक सीमा में ही रखा है तो दूसरी ओर व्यावहारिक पक्षों का निरूपण करते हुये संश्लेष पर भी ध्यान केन्द्रित किया है। जिन आचार्यों ने इस प्रकार की सावधानी बरती है, उनका प्रदेय उन्हें मिलना चाहिए। आचार्य जी इस सावधानी और साहित्यिक प्रयासों का स्वागत करते हैं।

पहले शब्द-शक्तियों को ही लें। शब्द-शक्तियों का जैसा सूक्ष्म एवं गम्भीर विवेचन काव्येतर शास्त्रों में मिलता है, वैसा साहित्य के लक्षणग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। दूसरी बात यह है कि शब्द-शक्तियों का आरम्भ भी पहले काब्येतर शास्त्रों में ही हुआ है। साहित्यशास्त्र में न्वीं-र्वी शती तक क्या आनन्दवर्द्धन ( द्वीं शती ) से पूर्व शब्द-शक्तियों की चर्चा नितांत नगण्य रूप में रही है । आनन्दवर्द्धन ने पहले-पहल साहित्यशास्त्र की महत्त्वपूर्ण समस्या-रस की प्राप्ति किस शब्द-शक्ति से ?—का समाधान खोजते हुए वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धांत से प्रेरणा प्राप्त कर व्यञ्जना की स्थापना की और विपक्षियों को जमकर उत्तर दिया । अन्य दर्शनों के प्रबलतर संस्कार वाले कुछ आचार्य अपनी व्यूत्पत्ति के बल पर 'व्यञ्जना' के सम्बन्ध में (साहित्यिक कृति का स्वाँग भरने वाले ग्रन्थों में) जो कुछ असाहित्यिक स्थापनाएँ दे गये हैं, सच्चे साहित्य-मर्मज्ञों ने उसका पुनः साहित्योचित संस्कार किया है। महिमभट्ट इस प्रसंग में स्मरणीय हैं। 'ब्यञ्जना' के आचार्यों ने जो शाब्दी और आर्थी भेद किये हैं, मर्मज्ञ उसकी साहित्यिक उपादेयता से परिचित हैं। हाँ, व्यञ्जना के आधार पर गुणीभूत व्यंग्य एवं ध्विन के अनन्त भेदों को लेकर कहा जा सकता है कि क्या ऐसा करते हुए ये आचार्य व्यंजना के मूलतः साध्य 'रस' से अपने को

दूर नहीं खींच ले गये ? इस विषय में जहाँ तक आनन्दवर्द्धन का सवाल है, उन्हें अपनी साहित्यिक समस्या और मूल साध्य का पूरा स्मरण है। उन्होंने जैसे इन दोनों शंकाओं का समाधान ही सोचकर यह कहा होगा कि व्यंजना-सम्बन्धी उनके महान् प्रयास को देखकर कोई यह न समझने लगे कि इन्होंने ध्वन्यालोक का निर्माण मुख्यतः ध्वनि-सिद्धांत की स्थापना के लिये ही किया है। उन्होंने स्पष्टतः कहा है कि उनकी उस समस्त कृति का प्रतिपाद्य यह है कि काव्य का मूर्द्धन्य तत्त्व 'रस' है और उसके ग्रहण के लिये व्यंजना या ध्वनि-सिद्धांत का आविष्कार है। उन्होंने इसीलिये कहा है—

#### व्यंग्यव्यंजकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि। रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्।।

उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि यह 'रस' तत्त्व ही है जिसके संस्पर्श से लाख बार सुनी हुई बात भी नई सी लगने लगती है। वसंत का संस्पर्श ही पुराने तरुओं को भी नया बना देता है।

दूसरी शब्द-शक्ति है लक्षणा । काव्येतर शास्त्रों में लक्षणा पर बहुत सूक्ष्म और विस्तीर्ण शास्त्रार्थ उपलब्ध है, पर काव्यशास्त्र में काव्यीय उपयोगिता को देखते हुये आचार्यों ने अपनी आवश्यकता के अनुरूप बने-बनाये दिचार उनसे ले लिये हैं। जहाँ तक लक्षणा के 'स्वरूप' का सम्बन्ध है, साहित्यिकों ने न्याय-दर्शन एवं मीमांसा-दर्शन के सिद्धान्तों को अपना लिया है, पर उसके निमित्त पक्ष से दिचार करते हुये 'प्रयोजन' (या व्यंग्य) की साहित्यिक उद्भावना स्वयं कर ली है। वर्गीकरण के सम्बन्ध में चन्द्रालोककार एवं साहित्यदर्पणकार कुछ लक्ष्य से अवश्य विच्छिन्न हैं, पर मम्मट भी हैं कि जिन्होंने साहित्यिक महत्त्व रखने के कारण लक्षणा के 'प्रयोजनवती' रूप के ही छः भेदों को लक्षणा कहा है—'लक्षणा षट्विधा मता'। निरूढ़ा की चर्चा करते हुये भी उसकी असाहित्यिकता के कारण जैसे उसे नहीं ही सा मान लिया। लक्षणा के चतुर्विध शुद्धा में से उपादान लक्षणा का अर्थान्तर संक्रमितवाच्यध्वनि तथा लक्षणलक्षणा का अत्यंततिरस्कृतवाच्यध्वनि में उपयोग है और सारोपा तथा साध्यवसाना का 'हेतु' अलंकार में उपयोग है। इसी प्रकार गौणी के 'सारोपा' का रूपक में और 'साध्यवसाना' का रूपका-तिशयोक्ति में विनियोग है। लक्षणा के ही 'अव्यंग्या' का स्वतः तो नहीं, पर 'सव्यंग्या' की पृष्ठभूमि में उपयोग है और सव्यंग्या लक्षणा का साहित्यिक दृष्टि से ही महत्त्व है। दूसरी बात 'लक्षणा' के सम्बन्ध में काव्येतर शास्त्रियों से काव्यशास्त्रियों की साहित्यिक उपादेयता से सम्बन्ध रखते हुये यह भी है कि जहाँ मीमांसक आदि दार्शनिक लक्षणा को एक 'जघन्य' वृत्ति के रूप में मानते रहे, वहाँ साहित्यिक लोग काव्यीय उपादेयता की दृष्टि से उसे प्रशस्त वृत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। वामन ने तो काव्यीय वक्रोक्ति की आत्मा सादृश्याश्रित लक्षणा को कहा ही है। भोजराज तो इनसे भी आगे बढ़कर यह मानते हैं कि काव्य का जीवित है वक्रोक्ति और वक्रोक्ति का जीवित 'लक्षणा'।

इसके बाद आपेक्षिक दृष्टि से साहित्यिक महत्ता आती है अमिधा की । 'अमिधा' के भी स्वरूप और वर्गीकरण सम्बन्धी विवेचन में साहित्यिकों ने कोई विस्तृत शास्त्रार्थ प्रस्तुत नहीं किया । उसके प्रभेद पक्ष से और स्वरूप पक्ष से दार्शनिकों ने काफ़ी कहा-सुना है, पर साहित्यिकों ने अपनी उपादेयता के अनुरूप अपेक्षित चीजें भर ही ग्रहण की हैं । मम्मट ने अन्य पक्षों की तो उपेक्षा कर दी है । अमिधा के प्रसंग में चतुर्विध संकेतितों का केवल इसीलिये सिवस्तार उल्लेख किया कि विरोधालंकार के दस भेदों में जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा-जैसे भेदों का सहारा लिया गया है ।

जहाँ तक काव्य के गुण और दोषों के विवेचन को उपयुक्त धरातल पर रखने का सम्बन्ध है, गुण का विचार रीति-धर्म, रस-धर्म एवं अन्य काव्योप-करण-धर्म के रूप में वामन, आनन्दवर्द्धन एवं पण्डितराज जैसे प्रतिनिधि विचारकों ने किया है। इन सभी आचार्यों ने गुण-विवेचन को साहित्यिक लक्ष्य से विश्विट नहीं किया है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि रीति-धर्म के रूप में 'गुण' का स्वरूप और वर्गीकरण नितांत अस्पष्ट और अयौक्तिक रहा है। वहाँ वेतरीके विभिन्न स्तरीय चमत्कारोत्पादक तत्त्वों को एक 'गुण' में नाथ दिया गया है। ध्वनि-सम्प्रदाय वालों के यहाँ विश्वलप्टता का सवाल ही नहीं खड़ा होता। वहाँ तो अलंकारों की अपेक्षा रस के अंतरंग धर्म के रूप में गुण का उल्लेख और विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

जहाँ दोषों का सवाल है, कुछ आरंभिक काव्यशास्त्रियों में इन पर स्वतन्त्र अर्थात् विश्लिष्ट रूप में विचार अवश्य किया गया मिलता है, पर बाद के ध्विन-सम्प्रदायानुयायियों ने परम्परया अथवा साक्षात् रस-विधातक या रसापकर्षक तत्त्व को ही दोष बताया है। प्रदीपकार ने 'उद्देश्यप्रतीतिविधातक' को दोष कहा है। प्रकाशकार मम्मट ने दोषों का सर्वाधिक विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है, पर उनके टीकाकारों ने और कहीं-कहीं उन्होंने स्वयं स्पष्ट किया है कि किस प्रकार ये समस्त दोष साहित्यिक प्रयोगों में आकर उद्दिष्ट पक्ष का विधान करते हैं।

सम्प्रति, यह भी देखना चाहिये कि आचार्य जी द्वारा प्रयुक्त 'विश्लिष्ट' शब्द का क्या केवल (१) 'मुख्य प्रयोजन से विश्लिष्ट' अर्थ में ही प्रयोग है या इस अर्थ में भी कि उन व्यावहारिक पक्षों का (२) 'लेखक के साहित्यिक (स्वकीय एवं इतर व्यावर्तक विशेषताओं से सम्पन्न) व्यक्तित्व से विश्लेष' है। मैं समझता हूँ, दोनों ही अर्थों में इस समर्थ आचार्य ने 'विश्लिष्ट' शब्द का प्रयोग किया है। इस स्थिति में ऊपर कितपय विशिष्ट व्यावहारिक प्रयोगों की विश्लिष्टता का केवल एक ही पक्ष से विचार किया गया है। दूसरे अर्थ पर ध्यान देने से भारतीय काव्यशास्त्र के गुण-दोष, भाषा, शब्द-शैली जैसे व्याव हारिक पक्ष काव्य की उत्कृष्टता और अपकृष्टता का तो थोड़ा-बहुत बोध अवश्य करा देते हैं, परन्तु निर्माता के साहित्यिक व्यक्तित्त्व की स्वकीय और इतरव्यावर्तक विशेषताएँ अपेक्षित मात्रा में उद्घाटित नहीं हो पाती और इस अर्थ में 'विष्लिष्टता' का आक्षेप बहुत कुछ सार्थक हो जाता है। कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र का महा संश्लेषक 'रस' तत्त्व है, और गुण एवं दोष आदि के उससे संबद्घ विवेचन के सूत्र मिलते ही हैं और इस प्रकार कवि के रसात्मक व्यक्तित्त्व से गुण-दोष का विवेचन संबद्ध हो ही जाता है—फिर दूसरे अर्थ में भी विश्लिष्टता का आरोप कहाँ तक ठीक है ? पर संस्कृत साहित्य में व्यावहारिक समीक्षा का जो रूप आया है वह किव की अपेक्षा काव्य के विवेचन से ही ज्यादा संबद्ध है—गुण एवं दोषों के उदाहरणों में काव्य का उत्कर्षापकर्ष चाहे देखने को मिल जाय, पर उससे कवि के व्यक्तित्व का साहित्यिक विश्लेषण तो शून्य ही है। वादरायण सम्बन्ध कोई सम्बन्ध नहीं है। हाँ, अब सवाल यह है कि आलोचक काव्य का विश्लेषण करे या कवि के काव्य-व्याप्त-मानस का ? निस्सन्देह 'कलैसिक' प्रवृत्ति पहले पक्ष पर और रोमाण्टिक प्रवृत्ति दूसरे पक्ष पर जायगी। संस्कृत आचार्य पहले पक्ष के हैं और वाजपेयी जी दूसरे पक्ष के। इस प्रकार 'विश्लिष्ट' के दूसरे अर्थ से जहाँ तक सम्बन्ध है, निश्चय ही पौरस्त्य-पक्ष आक्षेप्य है। इस दृष्टि से आचार्य जी का कथन बहुत ही संगत है। पर इन सब दोषों का बहुत कुछ भार युग और तत्कालीन वायुमण्डल पर भी है।

#### [ग]

आचार्य जी के समीक्षक-मानस का संघटन पूर्णतः साहित्यिक है। यहीं कारण है कि उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं में अन्यविध (काव्येतर) स्वर, साहित्यिक स्वर के प्रसाधन रूप में ही आते हैं। वे कहीं भी इतने उदग्र होकर नहीं आते कि साहित्यिक स्वर उनसे दब जाय या उनके सामने मंद या निष्प्रभ पड़ जाय । समीक्षाओं में मनोविज्ञान, राजनीति एवं दर्शन-शास्त्र का प्रसंग आया है, पर सर्वत्र आचार्य जी का साहित्यिक स्वर इनके अतिरेकी रूप के प्रकाशन का लोभ संवरण करता हुआ संतुलन वनाये हुये है ।

यहाँ का प्रकृत विवेच्य है—आचार्य जी की समीक्षा में भारतीय दर्शन का पक्ष । भारतीय दर्शन मुख्यतः आध्यात्मिक दर्शन है । आचार्य जी मानते हैं कि जिसे 'व्यापक रूप से आध्यात्मिक दर्शन' कहते हैं, वह सम्पूर्ण आदर्श काव्य का एक सुप्रतिष्ठित दर्शन है। इस प्रकार आध्यात्मिक दर्शन की चर्चा आदर्श-काव्य के विवेचन में तो उपलब्ध होती ही है, यथार्थ काव्य के भी प्रसंग में आनुषंगिक रूप से इसके कण उपलब्ध होते हैं। 'अंचल' और 'सूर' के भोग एवं लय पर्यवसायी रचनाओं की समीक्षा में ये चीज़ें मिलती हैं। वस्तुतः एक जगह तो आचार्य जी ने काव्य और कलाओं के मूल्य निरूपण के विचार से यह प्रश्न ही खड़ा किया है कि "लौकिक और अलौकिक, भौतिक और आध्यात्मिक, वास्तविक और आदर्श क्या अलग-अलग स्तरों पर हैं या एक ही मूल वस्तु के दो पक्ष या पहलू हैं ?'' समाधान के रूप में उन्होंने यह माना है कि ''अपनी उन्नतावस्था में दोनों एक दूसरे के सहकारी सिद्ध होते हैं किन्तु जब इनमें कट्टरता बढ़ जाती है, साम्प्रदायिकता आ जाती है, लीक बन जाती है, तब ये एक दूसरे के विरोधी शिविरों में रहने लगते हैं।" निस्संदेह यह समाधान भारतीय धर्म तरु के आगम एवं निगम जैसे द्विविध फलों का सरस निःष्यंद है । वे मानते हैं कि वस्तुवाद में आत्म-पक्ष की तो आदर्शवाद में बाह्य-पक्ष की (अपनी अतिरेकी प्रवृत्ति में) उपेक्षा है, पर ये दोनों ही पक्ष आध्यात्मिक दृष्टि से एक ही 'सत्य' के दो पहलू हैं। भारतीय साधना का यहीं परम लक्ष्य है कि वह विरोध में अविरोध का साक्षात्कार कर ले। वेदों में विवेचित ज्ञान का साधना-पक्ष आगमों में निरूपित है। ये आगमिक 'बाह्य' को 'आंतर' का ही प्रसार मानते हैं, स्यूल को सूक्ष्म का ही परिणाम स्वीकार करते हैं। तात्त्विक स्थिति से अपरिचित अज्ञ जीव इनमें विरोध देखता है। इसलिये विरोध में अविरोध का साक्षात्कार कर लेना ही तत्त्वज्ञान है। इसकी न केवल ब्राह्मण तांत्रिक ही बल्कि बौद्ध तांत्रिक भी स्वीकार करते हैं।

'साधना' की तरह 'काव्य' का स्तर भी अतिवादी स्तर नहीं है। यही कारण है कि निष्णात सन्तों की रचनाओं में प्रत्येक दार्शनिक अपने-अपने पक्ष के अनुरूप सामग्री प्राप्त कर लेते हैं। उसमें निर्गुण-सगुण एवं उभयातीत पक्ष की चर्चा को देखकर दार्शनिक समीक्षक विवाद खड़ा कर देते हैं। साहित्यिक समीक्षक इन अतिवादों को अतात्त्विक समझ कर उसे छोड़ देता है। वह रूप, अरूप एवं रूपातीत की तह में निहित 'एकरंग' की व्याप्ति मानता है। वाजपेयी जी ने इसी संतुलित और समन्वित धारणा के अनुरूप यह कहा है-- "इस दृष्टि से न केवल भागवत और सूरसागर वरन् उपनिषद्, गीता, पुराण, भिकत की सगुण, निर्गुण आदि शाखाओं के प्रवर्त्तक किवं और आचार्य रामानुज, मध्व, बल्लभ, चैतन्य, रामानन्द, कबीर, सूर, तुलसी सभी के बाहरी रंगों में अन्तर होते हुये भी भीतर एक ही रंग में रँगे हुये हैं।" (महाकवि सूरदास, पृ० ६५)। आचार्य जी की इसी संक्लिष्ट एवं तास्विक दृष्टि का आभास हमें वहाँ भी मिलता है जहाँ वे कहते हैं-- ''स्वार्थ या आसक्ति का त्याग प्रवृत्ति के मूल में भी है और निवृत्ति के मूल में भी। दोनों का आधार एक ही है, किन्तु शुक्ल जी ने आधार के इस ऐक्य की ओर ध्यान न देकर निवृत्ति और प्रवृत्ति, ज्ञान और कर्म, व्यक्तिगत साधना और लोक धर्म-दोनों को एक दूसरे का विरोधी बना दिया है।" (हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० ७७)। इस प्रकार जहाँ तक तात्त्विक दृष्टि और चरम लक्ष्य का सम्बन्ध है, इन पित्तयों के माध्यम से उन्होंने अपने श्रद्धेय वेदांत के दार्शनिक ज्ञान और आगम के चरम साध्य की ओर इंगित किया है। मेरी इन पंवितयों का निष्कर्ष यह न भी हो कि वे इस प्रकार की दृष्टि प्रस्तुत करते हुये आगम और निगम के निष्णात आचार्य हैं, पर इतना तो अवस्य ही है कि उनकी चितक-दृष्टि स्वतन्त्र चलकर भी वहाँ पहुँच सकी है । आनन्दवर्द्धन ने ठीक ही कहा है— "संवादास्तु भवन्त्येव बाहल्येन सुमेधसाम्।"

नैगिमिक अद्वैतवादी वेदांती यदि 'विरोध' में 'अविरोध' को पाना ही चरम साध्य बताते हैं, तो आगमिक अद्वैतवादी उनसे एक कदम और आगे बढ़कर यह भी कहना चाहते हैं कि 'अविरोध' ही में 'विरोध' की, एक ही में दो की भी आनन्दात्मक या अवंधात्मक प्रकृति का साक्षात्कार कर लेना चाहिए—तभी 'पूर्णता' की प्राप्ति होती है। दार्शनिक धरातल पर नैगिमिक अद्वैतवादी 'विरोध' (संसार) की 'अविरोध' साक्षात्कार के अनंतर 'वाधितानुवृत्ति' स्वीकार करते हैं, पर प्रायोगिक आगमिक अद्वैतवादी 'विरोध' में 'अविरोध' का साक्षात्कार करने के अनन्तर 'अविरोध' में 'विरोध' या 'द्वैत' की भी सत्य एवं आनन्दात्मक स्थित स्वीकार करता है—परमिष्ठव में ही 'शिव' एवं 'शिवत' की समरसीभूत स्थित मानता है। बंधकाल में 'द्वैत' समरस नहीं रहता—'प्रकाश' और 'विमर्श' अथवा 'स्वातन्त्र्य' और 'बोध' पृथक् जान पड़ते

हैं सुक्तावस्था में इनका अपार्थवय हो जाता है। तन्त्रों का यही "Two in One" चरम प्रतिपाद्य है चाहे वे तन्त्र बौद्ध हों या ब्राह्मण। 'प्रसाद' जी इसी आगमिक साध्य के क्रांतिदर्शी कवि हैं और आचार्य वाजपेयी उनके इस 'सामरस्य' वाले सिद्धान्त के पबके समर्थक हैं।

'साध्य' के विवेचन के अनंतर साधन और साधन-क्षेत्र के विषय में जहाँ तक वाजपेयों जी की दार्शनिक धारणा का सम्बन्ध है, वे 'वैदिक दर्शन—समग्र जीवन दृष्टि' में कहते हैं— "सामूहिक आनन्द की धारणा ही वेदांत की आत्मसत्ता के मूल में है, परन्तु मैं यह नहीं मानता कि इसकी साधना जंगल ही में रहकर हो सकती है।" वे मानते हैं कि "प्राकृतिक अनुभूतियों की सत्ता स्वीकार कर उन्हीं का परिष्कार करना आत्मिक साधना की परिपाटी कहीं जा सकती है।"

उपर्युक्त दोनों ही उद्धरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। मैं भी यह मानता हूँ कि 'साधना' की भूमि 'व्यावहारिक भूमि' ही है। वेदांत का साधनात्मक पक्ष आगम सृष्टि को ही साधनाभूमि मानता है। वस्तुतः व्यावहारिक भूमि से ऊपर उठने का मतलब भौतिक आवश्यकताओं से ऊपर उठ जाना है और यह अवस्था 'विदेह' अवस्था है । भौतिक आवश्यकताओं का अपेक्षी रहकर संसार छोड़ने का कोई अर्थ ही नहीं है--छूटा ही कहाँ संसार उससे ? भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हाथ-पाँव मारना सांसारिकता नहीं तो और क्या है ? जंगल में चले जाने मात्र से यह हाथ-पाँव का मारना समाप्त नहीं हो सकता । इसकी समाप्ति के लिये सच्चा निकष व्यावहारिक जगत् है— उसी में रहकर ही वह साधना की जा सकती है और तभी अपनी परीक्षा भी होती है। हाँ, यहाँ पर यह सवाल अवश्य खड़ा होता है कि तब फिर संसारी और मुमुक्षु की चेष्टाओं में अन्तर कहाँ आया ? इसीलिये तो 'योगः कर्मसु कौशलम्' कहा गया है। वह कौशल क्या है ? आचार्य जी उसे गीताकार के अनुसार 'निष्काम कर्मयोग' मानते हैं। लेकिन इसी के साथ जब वे यह भी कहते हैं कि "प्राकृतिक अनुभूतियों की सत्ता स्वीकार कर उन्हीं का परिष्कार करना आत्मिक साधना की परिपाटी कही जा सकती है", तब हम उनका आगमिक साधना की ओर पक्का झुकाव देखते हैं । वस्तुतः और ध्यान से देखा जाय तो 'निष्काम कर्मयोग' और 'प्राकृतिक अनुभूतियों' की सहज-साधना में कोई तात्त्विक विरोध नहीं है। सहज साधना के माध्यम से आध्यात्मिक यात्रा करने वाले के कर्म निष्काम भावना से ही होंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य की आलोचनात्मक भूमि पर खड़े होकर भी अपने स्वतन्त्र चिंतन से अनायास दार्शनिक साध्य एवं साधन का जो स्वरूप आचार्य जी इंगित करते हैं, उनकी तह में भी विचारों की परतें छिपी पड़ी हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि स्वच्छन्दतावादी की नैसर्गिक चिंतना भी वहीं पहुँच सकती है जहाँ शास्त्रीय चिंतना अपना आदर्श उत्कर्ष देखती है। वाजपेयी जी का कहना ठीक ही है कि विरोध सदा अतिवादों को लेकर खड़ा किया जाता है। जिसके भीतर संतुलन है उसे बाहर के आपाततः प्रतीत असंतुलन में भी संतुलन ही दिखाई पड़ता है।

#### [ **ਬ** ]

समीक्षक के आवश्यक गुणों की व्याख्या करने वाले प्रसिद्ध प्रतिभाशाली उपन्यासकार डी० एच० लारेन्स का कहना है— "साहित्यिक समीक्षा आलोचक की अनुभूति के तर्कसम्मत आलेख के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसकी यह अनुभूति-प्रक्रिया उस पुस्तक के फलस्वरूप होती है जिसकी वह आलोचना कर रहा है। आलोचना कभी भी विज्ञान नहीं हो सकती। सर्वप्रथम यह अतिशय वैयक्तिक होती है और द्वितीय स्थान में उसका सम्बन्ध उन मूल्यों से होता है जिनका विज्ञान निषेध करता है। समीक्षा का निकष भाव अथवा संवेदन है, तर्क अथवा विवेक नहीं। हम किसी कला-कृति का मूल्यांकन अकृतिम तथा प्राणवान् भाव के उपर पड़े हुये उसके (कृति के) प्रभाव के आधार पर करते हैं, अन्यथा नहीं। रूपाकार और शैली के संदर्भ में सभी प्रकार की समीक्षात्मक खींचतान, तथाकथित वैज्ञानिक वर्गीकरण तथा पुस्तकों के वानस्पतिक अनुकरण पर विश्लेषण केवल असंगत और निरर्थक शब्द-व्यय मात्र है।

'समीक्षक को आलोच्य कलाकृति के समग्र प्रभाव और शक्ति की अनुभूति होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में समीक्षक को भी शक्तिसम्पन्न तथा समर्थ होना चाहिय। स्पष्ट है कि इस योग्यता के समीक्षक इने-गिने ही होते हैं। जो व्यक्ति क्षुद्र, निर्लज्ज एवं दुविनीत मनोवृत्ति वाला होगा, उसकी समीक्षा भी तदनुसारिणी ही होगी और भाव-संस्कृत व्यक्ति तो 'फोनिक्स' पक्षी के समान दुर्लभ ही है। जो व्यक्ति जितना ही शास्त्रनिष्णात होगा उतना ही वह साधार्ण, भावरिक्त तथा जड़ होगा।

"इससे भी अधिक कलात्मकता और संवेदनशीलता में सुसंस्कृत होने पर भी व्यक्ति को परम आस्थावान् होना चाहिए। उसमें इतना साहस होना चाहिये कि वह जो अनुभव करता है, उसे स्वीकार कर सके।"

लारेंस के उक्त कथन में समीक्षक के व्यक्तित्त्व के अन्तर्गत संवेदना, व्यक्तित्त्व, अनुभूति तथा नैतिकता को अनिवार्य तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया गया है। साहित्य का क्षेत्र वस्तुतः भावात्मक ही होता है—इसीलिये उससे सौन्दर्य और रसवत्ता स्वभावतः केन्द्रीय रूप में संवद्घ होते हैं। विचारणा को साहित्य अपने क्षेत्र में उसी सीमा तक स्वीकार करता है जब तक वह उसका अंक्रश मानकर वशवर्ती होकर चले । आचार्य वाजपेयी का समीक्षक और विचारक साहित्य के इस मूलभूत सिद्धान्त से पूर्णतया अवगत है। इसी कारण उनकी साहित्यिक विचारणा और समीक्षा में लारेंस द्वारा निरूपित सौंदर्यवादीं मानों और भावसघनता की अनुभूति का पूर्ण ईमानदारी से उपस्थापन हुआ है। आचार्य वाजपेयी के समीक्षक का आविभवि स्वच्छंदतावादी साहित्य की सर्जना के समानान्तर ही हुआ। आचार्य वाजपेयी ने अपने समीक्षक और विचारक के प्रथम उन्मेष में ही जिस स्वतन्त्रचेता प्रतिभा, विक्लेषण-क्षमता और विचारणा के नव्य आयाम का परिचय दिया—उसी से उनके युग-प्रवर्त्तक आचार्य का संकेत मिल जाता है। उन्होंने आलोचना के बाह्यार्थनिरूपक स्वरूप को आनुषंगिक मानकर उसके आन्तर-विश्लेषण एवं सौंदर्य-उद्घाटक रूप पर बल देते हुए एक स्थल पर कहा है— "काव्य का महत्त्व तो काव्य के अंतर्गत ही है, किसी भी बाहरी वस्तु में नहीं। सभी बाहरी वस्तुएँ काव्य-निर्माण के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का निर्माण कर सकती हैं, वे रचियता के व्यक्तित्त्व पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव डाल सकती हैं और डालती भी हैं-पर इन स्वीकृतियों के साथ हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि काव्य और साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता है, उसकी स्वतन्त्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतन्त्र साधन हैं।" इस उद्धरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनका समीक्षक बँधी-बँधाई समीक्षा की लीक से हटकर अपना स्वतंत्र तंत्र निर्मित करता हुआ प्रतीत होता है। अतएव इस युग के साहित्यिक संदर्भ में मौलिक विचारणा का सूत्रपात आचार्य वाजपेयी से ही मानना चाहिए। यहाँ पर मौलिक विचारणा से हमारा अभिप्राय उस साहित्यिक चिंतन से है जो नव्य साहित्य सर्जना के संदर्भ में समागत वैशिष्ट्यों तथा मूल्यों के संधान और प्रतिष्ठापन में सचेष्ट हो । उनकी समस्त पूर्ववर्ती समीक्षात्मक कृतियाँ इस तथ्य की पृष्टि करती हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में उनकी उन समीक्षा-सरिणयों का उपस्थापन हमारा लक्ष्य है जो 'राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध', 'किव निराला', 'प्रकीणिका' आदि नविनिर्मित कृतियों में उभर कर आई हैं। 'राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध' शीर्षक कृति के प्राक्कथन में उन्होंने बताया है कि साहित्यकार की चेतना राष्ट्रीय भूमिका की होनी चाहिए। साहित्य के 'राष्ट्रीय स्वरूप' से उन्होंने अपना आशय स्पष्ट करते हुये कहा है—''साहित्य के राष्ट्रीय स्वरूप' से नेरा आशय केवल स्वदेश पर लिखे गये साहित्य से नहीं है, वरन् उस सम्पूर्ण साहित्य से है जिसकी प्रेरणा भारतीय भूमि और परिवेश से ली गई है तथा जिसमें राष्ट्र के एकीकरण और उन्नयन की संभावनाएँ पायी जाती हैं।" इस प्रकार की व्याख्या से वे राष्ट्रीय साहित्य को जहाँ एक ओर राग-द्वेष एवं प्रतिहिंसा को जन्म देने वाली संकीर्णता से ऊपर उठा ले जाते हैं, वहीं दूसरी ओर अराष्ट्रीयता का निषेध कर राष्ट्र के एकीकरण तथा उन्नयन की संभावनाओं से भी उसे समन्वित कर देते हैं।

आधुनिक साहित्य के समर्थ समीक्षक होने के नाते उनकी दृष्टि का उस व्यक्तिनिष्ठ नये साहित्य की ओर जाना स्वाभाविक है जिसे प्रयोगवाद, प्रयोग-शील, प्रपद्यवाद, नई कविता आदि नई संज्ञाओं से विभूषित किया गया है। इस संतुलित समीक्षक से जहाँ एक ओर इन नये साहित्यकारों को पर्याप्त प्रोत्साहन और प्रशस्ति मिली है वहीं दूसरी ओर साहित्यिक धुरीहीन रचनाओं और रचनाकारों को उनसे अतिशय भर्त्सना और प्रतारणा भी मिली है। इस संदर्भ में 'आधुनिक साहित्य' तथा 'नया साहित्य और नये प्रकृत' द्रष्टव्य हैं जिनमें उन्होंने काव्य की इस तथाकथित नव्य विधा को साहित्य के लिये अवांछनीय और घातक रूप में स्वीकार किया है। इस मान्यता की प्रतिक्रिया स्वरूप जो वाग्वाण उन्हें सहने पड़े हैं उनका प्रत्युत्तर देते हुये उन्होंने कहा है-"हमें यह ज्ञात है कि साहित्य की मुष्टि व्यक्ति करता है, व्यक्ति की ही सद्भावना और प्रेरणा साहित्य में निहित रहती है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हमारा साहित्यिक निर्माण भी व्यक्तिकेन्द्रित बन जाय और हम केवल वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं को महत्त्व देने लगें। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि पिछले कुछ वर्षों से हमारी साहित्यिक सृष्टि व्यक्तिमुखी हो गई और यद्यपि हम साहित्य में यथार्थ का नारा लगाने लगे हैं, पर यह यथार्थ राष्ट्रीय भूमिका का यथार्थ नहीं है, वह हमारा निजी यथार्थ हो सकता है।"

नये काव्य के विषय में चिन्तन करते हुए उन्हें ऐसे लगा है कि उसमें या उसके स्रष्टाओं में अनास्था, कुण्ठा और नैराध्य का आतिशय्य है, फलतः उनकी

किवता का मुख्य स्वर पीड़ा से आक्रान्त है। इस पीड़ा का, उनके अनुसार आत्मपीड़ा में पर्यवसान होता है और तब किवता में प्रृंगारिक भावना की शारीरिकता जोर पकड़ती है जिसके परिणामस्वरूप किव मनोगुहावासी और असामाजिक हो जाता है, संयम तथा संतुलन खो देता है। असामाजिकता अपने साथ संक्लेषिवरोधी विघटनकारी तत्त्वों को लाती है। संक्लेष-वृत्ति के साथ-साथ आने वाली रसवत्ता और सौंदर्यवृत्तियाँ भी उपेक्षित होने लगती हैं। आचार्य वाजपेयी ने साहित्य में भाववोध को प्राथमिकता दी है, इसीलिय बौद्धिकता के आग्रहपूर्वक सिववेश के वे विरोधी हैं। उन्होंने कहा है—"आज हिन्दी किवता, और विशेषकर प्रयोगशील किवता, जिस नये मार्ग पर चल रही है, वह भाववोध का मार्ग न होकर अलंकार और उक्ति-वैचित्र्य का मार्ग है।" इसी प्रकार नये काव्य में प्रतिबिवित 'वादी' प्रवृत्ति को भी इसलिय घातक और हेय समझते हैं कि एक तो वह असामाजिक संकीर्णता लाती है, दूसरे हासोन्मुख विदेशी प्रवृत्तियों को प्रश्रय देती है और तीसरे राष्ट्रीय चेतना के विकास का प्रतिरोधक बन कर वैज्ञानिकता का अंधानुयायी बना देती है जिससे किव की मौलिकता को आघात लगता है।

इन नव्यतम आलोचनात्मक कृतियों में काव्य के अतिरिक्त नार्यसाहित्य तथा कथासाहित्य पर भी आचार्य वाजपेयी ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। वाजपेयी जी गंभीर अभिनेय नाटक को सर्वोत्तम कलासृष्टि मानते हैं और मानते हैं कि उन नाट्यकृतियों में महत्ता तभी आती है जब सामूहिक भावभूमि पर निर्मित होकर वे समूह का बल प्राप्त करती हैं। 'प्रसाद' के निधन के पश्चात् आने वाली नाट्यगत यथार्थपरक प्रवृत्ति ने जो इब्सन आदि पश्चिमी नाट्यकारों के प्रभाव और प्रेरणा से पनपी, फली और फूली है, यथार्थवाद की कठोर सीमाओं को स्वीकार कर, वाजपेयी जी के अनुसार अपने को पंगु बना लिया है। इसी प्रकार वे नाट्यकृतियों में वैयक्तिक-संवेदनों को समष्टि से पृथक् चित्रित करने के पक्ष में भी नहीं हैं। उन्होंने कहा है—''वह (नाटककार) यदि निजी संवेदनों को प्रकाशित करता हुआ समष्टि संवेदनों को गहरा स्पर्श नहीं देता, तो किसी अन्य क्षेत्र में भने ही सफल हो, नाट्यकला के क्षेत्र में लोक-प्रियता नहीं प्राप्त कर सकता।" आचार्य वाजपेयी ने आधुनिक व्यंग्यपूर्ण नाटकों में सुख-दुःख की अभिव्यक्ति को व्यक्गित धरातल पर प्रतिष्ठित देखा है और इस संदर्भ में बताया है-- "नाटक में व्यंग्य का अर्थ निजी असंतोष की अभिव्यक्ति नहीं है। नाटक में सुखान्त का अर्थ निजी भाव की अनुकूलता नहीं है, दु:खान्त का अर्थ व्यक्तिगत निराशा या पीड़न नहीं है। इसका अर्थ

है सामूहिक असंतोष, सामूहिक अनुकूलत और सामूहिक दुःख-संवेदन।"
निष्कर्ष यह कि यदि नाटक के अन्तर्गत नाटककार की जीवन के प्रति निजी
व्यंग्य और असंतोष की अभिव्यक्ति होगी, तो स्पष्ट है कि समष्टि का कोई
उपकार न हो सकेगा, साथ ही सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को व्यापक और
अकुण्ठित धरातल पर कोई प्रेरणा न मिल सकेगी।

इसी प्रकार उपन्यास या साहित्य के अन्तर्गत भी आचार्य वाजपेयी भावाभिव्यक्ति और सामाजिक संदर्भों का संतुलित सिन्नवेश पसन्द करते हैं। जैनेन्द्र एवं अज्ञेय के उपन्यासों के विश्लेषण के सन्दर्भ में उनके एतद्विषयक मन्तव्य प्रकाशित हुए हैं। 'मृणाल' के रहस्यमय तथा दार्शनिक विचारों का उन्होंने कोई सामाजिक मूल्य नहीं देखा है। अज्ञेय के 'शेखर: एक जीवनी' में उन्हें कला-योजना का श्रेष्ठतम रूप और निरीक्षण की सूक्ष्मता तो उपलब्ध हुई है, किन्तु शेखर का समूचा व्यक्तित्त्व आत्मकेन्द्रित, विकृत और असामाजिक होने से समाज के लिये प्रेरणादायक नहीं प्रतीत हुआ है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा और जैनेन्द्र के औपन्यासिक प्रदेय को वे इसी सीमा तक स्वीकार करते हैं कि उन्होंने प्रेमचन्दयुगीन विवरणात्मक पद्धति से हिन्दी उपन्यास को हटाकर उसे मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया। इलाचन्द्र जोशी के अंतश्चेतनावादी तथा यशपाल के मान्सवादी प्रभावों को केन्द्र बनाकर जिस निष्कर्ष पर वे पहुँचे हैं वह यह है कि वादी दृष्टि रखने वालों के यहाँ 'वाद' प्रमुख हो जाता है और जीवन गीण। परिणाम यह होता है कि औपन्यासिक स्थापनाएँ आरोपित और यांत्रिक होकर समाज की सहज मनोभूमि से पृथक् हो जाती हैं।

Principality of the control of the c

的形式的 "不知道"来自我们的,他们就被动作的一种的心思。

# उन्नीस मारतीय काव्यशास्त्र के पुनराख्याता : डाँ० नगेन्द्र

- Pap.

भारतीय काव्यशास्त्र के रसेतर सम्प्रदाय मैं केवल चार मानता हूँ— अलंकार, रीति, ध्वनि तथा वक्रोक्ति । 'औचित्य' के लिये यद्यपि 'स्थिरं काव्यस्य जीवितम्' कहा गया है, तथापि काव्यगत सौन्दर्य के परस्पर प्रतिपक्षी आत्म-स्थानीय तत्त्वों के प्रतिस्पर्द्धी रूप में क्षेमेन्द्र ने उसे नहीं रखा है, विपरीत इसके उसे सबका साधक और जीवित माना है। जो अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रता तथा रस का साधक है, वह प्रतिस्पर्द्धी कैसे ? इसीलिए काव्यात्मा के सम्बन्ध में उठे हुए अनेक विकल्पों और पक्षों के समकक्ष एक प्रतिस्पर्द्धी सम्प्रदाय के रूप में मैं इसे नहीं मानता । यही बात 'काव्यात्मा चमत्कृतिः' के वारे में भी कही जा जा सकती है। जैसे 'औचित्य' सबका साधक है, उसी प्रकार 'चमत्कृति' सबका 'साध्य'। इसलिए रसेतर सम्प्रदायों के अन्तर्गत मैं केवल उपर्युक्त चार को ही स्थान देता हूँ। डॉ० नगेन्द्र ने भी अपनी काव्य-शास्त्रीय विवेचनाओं में अनेकत्र कहा है-- ''काव्यशास्त्र में क्रमशः अनेक वादों और सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा हुई, जिनमें से पाँच अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध हुये—रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि-सम्प्रदाय।" डॉ॰ नगेन्द्र के वक्तव्यों से भी यह स्पष्ट झलकता है कि वे चाहते तो अनेक वाद और सम्प्रदाय हैं, पर प्रमुख और महत्त्वपूर्ण पाँच ही मानते हैं। अतः उनके अनुसार भी रसेतर भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत प्रमुख रूप से चार ही सम्प्रदायों की स्थिति है।

उक्त चतुर्विध सम्प्रदायों के सन्दर्भ में भारतीय काव्यशास्त्र के 'आख्यान' और 'पुनराख्यान' करने से पूर्व यह जान लेना चाहिए कि इन शब्दों की आशय-परिधि क्या है ? चूंकि ये शब्द व्यवस्थितार्थक होकर अद्यावधि रूढ़ अतः और पारिभाषिक नहीं बन सके हैं, अतः प्रस्तुत सन्दर्भ में इन्हें एक व्यवस्थित

१. रीतिकाव्य की भूमिका, १६६४, पृ० ३३ तथा १६८।

अर्थ देकर के ही आगे बढ़ा जा सकता है। काव्यशास्त्र के 'आख्यान' से इस सन्दर्भ में मेरा आशय है मूल आख्याताओं के द्वारा अपने काल तक के सर्जनात्मक साहित्य को लक्ष्य में रखकर 'सामान्य' सिद्धान्त में निहित 'विशेष' (भेद-उपभेद) के निरूपण का यथाव्त व्याख्यान। मैं अपना आशय थोड़ा और स्पष्ट कर दूँ। भारतीय काव्यशास्त्रीय चितकों ने जिस सम्प्रदाय का भी काव्य के सन्दर्भ में उपस्थापन किया है, उसको इतना सामान्य और व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है कि 'काव्य' का आत्मबीज सौन्दर्य उससे व्याख्यात हो जाय। उन आचार्यों का यह प्रयत्न होता है कि उनके काल तक निर्मित सर्जनात्मक साहित्य के सौन्दर्य-स्रोतों का यथासम्भव विश्लेषण कर दिया जाय और उन्हें विभिन्न भेदोपभेदों में वर्गीकृत कर सामने रख दिया जाय। इस प्रकार उनका सिद्धान्त 'सामान्य' है और तत्कालावधिक सर्जनात्मक साहित्य को लक्षित कर तदाधृत सौंदर्य-स्रोतमय भेदोपभेद 'विशेष'। इस सामान्याश्रित विशेष के यथावत् व्याख्यान को इस सन्दर्भ में मैं 'आख्यान' कहना चाहता हूँ। 'आख्यान' के अन्तर्गत मैं उस विवेचन को भी लेना चाहता हूँ जो अद्याविध अन्य लोगों द्वारा अदृष्ट पर मूल आख्याता को (संदर्भगम्य) अभीष्ट हो। उदाहरण के रूप में डॉ० नगेन्द्र जब रीति-सम्प्रदाय को यथावत् स्पष्ट करते हैं तब तो वे उस सम्प्रदाय के आख्याता हैं ही, आख्याता तब भी हैं जब वे विश्लेषणपूर्वक यह स्पष्ट करते हैं कि कांति गुणगर्भ 'गौडीया' रीति को अतात्त्विक मानने वाले वामन 'रस' को महत्त्व नहीं देते । पिद इस आशय को डॉ॰ ग॰ त्र्य॰ देशपांडे ने समझा होता जो रीति-सम्प्रदाय के आख्याता हैं, तोऐसा कभी न मानते कि वामन 'रस' को 'काव्येषु दशरूपकं श्रेयः' कहकर आत्म-स्थानीय कहना चाहते हैं। रेइस प्रकार 'आख्यान' के रूप में सम्प्रदाय के तत्कालावधिक 'सामान्याश्रित विशेष' के यथावत् व्याख्यान को तो लिया ही जा सकता है, लिया जा सकता है उसको भी जो मूल आख्याता का अभीष्ट लोगों को प्रकाशित न हो।

'पुनराख्यान' का आशय भिन्न है, या इस सन्दर्भ में मैं भिन्न मानना चाहता हूँ। मूल आख्याताओं के 'सामान्य' सिद्धान्त में भविष्य के लिए सम्भावनाएँ भी निहित हैं। यदि अतीत के सिद्धान्तों में वर्तमान से जुड़ने की संभावना नहीं है, तो उसे मृत घोषित करना चाहिए और विशुद्ध इतिहास या संग्रहालय

हिन्दी काव्यालंकार सूत्र, पृ० १६४ ।

२. भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ११५।

की वस्तु समझना चाहिए। उनका ज्ञान विशुद्ध ज्ञान के लिए हो सकता है, पर वर्तमान की दृष्टि से उनमें उपयोगिता की संभावना नहीं हो सकती। भारतीय काव्यशास्त्र के संप्रदायों में, साम्प्रदायिक सिद्धान्तों में ऐसी सामान्य विशेषता है जिसमें वर्तमान से भी जुड़ने की संभावना निहित लक्षित होती है । उदाहरण के लिए किसी भी संप्रदाय को लिया जा सकता है। अलंकार को ही ले लें। उसे 'सौंदर्य' और सौंदर्य-स्रोत के अर्थों में लिया जाकर अन्तहीन निरूपित किया गया है। आचार्य दण्डी और केशवदास द्वारा निरूपित अलंकार के अतिवादी रूप की उपेक्षा भी कर दी जाय और इसके संतुलित रूप 'वाग्विकल्प' 'भंगी मणिति', 'वाग्वैचित्र्य', 'उक्तिभंगिमा' को भी लिया जाय, तब भी काव्य जब तक शब्दार्थात्मक है तब तक आलंकारिक भंगिमा की संभावना अक्षत है। हम उसके भेदोपभेद आविष्कृत कर उसमें निहित वर्तमानोपयोगी संभावना को मूर्त कर सकते हैं। यदि हम सौंदर्य, संश्लेष और व्यवस्था के उपासक हैं तो हमें चुनौती है कि हम इन संभावनाओं को वर्तमान सर्जना के संदर्भ में पुनरुज्जीवित करें । इस प्रकार 'पुनराख्यान' का एक आशय है—'सामान्य' में निहित वर्तमानोपयोगी 'संभावना' को मूर्त करना और इस प्रकार अतीत के सिद्धान्त और सम्प्रदाय को वर्तमान सर्जनात्मक साहित्य से जोड़ देना ।

'पुनराख्यान' का एक और आशय मैं समझता हूँ। वह यह कि इतर राष्ट्रीय-साहित्य सर्जेना के समानान्तर आविष्कृत और रिचत सम्प्रदाय और सिद्धान्तों के साथ प्रकृत संप्रदाय को सामने रखकर मानवमात्र में होने वाली सामान्य प्रवृत्तियों के आलोक में संभावित एक रूपता या समानान्तर विशेषता को उद्घाटित करना। उदाहरण के लिए इलियट के Objective corelation तथा रसवादियों का विभाव सिद्धान्त ले लें। अर्थात् नए सर्जेनात्मक साहित्य के संदर्भ में आविष्कृत इतर राष्ट्रीय, काव्यशास्त्रीय चिन्ताधारा के समकक्ष भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों को रखकर उसकी सामर्थ्य और संभावना को मूर्त करना भी 'पुनराख्यान' का एक रूप है।

प्रसन्नता की बात कि डॉ॰ नगेन्द्र का भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन उपर्युक्त 'आख्यान' तथा 'पुनराख्यान' की विभिन्न परिधियों को आत्मसात् करता है।

#### [क] ग्रलंकार-सम्प्रदाय

अलंकार-सम्प्रदाय पर विशेष रूप में विवेचन-विश्लेषण 'रीतिकाव्य की भूमिका' में डॉ॰ नगेन्द्र ने प्रस्तुत किया है, यो प्रकीर्णक रूप से अन्यत्र भी।

इस प्रयत्न में उस प्रौढ़िका अंकुरण लक्षित होता है जो आगे अन्य संप्रदाओं के विवेचन में प्रकट हुई है। इसमें होनहार बिरवान के चीकने पात साफ़ दिखाई पड़ते हैं।

जहाँ तक अलंकार-सम्प्रदाय के आख्यान की बात है, डॉ॰ नगेन्द्र ने उसका ऐतिहासिक अनुक्रम में भरतनाट्यशास्त्र से लेकर अपने चिन्तन-काल तक किसी न किसी रूप में उपस्थापन किया है और माना है कि अलंकार की परम्परा भी इस परम्परा की तरह एक क्रमिक विकास का ही परिणाम हो सकती है। विइस विकास परम्परा की गंगोत्री उनकी दृष्टि में पण्डितों द्वारा आख्यात भाषा की सूक्ष्म परीक्षा थी। उनकी भी धारणा है कि आरम्भ से इस प्रवाह का संबंध दृश्यकाव्य से और उक्ति-चमत्कार के प्रवाह का श्रव्यकाव्य से चला आ रहा था। भामह आदि का अलंकार-साम्प्रदायिक चिन्तन दूसरी धारा का प्रतिनिधत्व कर रहा था, भामह का व्यवस्थित चिन्तन इस संप्रदाय की ऐति-हासिक सीमा को पीछे खींच ले जाता है। मेधाविन् को इसी श्रृंखला की एक कड़ी समझा जा सकता है।

ऐतिहासिक आख्यान के इस क्रम में उन्होंने अलंकार का साम्प्रदायिक विकास करने वालों की मूल मान्यताओं का सूक्ष्मेक्षण भी किया है। उदाहरणार्थ भामह की मान्यताओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है कि भामह ने अलंकार को ही काव्य का प्रधान अंग माना है। कारण है, अन्य सौंन्दर्य-स्रोतों का अलंकार रूप में ही उल्लेख। उनकी दूसरी मान्यता है कि काव्य का प्राण है अलंकार और अलंकार का वक्रोक्ति। तीसरी उल्लेख्य बात है सूक्ष्म, हेतु और लेश को अलंकार की सीमा से बहिष्कृत करना। चौथी बात है शब्दार्थ-वैचित्र्य को वक्रोक्ति का स्वरूप मानते हुए अलंकार को उससे एक-रूप करना।

इस प्रकार वे न केवल भिन्न-भिन्न अखंकारवादियों की उल्लेख्य मान्यताओं का उपस्थापन ही करते हैं, अपितु उनका पारस्परिक अंतर भी स्पष्ट करते हैं तािक विकास का पथ स्पष्ट हो सके। उनकी दृष्टि में भामह की अपेक्षा दण्डी स्पष्ट शब्दों में अलंकार को काव्य का शोभाकर शाश्वत धर्म मानते हैं और कई बातों में उदार भी हैं। दण्डी जहाँ एक ओर भामह स्वीकृत अनेक अलंकारों का नामोल्लेख नहीं करते, वहीं दूसरी ओर उनके द्वारा अमान्य

<sup>्</sup> १. रीति काव्य की भूमिका, पृ० १४।

अलंकारों सूक्ष्म, लेश, हेतु को अलंकार घोषित भी करते हैं। भामह जहाँ वक्रता के अभाव में अलंकार की सत्ता नहीं मानते, वहीं दण्डी उसके अभाव में भी संभावना करते हैं। आचार्य देवंन्द्रनाथ शर्मा से अलग हटकर डॉ॰ नगेन्द्र मानते हैं कि भामह और दण्डी की 'वक्रता' और 'अतिशय' भिन्न नहीं, एक ही हैं। प्रो॰ शर्मा 'वक्रता' में घुमाव फिराव और 'अतिशय' में बढ़ाव-घटाव मानकर भेद करते हैं जबिक डॉ॰ नगेन्द्र वस्तुमुखी दृष्टि से लक्षणकारों के वक्तव्यों के साक्ष्य पर अभेद।

अलंकार-सम्प्रदाय के ऐतिहासिक 'आख्यान' के सन्दर्भ में दो-तीन बातें और उल्लेखनीय हैं। पहली यह कि उन्होंने संख्यागत क्रमिक विकास का भी ध्यान रखा है। दूसरी यह कि भिन्न-भिन्न आत्मवादियों के निरूपणक्रम में अलंकार का स्वरूपगत विकास कैसा होता रहा, साथ ही काव्य में उसका स्थान किस प्रकार गौण, प्रधान, निवार्य, अनिवार्य होता रहा इसका भी ध्यान रखा है। इस प्रकार इतिहास-निरूपण क्रम में जहां संख्या, स्वरूप, गौणता-प्रधानता तथा निवार्यता-अनिवार्यता का आकलन हुआ है वहीं अलंकारों के वर्गीकरण की दिशा में किए गए प्रयत्नों का भी संकेत किया गया है। यह बात दूसरी है कि यत्र-तत्र कुछ ऐसी बातें भी हैं जो विवादास्पद हो सकती है।

ऐतिहासिक क्रम में अलंकार संप्रदाय का आख्यान करने के अनन्तर विशेष मुद्दों पर जमकर विचार किया गया है। ये मुद्दे हैं—(क) अलंकार की परिभाषा, भेद, (ख) अलंकार और अलंकार्य का भेद, (ग) अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार, (घ) रसानुभूति से अलंकार का योग, (ङ) भारतीय और यूरोपीय अलंकार-शास्त्र।

उपर्युक्त बिन्दुओं में से तृतीय और पंचम बिंदु को 'पुनराख्यान' के अंतर्गत विचारार्थ लिया जा सकता है, शेष को 'आख्यान' के। द्वितीय बिंदु में भी पुनराख्यान के तत्व हैं।

जहाँ तक अलंकार की परिभाषा और धर्भ का संबंध है, उसके निरूपण में सीमाएँ और संभावनाएँ तो हैं ही, उपलिब्धियाँ भी हैं। सीमा के संन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि ध्विन के प्रस्थापक आनंदवर्द्धन का आशय अना-ख्यात रह गया। उन्होंने अलंकार का निरूपण सैंद्धांतिक भूमिका पर किया है और ऐसा करते समय उनके मस्तिष्क में कारियत्री की 'सहजा' और 'आहार्या' दोनों प्रतिभाएँ थीं। 'सहजा' को ध्यान में रखते हुए उन्होंने कहा है कि अलंकार 'अपृथग्यत्ननिर्वत्यें' होते हैं, अर्थात् तदर्थ पृथक् से यत्न की आवश्यकता

नहीं होती, रसावेश में वे स्वयम् आ जाते हैं। किव केवल सर्जनात्मक अनुभूति को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है—इस भावदीप्त स्थित का प्रभाव अभिव्यक्ति को वक्र बना देने में है। आनन्दवर्द्ध न को सीधे उपस्थित न करते हुए भी डॉ॰ नगेन्द्र द्वारा इस संदर्भ में उठाए गए दो प्रश्नों—(क) क्या प्रत्येक उक्तिचमत्कार काव्य है? (ख) क्या काव्य में उक्ति-चमत्कार अनिवार्य है?—में से अंतिम का उत्तर वही है जो आनंदवर्धन को अभीष्ट है। आहार्या प्रतिभा को ध्यान में रखकर 'अलंकार' के लिए जिन शर्तों का उल्लेख आनंद ने किया है डॉ॰ नगेन्द्र ने प्रसगात् उसकी बात भी कही है; पर उनके आशय को सीधे यथावत् न रखकर अपनो स्वतःस्फूर्त चिन्तनात्मक यात्रा में उपलब्ध किया है। आहार्या कारियत्री से अलंकार तभी अलंकार रह पाते हैं जब वे निम्नलिखित शर्ते पूरी कर पाते हों—

- (१) विवक्षा तत्परत्वेन,
- (२) नाङ्गित्वेन कदाचन,
- (३) काले च ग्रहणम्,
- (४) काले च त्यागः,
- (५) नातिनिर्वहणैषिता,
- तथा (६) निर्व्यूढ़ाविप यत्नेन प्रत्यवेक्षणम् ।

इन शर्तों में केवल प्रथम का उल्लेख डॉ॰ साहब ने किया है पर वह भी प्रसंगान्तर से ।

अनाख्यान के संदर्भ में एक बात और भी कहनी है। ध्वनिमतानुयायियों की दृष्टि से अलंकार के स्वरूप की बात करते हुए अपेक्षाकृत रसवादी
विश्वनाथ महापात्र का ध्यान तो उन्होंने रखा किंतु चतुष्पाद प्रतिष्ठित सम्मट
के अभिमत का प्रकाश ठीक-ठीक नहीं कर सके। मम्मट ने सैद्धांतिक नहीं,
व्यावहारिक दृष्टि से 'अलंकार' के स्वरूप को स्पष्ट किया है। तभी तो प्रयोग
में जैसा देखा, वैसा सूत्रबद्ध कर दिया। सिद्धांततः चाहे वक्रता का होना अनिवार्य ओर शाश्वत हो, परन्तु प्रयोग में उसकी अस्थिरता दिखाई पड़ती है।
कतिपय रचनाएँ ऐसी भी मिलती हैं जहाँ दीप्त भाव नहीं हैं, अलकार हैं। कहीं
अलंकार नहीं है, भावदीप्ति के बाबजूद। कहीं भावदीप्ति के साथ वक्रता या
अलंकृति रहकर भी उपकारी, अनुपकारी, हानिकारी और तटस्थ रह सकती
है। प्रकाशकार ने सोदाहरण इन विशेताओं की पुष्टि की है।

डॉ॰ नगेन्द्र के विचारों को देखकर लगता है कि वे भी विश्वनाथ महा-पात्र तथा रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा में रसवादी दृष्टिकोण से ही अलंकार की परिभाषा के विषय में सोच रहे हैं तभी तो वे वक्रता को व्यापक और कवित्व को व्याप्त नहीं मानते । वे स्पष्ट कहते हैं कि प्रत्येक उक्ति-चमत्कार या वक्रता काव्य नहीं है। वे अलंकारवादियों की तरह यह नहीं मानते हैं कि प्रत्येक चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य पद की अधिकारिणी है। उनकी मान्यता है कि चमत्कार की माँग करने वाली वृत्तियाँ दो हैं -- कुतूहल तथा रमण । कुतू-हल वृत्ति की तपंक चमत्कृति उनकी दृष्टि में काव्योचित चमत्कृति नहीं है और नहीं कुत्हल काव्य की मूल वृत्ति है। वे रमणतर्पक चमत्कृति को काव्योचित चमत्कृति मानते हैं और रमणक्षम वृत्ति को—भावझंकृति को— मूल वृत्ति मानते हैं। जिस वाग्भंगिमा में भावों को जगाकर रमाने की क्षमता जितनी ही अधिक होगी, वह उतना ही उत्कृष्ट काव्य होगा । यह बात आनंद-वर्द्धन के 'अपृथग्यत्नतिर्वर्त्य' तक डॉ० नगेन्द्र को उठा ले जाती है। इसीलिए थोड़ी बारीकी से देखा जाय तो वे ज्ञात मनोभूमिका पर चाहे शुक्ल जी से संवादी लग रहे हों पर अज्ञात भूमिका पर स्वच्छदतावादी चिन्तकों की 'आत्मविश्रांति'-पर्यंवसायी काव्यचिन्तना से जुट जाते हैं। आचार्य शुक्ल रसोद्रेक को काव्य की अनिवार्य भर्त मानते हुए भी उसे माध्यम ही मानते हैं, गन्तव्य नहीं। उनका गन्तव्य है रसमयी सात्विक वृत्ति की उद्दीष्ति और उसका सत्कर्म में पर्यवसान । आत्मवादी शास्त्रीय चिन्तकों की भाँति डाँ० नगेन्द्र का आंतरिक झुकाव जहाँ 'चर्वणाविश्रान्ति' की ओर है वहाँ शुक्ल जी की कर्तव्यविश्रान्ति की ओर।

वे अपनी सीमाओं में अलंकारवाद का आख्यान नहीं करते, अपितु अलंकारवाद की सीमाओं का भी संकेत देते हैं। इस दिशा का संकेत उन्होंने महावीर प्रसाद द्विवेदी के एक वक्तव्य से आरंभ किया है। 'भारतीभूषण' की प्रस्तावना में द्विवेदी जी ने कहा था—''ये पुराने भूषण भाषण के भिन्न-भिन्न ढंग हैं। क्या इनके सिवा बोलने और लिखने में सरसता या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कोई अन्य ढंग हो नहीं सकता?'' अ चार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी 'कविता क्या है?' निबंध में इस ओर स्पष्ट संकेत किया है और यह भी कहा है कि न तो पुरानी रमणीय उक्तियों का ही अलंकारीकरण अब तक हुआ है, अर्थात् उनमें निहित वाग्भंगिमा की संज्ञा निर्धारित की गई है और न ही निर्धारित अलंकार पर्यवसायी संज्ञाएँ सब 'अभिव्यक्ति'-पक्ष से ही संबंध रखती हैं। अतः अलंकारों के आख्यान के साथ वर्तमान संदर्भ में

पुनराख्यान की भी आवश्यकता है। अलंकारवाद पर विचार करते हुए डॉ॰ नगेन्द्र भी इसी दिशा में कहते हैं— ''भाव की रमणीयता उक्ति की रमणीयता के विना अकल्पनीय है। परन्तु इसके लिए हमें अलंकार की परिधि को परिगणित रूढ़ अलंकारों तक ही सीमित न रख कर सभी प्रकार की वचन-वक्रता अथवा उक्ति-रमणीयता तक विस्तृत करना होगा, लक्षणा और व्यंजना के प्रयोगों को भी उसमें अंतर्भुक्त करना होगा।" इस प्रकार आख्यान के साथ-साथ पुन-राख्यान का भी प्रस्ताव इनकी विवेचनाओं में चलता रहता है।

इस प्रकार 'अंलकार की परिभाषा और धर्म' शीर्षक वैचारिक संदर्भ में जो दो प्रश्न उठाए गए थे, उस विषय में अंततः उनका अभिमत यही है कि काव्य की आत्मा भाव की रमणीयता अवश्य है, परन्तु इस रमणीय आत्मा का आधार शरीर भी अनिवार्यतः रमणीय ही होगा । <sup>९</sup> अर्थात् काव्य के लिए उक्ति की रमणीयता भी अनिवार्य है। प्रश्न यह है कि यहाँ व्याप्ति का स्वरूप क्या है ? जहाँ जहाँ कवित्व होगा, वहाँ वक्रता होगी या जहाँ जहाँ वक्रता होगी वहाँ-वहाँ कवित्व होगा। स्पष्ट है कि डॉ॰ नगेन्द्र व्याप्ति का पहला विकल्प ही स्वीकार करेंगे और करेंगे नहीं, करते हैं। वे मानते हैं कि जहाँ रमणीय भाव है वहाँ कवितव या कविता है ओर जहाँ कविता है वहाँ काव्य की आभा-रमणीयभाव-का स्वतःस्फूर्त प्रस्फुटन रमणीय वःग्भंगिमा या वक्रता में होता ही है। जो भीतर है वही बाहर प्रस्फुटित होगा। इसीलिए सच्चे कवि के 'भाव' में से 'रूप' फूटता है और अनुरूप फूटता है। डॉ॰ नगेन्द्र की इन सब स्थापनाओं से सहमत होते हुए भी 'आत्मा का आधार शरीर' जैसा प्रयोग समझ में नहीं आता। 'आधार' शब्द के दो अर्थ हैं—अधिकरण और उपजीव्य । अधिकरण भी तीन तरह के हैं—वैषयिक, औपश्लेषिक तथा अभिव्या-पक । इन शब्दों का शास्त्रीय जाल न फैला कर निष्कर्ष रूप में इतना ही कहता हूँ कि शरीर न तो आत्मा का उपजीव्य है और न अधिकरण। अतः आधार की जगह 'माध्यम' या 'अभिन्यंजक आधार' कहा होता तो उचित होता । यदि 'आधार' से उनका अभिप्राय अभिव्यंजक आधार ही अभीष्ट है, तब तो कोई बात ही नहीं।

इसी संदर्भ में 'रसानुभूति से अलंकार का योग' शीर्षक विचार बिन्दु को भी लेना संगत होगा। डॉ॰ नगेन्द्र रस को कवित्व की अनिवार्य शर्त मानने में

रीति काव्य की भूमिका, पृ० ६१।

आचार्य शुक्ल के साथ हैं, पर कवित्व को चर्वणा-विश्वांति में मानने से स्वच्छंद चिंतकों की भाँति प्राक्मध्यकालीन चिन्तक आनन्दवर्धनादि के साथ हैं और रस का 'समन्वित मनोवृत्ति'-पर्यवसित रूप स्वीकार करने में वे आई० ए० रिचर्ड स के साथ हैं । उन्होंने स्वीकार किया है कि 'रस मन की वह अवस्था है जिसमें हमारी मनोवृतियाँ अन्वित हो जाती हैं।' अलंकार किस प्रकार व्यंजन में सहायक होते हैं, इस पर विचार भारतीय अलंकारवादियों ने उतना स्पष्ट नहीं किया जितना अन्य आत्मवादियों ने । रसवादी आचार्य यह तो मानते है कि काव्य और रस के बीच भाव्य-भावक सम्बन्ध है, पर उस प्रक्रिया का बारीक विवरण नहीं देते । टीकाकारों ने यत्र-तत्र यह अवश्य कहा है कि रस के अभिव्यजक हैं विभावादि । विभावादि जितने ही सुन्दर होंगे, उतनी हो उनमें व्यंजनक्षमता होगी और सुन्दरीकरण काम है अलंकारों का । इस प्रकार अलंकार विभावादि के सुन्दरीकरण द्वारा रसाभिव्यंजन में योग देते हैं। डॉ० नगेन्द्र अभिव्यञ्जन की इस शास्त्र-निर्दिष्ट प्रक्रिया का आख्यान करें या न करें, उससे भी महत्वपूर्ण फलतः पुनराख्यान के संदर्भ में वे 'ग्राह्य' की दृष्टि से सूक्ष्म विवरण देने का प्रयत्न करते हैं । चूँकि रिर्चड्स द्वारा प्रस्तुत संदर्भ का यह नया चिंतन है, अतः इसे पुनराख्यान ही कहना चाहिए ।

तीसरा विन्दु है: अलंकार और अलंकार्य का भेद। इस बिन्दु पर भी डॉ॰ नगेन्द्र ने पौरस्त्य तथा पाश्चात्य, अर्वाचीन और प्राचीन चिन्तकों को आमने-सामने रखते हुए यह स्थापना की है कि क्रोचे की भाँति न तो भारतीय साहित्यशास्त्री और न ही विदेश के साहित्य मनीषी व्यावहारिक धरातल पर भी अलंकार और अलंकार्य के भेद को अस्वीकार करते हैं। भाव सर्जनात्मक अनुभूति के बीज से रूपाकार जैविक विकास की भाँति स्वतः स्फूर्त होता है, और काव्य की यही वयस्क प्रक्रिया है। इस तथ्य की पुष्टि भारतीय साहित्य शास्त्री भी तात्विक धरातल पर करते हैं। जब आनन्दवर्धन अलंकार को 'अपृथग्यत्निर्वर्त्य' कहते हैं, जब कुंतक 'अलंकृतस्यैव काव्यत्त्वम् न तु काव्यस्यालंकारः' कहते हैं तब वे भी अहैत दर्शन को मन में रखकर क्रोचे की तरह की बात करते हैं। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि एक व्यावहारिक धरातल पर समझने-समझाने के लिए (अपोद्धारबुद्ध्या) दोनों की पृथक् सत्ता कल्पित कर लेता है, दूसरा वहाँ भी दार्शनिक और तात्विक घरातल की ही बात करता है।

चतुर्थ बिन्दु है: अलंकारों का मनौवैज्ञानिक आधार । इस दिशा में भी डॉ॰ नगेन्द्र ने पौरस्त्य और पाश्चात्य आचार्यों के द्वारा निरूपित अलंकारीं के आधारों का ऐतिहासिक क्रम में उपस्थापन किया है और डॉ॰ डे प्रभृति पूर्ववर्ती विद्वानों से इनकी अयुक्तियुक्तता पर सहमति व्यक्त करते हुए कहा है कि दोष आधार-निरूपण में इसलिए है कि स्वयम् अलंकारों का स्वरूप-निरूपण ही किसी निश्चित आधार को लेकर नहीं चला। उसका आधार शैली की सीमा को लाँघ कर वस्तु तक नहीं, अपितु न्याय, दर्शन, वाणी और क्रिया तक चला गया है। अतः इस पक्ष के 'आख्यान' से विरक्त होकर उन्होंने 'पुनराख्यान' की बात सोची और उस दिशा में प्रयत्न भी किया।

उन्होंने बताया है कि काव्यव्यापार दीप्त भावभूमि पर निर्भर है और भावदीप्ति मानस ओज पर। दीप्त भाव जब वाणी के माध्यम से फूटता है, तब वाणी में 'अतिशय लोकातिक्रान्तगोचरता' सहज ही आ जाती है। यही अतिशय अलंकार का सामान्य स्वरूप है। डाँ० साहब की यह प्रक्रिया तो ठीक लगती है, पर एक दूसरे छंग से भी उन्होंने 'अतिशय' का समर्थन किया है और वह है किव के अलंकार-प्रेम में निहित आत्मप्रदर्शन की प्रवृत्ति । प्रदर्शन में अतिशय का तत्व संभव है ही। इस वक्तव्य में और तो सब ठीक है, पर एक बात विचारणीय लगती है। जिस काव्यव्यापार में किव अलंकार-प्रेमपरक आत्मप्रदर्शन से हटकर शुद्ध भाव-व्यंजन (आत्मव्यंजन) में सब प्रकार के आत्मप्रदर्शन के प्रलोभनों का संवरण करता हुआ अलंकृतवाक कहा जाता है, वहाँ इस वक्तव्य की क्या स्थित होगी ? कहा जा सकता है कि इस प्रक्त का उत्तर डाँ० नगेन्द्र ने पहले वक्तव्य में दे ही दिया है। पर इस उत्तर के आलोक में इतना स्पष्ट है कि दूसरा वक्तव्य अलंकार-नंनयोजन की व्यापकता को देखते हुए अव्याप्ति दोष से ग्रस्त है।

इस प्रकार न केवल वे अलंकारों की मूल प्रेरणा पर ही विचार करते हैं अपितु व्यावहारिक धरातल पर भी अलंकारों के कुछ मूर्त आधार निर्धारित करते हैं । उनकी दृष्टि में उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए प्रयोक्ता छः प्रकार की मनः स्थितियों से गुजरता है—स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल । साधम्यं, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार उन्हीं मनः स्थितियों के मूर्त रूप हैं, अतः अलंकारों के वर्गीकरण में इन आधारों का उल्लेख किया जा सकता है। इस संदर्भ में उन्होंने इन आधारों का सोदाहरण समन्वय भी किया है। आधार-निर्धारण की दिशा में उनका यह एक शक्त किया है।

पाँचवाँ बिन्दु है: भारतीय और यूरोपीय अलंकार-शास्त्र । इस विवेचन की उल्लेख्य विशेषता है दोनों देशों की अलंकार-विवेचनागत समता और विषमता । जहाँ तक समता का सम्बन्ध है, वाच्य को प्रभावोत्पादक बनाना एक सार्वमौम वृत्ति है, अतः उसके घटक तत्वों का मिलना सहज संभव है। रही विषमता, वह भी भिन्न देशों में संभव है।

'रीतिकाव्य की भूमिका' के अतिरिक्त अन्यत्र भी डॉ० नगेन्द्र ने अलंकार पर विचार किया है और वहाँ अलंकार सम्बन्धी अन्य नूतन दिशाओं का भी उद्धाटन किया है। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के निरूपण के संदर्भ में उन्होंने अलंकार पर विचार करते हुए यह ठीक ही लक्षित किया है कि वक्रोक्ति-सम्प्रदाय अलंकार-सम्प्रदाय का पुनरूत्थान मात्र नहीं है—अलंकार-सम्प्रदाय की वक्रोक्ति और काव्य-जीवित की वक्रोक्ति में तत्वगत भेद है। इसी के साथ-साथ दूसरी उल्लेखनीय विशेषता उनके प्रस्तुत संदर्भ के चिन्तन की यह भी है कि जहाँ अन्य काव्यात्मवाद अलंकार और अलंकार्य की बात करके भी व्यवहार में उसे भूल जाते हैं वहाँ कुन्तक ने अपनी दृष्टि निर्भान्त रखी है—इस तथ्य को उन्होंने स्पष्ट किया है। जहाँ अन्य मतवादी वर्णन प्रणाली के साथ वर्ण्य को भी अलंकार के अन्तर्गत रख दिया करते थे, वहाँ कुन्तक ने इसका जोरदार खण्डन किया है।

अलंकार और अलंकार्य के पार्थक्य-अपार्थक्य सम्बन्धी विवाद की डॉ० नगेन्द्र ने समस्त पूर्वी-पश्चिमी, प्राचीन तथा अर्वाचीन की विस्तृत पीठिका पर उठाकर उसका तूलनात्मक विश्लेषण किया है और इन तमाम मतामतों के परिप्रेक्ष्य में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अलंकार और अलंकार्य के भेदाभेद का प्रकृत प्रत्यक्ष रूप से वाणी और अर्थ के भेदाभेद के साथ सम्बद्ध है। अभेद की अपेक्षा में 'भेद' और 'भेद' की अपेक्षा में ही दार्शनिक भूमिका पर अभेद को समझा जा सकता है। तात्त्विक दृष्टि से अभेद की बात मानी जा सकती है, पर व्यावहारिक दृष्टि से भेद को अस्वीकार किया ही नहीं जा सकता। अन्यथा डॉ॰ नगेन्द्र के ही शब्दों में 'सहजानुभूतिमूलक भेद-अभेद सभी निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार डॉ॰ नगेन्द्र क्रोचे की बात से तत्त्वतः सहमति व्यक्त करते हुए भी व्यवहारतः आचार्य गुक्ल से सहमति की साधार स्थापना करते हैं। आस्वाद और निर्माण धरातल पर कला अखण्ड है, पर विवेचना के धरातल पर तो उसे सखण्ड होना ही पड़ेगा। कला की आलोचना सहजानुभूति अथवा आस्वाद रूप में नहोकर धारणा रूप की ही होती है। डॉ॰ नगेन्द्र ठीक ही लिखते हैं, 'अपने अखण्डरूप में सहजानुभूति अविवेच्य है, अनिर्वचनीय है, धारणाओं में खण्डित होकर ही वह विवेच्य हो सकती है—यही उसकी आलोचना है।' किसी भा चिन्तक की यही विशेषता होती है कि वह विवादास्पद बिन्दुओं को लेता है और समस्त सम्बद्ध पूर्व वर्ती चिन्तन की पीठिका पर साधार अपना मत व्यक्त करता है। या तो वह कोई नई-नई स्थापना देता है अथवा क्रमागत स्थापना का ही परवर्ती विपक्षीय नई चिन्तनाओं के आलोक में पुनः दृढ़ीकरण करता है। यह संदर्भ क्रमागत धारणा के पुनः दृढ़ीकरण का है, इसे भी एक प्रकार की स्थापना ही कहा जाता है।

इसी प्रकार एक दूसरा प्रश्न भी चला आ रहा है कि 'स्वभावोक्ति' को क्या माना जाय—अलंकार या अलंकार ? रसवदलंकार क्या अलंकार कहा जा सकता है ? और कहा भी जा सकता हो तो किस अर्थ में ? डॉ॰ नगेन्द्र ने 'स्वभावोक्ति' और 'रसवदलंकार' का बड़ा ही पुष्ट ऐतिहासिक अनुक्रम में आख्यान किया है और अपनी सहमित कुंतक के साथ व्यक्त की है। 'स्वभावोक्ति' शब्द में समस्त संभावित अर्थ की परतों को उघाड़ा है और अलंकारता की परीक्षा की है, पर अंततः उसका निरसन ही किया गया है। पुनः यही बात 'रसवत्' के साथ भी रही है। इन संदर्भों में कोई 'पुनराख्यान' तो नहीं है, पर 'आख्यान' तर्कपुष्ट और विश्वसनीय है।

अलंकार-विवेचन के संदर्भ में कुंतक की दो और उल्लेखनीय स्थापनाओं की चर्चा डॉ॰ नगेन्द्र ने की-एक तो रूपक और व्यतिरेक में से प्रत्येक के दो-दो भेद (वाच्य और प्रतीयमान) दूसरे दीपक के संबंध में यह कि दी पन क्रिया-पद ही नहीं, इतर पद भी कर सकते हैं। इन दोनों स्थापनाओं को उन्होंने विशेष महत्त्व नहीं दिया। रूपक और व्यतिरेक के भेदों-वाच्य तथा प्रतीयमान—को इसलिए नहीं कि वे क्रमागत हैं और दीपक के क्रिया पदेतर की दीपकता की इसलिए नहीं कि इसमें उतना चमत्कार नहीं होता। जहाँ तक रूपक और व्यतिरेक की बात हैं, कुन्तक के संबंध में यह विचारणीय है कि उन्होंने वाच्य और प्रतीयमान-ये दो भेद माने कैसे ? कुन्तक के अमिधावाद तथा महिम के 'अभिधावाद' में अन्तर है। कुन्तक की अभिधा काव्योचित अभिधा है और महिम की काव्यलोकसाधारण अभिधा। इस पीठिका पर शक्ति के एक ही मानने से अर्थ भी एक ही स्तर का होगा और यदि अर्थ दो प्रकार वाच्य तथा प्रतीयमान-का माना जायगा, तो शब्द की शक्ति भी दो माननी होगी। यदि वह अर्थ शब्दप्रमाणलभ्य है तो शब्द शक्ति-लभ्य ही होगा। वाच्य रूपक शब्दप्रमाणलभ्य तथा प्रतीयमान रूपक शब्देतर प्रमाणलभ्य माना जाय; फलतः शब्द की एक शक्ति-अमिधा-की संगति मान भी ली जाये तब भी प्रकन बना ही रहेगा कि आख़िर 'प्रतीयमान रूपक' शब्देतर

प्रमाणों में से किस प्रमाण का लभ्य होगा ? कुन्तक का आशय क्या समझा जाय और कुन्तक ने इसकी स्पष्टता क्यों नहीं की ? कुन्तक को ओर से अनुत्तरित जिज्ञासु का यह एक प्रश्न है। ध्विन-विरोधी होने के कारण आनंदवर्द्ध न की 'व्यञ्जना' शक्ति तो इन्हें मान्य होने से रही । यह ठीक है कि इन्होंने अपने वाच्य में प्रतीयमान का भी समावेश उपचारतः माना है, पर इस स्थिति में भी कम उलझनें नहीं हैं।

डॉ॰ नगेन्द्र के इस निष्कर्ष से भी सहमत होना स्वाभाविक है कि वक्रोक्ति-वादी 'वक्रोक्ति' को अलंकार रूप में मानकर भी अलंकारवादियों की अपेक्षा रसवादियों के अधिक समीप हैं। वे 'भाव' और 'स्वाभाव' को अलंकार्य तथा वक्रोक्ति को अलंकार मानते हैं।

वास्तव में वक्रोक्ति-सिद्धान्त सर्जना की दृष्टि से विचार करने के फल-स्वरूप निर्गत सिद्धान्त है, अतः किवव्यापाररूप वक्रता पर बल दिया जाना स्वाभाविक है। कहा है कि 'वक्रत्वं किवव्यापारः'। फिर भी पूर्ववर्ती समस्त काव्य-सम्प्रदायों से कुन्तक का परिचय था, अतः उनकी समस्त हृदयावर्जक अच्छाइयों को आत्मसात् कर कुन्तक ने अपना अभिमत व्यक्त किया। उन्होंने 'अलंकार' के स्वरूप के विषय में बढ़ी ही निर्भान्त धारणा व्यक्त की है। डॉ॰ नगेन्द्र ने ठीक ही कहा है कि न जाने क्यों परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने इनकी अलंकार संबंधी मान्यता की अवहेलना की और अलंकार का निरूपण अतिव्याप्त भूमियों पर करते रहे। इस प्रकार डॉ॰ नगेन्द्र ने उस संदर्भ में तो अलंकार का विवेचन किया ही है, रीति, ध्विन तथा वक्रोक्ति संम्प्रदायों के संदर्भ में भी उसे देखा और परखा है।

इस समस्त विवेचन में एक बात और विचारणीय है। अलंकार-सम्प्रदाय सौंदर्य का अस्तित्व कहाँ मानता है? उसका कारण किसे कहता है? अलंकार-वादियों के अलंकार की परिधि क्या है? डाँ० नगेन्द्र ने प्रसंगान्तर में इन तीनों प्रश्नों पर भी अपना मंतव्य प्रकाशित किया है। 'हिन्दी काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट कहा है—(१) काव्य का सौंदर्य शब्दार्थ में निहित है, (२) शब्द-अर्थ के सौंदर्य के कारण हैं अलंकार, और (३) अलंकार के अंतर्गत काव्य-सौंदर्य के सभी प्रकार के तत्त्व आ जाते हैं। डाँ० नगेन्द्र के इन तीनों निष्कर्षों से असहमत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। निश्चय ही अलंकारवादी सौंदर्य का आधार शरीरस्थानीय शब्द तथा अर्थ (वाचक तथा वाच्य, कथंचित् लक्षक तथा लक्ष्य) को ही मानते हैं। उनकी

दृष्टि में शरीर ही अलंकार्य है और वही सौंदर्य का आश्रय भी । इस प्रकार उन्हें देहात्मवादी भी कहा जा सकता है।

यहाँ एक बात और भी विचारणीय थी और वह यह कि सौंदर्य द्विविध है—सहज और अजित अथवा स्वाभाविक और प्रविद्धित । अलंकारवादी सहजात सौंदर्य को महत्व देते हैं या प्रविद्धित को ? उनकी दृष्टि में अलंकार सहजात सौंदर्य के स्रोत हैं या अभिविद्धित ? यह भामह के निम्नलिखित कारिकार्द्ध से लगता है कि वे अभिविद्धित सौंदर्य को महत्व देते थे और यह अभिवर्द्धन होता है अलंकार से—

#### न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ।

सहजात कान्ति अथवा सौंदर्य-संवित्ति आनन भी मामह की दृष्टि में तब तक आकर्षक नहीं होता जब तक वह अलंकार-रिहत रहता है। निश्चय ही अलंकार-सिहत होने पर कान्त आनन और भी कान्त हो जाता है; उसकी कान्ति प्रविद्धित हो जाती है। इस प्रकार अलंकारवादी सहजात कांति की अपेक्षा अभिवृद्धित कांति को महत्व देता है और इस अभिवृद्धि में अलंकार को कारण मानता है। रीतिवादी सहजात सौंदर्य को महत्व देता है और उसका कारण गुण को मानता है। इस तथ्य में तो कोई संदेह ही नहीं है कि जहाँ रीतिवादी गुण का अस्तित्व अलंकार से पृथक मानता है, वहाँ अलंकारवादी अलंकार में ही गुण आदि सौंदर्य-स्रोतों का स्रंतभिव कर लेता है।

निष्कर्ष यह कि अलंकार-सम्प्रदाय का जहाँ एक ओर डॉ॰ नगेन्द्र ने शक्त आख्यान किया है वहीं पुनराख्यान की दिशा में भी कुछ बातें कहीं हैं और अलंकार संबंधी चिन्तन को गति दी है।

## [ख] रोति-सम्प्रवाय

अलंकारमत के संबंध में डॉ॰ नगेन्द्र ने विशेष रूप से (अपने प्रायः काव्य-शास्त्र के प्रथम प्रयास) 'रीति-काव्य की शूमिका' में ही कहा है और अन्यत्र प्रसंगात् उसकी चर्चा की है। रीतिमत पर भी उस ग्रंथ में चर्चा है, पर उसको भी आत्मसात् करते हुए विस्तार के साथ 'हिन्दी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' की भूमिका में इसका विवेचन—आख्यान-पुनराख्यान—हुआ है।

निस्संदेह 'रीति' का जितना विस्तृत व्याख्यान डॉ॰ नगेन्द्र ने प्रस्तुत किया है, उतना न तो उनके पूर्व किसी ने किया था और न बाद में ही किसी ने किया है। उनके आख्यान की दो विशेषवाएँ उल्लेखनीय हैं—एक तो यह कि आलोच्य पक्ष को वे व्यापकतम ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखते हैं—ऐतिहासिक ही नहीं देशिक भी। आलोचनकाल तक ज्ञात प्राचीन, अर्वाचीन, पूर्वी तथा पश्चिमी चिन्तनाओं के परिप्रेक्ष्य में आलोच्य तत्व को रखकर तव अपनी वौद्धिक प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। यह उनके गहन अध्ययन का फल है, श्लाध्य घैर्य का प्रतिफल है। दूसरी विशेषता है: वर्तमान संदर्भ की समस्याओं और अध्ययन के चौखटे में विवेच्य पक्ष को रखकर किसी तर्कसंगत निष्कर्ष की ओर पहुँचना। उनके आख्यान की यह एक प्रकार से पद्धित ही है।

अपनी बात दो उदाहरणों से स्पष्ट कर दूँ। रीति-संबंधी उनका सारा विवेचन संस्कृत तथा पिचमी साहित्यशास्त्र और हिन्दी रीतिग्रन्थों के साक्ष्य पर ऐतिहासिक और दैशिक परिश्रेक्ष्य से हुआ है—केन्द्र में वामन अवश्य हैं। वामन की काव्यशास्त्र से संबद्ध तमाम मान्यताओं को वे साहित्य-शास्त्रीय वर्तमान समस्याओं और विकल्पों के चौखटे में रखकर परीक्षित करते हैं तथा अपना अभिमत देते हैं। रीतिमत के अंतर्गत डॉ॰ नगेन्द्र के काव्य स्वरूप, काव्य की आत्मा, काव्य का प्रयोजन तथा हेतु एवं भेद आदि-काव्यसिद्धान्तों के विवेचनों में से किसी को भी लिया जा सकता है।

वामन द्वारा प्रदत्त काव्य की परिभाषा का परीक्षण उन्होंने न केवल देहवादी तथा आत्मवादी भारतीय साहित्यशास्त्रियों के संदर्भ में ही परीक्षित किया, अपितु प्रसंगात् क्रोचे जैसे पश्चिमी कलादार्शनिकों की काव्य-सम्बन्धी मान्यता को भी रखा और बताया कि आत्मवादी जहाँ अन्तरंग धर्मी पर बल देते हैं वहाँ देहवादी बहिरंग धर्मों पर । फिर भी देहवादी भामह की परिभाषा जितनी मार्मिक है उसकी तुलना में देहवादी वामन की नहीं। वामन गुणालंकार-संस्कृत शब्दार्थ को काव्य कहते हैं, जब कि भामह समप्रधान तथा समजस शब्दार्थ-सहभाव को मानते हैं। डॉ॰ साहब ने 'अभिव्यंजना' को काव्य कहने की दृष्टि से भामह को क्रोचे से एकरस कर दिया है, पर वस्तुपक्ष से काव्य का यशोगान करने वाले की दृष्टि से अपर्याप्त या अव्याप्त भी कहा है। इस संदर्भ में भरत से लेकर रामचन्द्र शुक्ल तक और अरस्तू से लेकर रिचर्इस तक की व्यापक पीठिका रखी गई है। इस संदर्भ में रह-रहकर उनका झुकाव क्रोचे और कुन्तक की ओर हो जाता है और भामह के समञ्जस शब्दार्थ-सहभाव में ही वस्तुवादियों की 'रमणीयता' की प्रतिष्ठा कर वे अव्याप्ति के विरुद्ध तर्क भी देते हैं। इस पीठिका पर वामन का काव्यस्वरूप सम्बन्धी अभिमृत उनकी दृष्टि से स्थूल है। वे मानते हैं कि वामन अपनी सीमाओं में बैसा कहने के लिए विवश हैं और उनकी दृष्टि से वह ठीक भी है तथापि वह तात्त्विक न रहकर वर्णनात्मक हो गया है।

्र इसी प्रकार जब वे वामनसम्मत काव्य की आत्मा पर विवेचन प्रस्तुत करते हैं तब उन्हें लगता है कि वामन 'रीति' और 'वस्तु' में 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर 'रीति' को ही महत्त्व देते हैं। रीति और वस्तु के आपेक्षिक महत्त्व के विषय में अद्यावधिक निर्धारित चार पक्षों की पीठिका पर वामन का स्थान स्पष्ट करने में उनकी उक्त आख्यान-शैली स्पष्ट है। चार विकल्प इस प्रकार हैं एक वस्तु को उपजीव्य और शैली को उपजीवक मानता है। दूसरा वस्तु तथा रीति दोनों को व्यक्तित्त्व की अभिव्यक्ति मानता है, तीसरा, जो दूसरे से निकट है, मानता है कि काव्य में रीति अथवा अभिव्यंजना ही सब कुछ है—वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्त्व ही नहीं है; और चौथा पक्ष है दोनों के समन्वय का । वामन की स्थिति डाक्टर साहब ने इन चारों से भिन्न मानी है। कारण, जहाँ एक ओर उनका दृष्टिकोण अव्यक्तिगत होने से व्यक्तिवादी नहीं बन सकता वहीं दूसरी ओर वस्तुवादियों से भी वे इसलिए भिन्न हो गये कि 'रीति' को 'वस्तु' की अपेक्षा अधिक महत्ता दी। तीसरी ओर यह भी स्पष्ट है कि वे अभिव्यंजनावादियों की भाँति वस्तु की सत्ता और महत्त्व से इन्कार नहीं करते । साथ ही वे दोनों का समान महत्त्व भी नहीं स्वीकार करते । इस प्रकार उनकी स्थिति अभिन्यंजनावादियों और समन्वयवादियों की मध्यवतिनी है।

वस्तुतः इस संदर्भ में एक प्रश्न अनाख्यात रह गया। वामन एक जगह 'रीति' को काव्य की आत्मा मानते हैं और अन्यत्र काव्य की ग्राह्मता अलंकार-वश्च स्वीकार करते हैं—'काव्यं ग्राह्ममलंकारात्'। इन दो वक्तव्यों से एक अंतिवरोध उभरता है और वह यह कि काव्य की अन्तःसत्ता, सारवत्ता 'रीति' पर आधृत है या 'अलंकार' पर ? यदि इन दोनों वक्तव्यों का समन्वय करना हो, तो एक ही रास्ता है और वह है—'रीति' की भी विशेषता 'गुण' और अलंकारान्तर्गत 'गुण'। कारण, वे व्यापक अर्थ में दोषत्याग, अलंकार तथा गुण तीनों को ही अलंकार मानते हैं। इस आलोक में रीतिअविरोधी अलंकार 'गुण' ही हो सकता है। साथ ही इसकी पुष्टि इसलिए भी हो जाती है कि वामन प्राथमिक या काव्य में उपादेय सहज सौंदर्य का स्रोत 'गुण' ही मानते हैं। उन्होंने कहा है कि युवती के सहज सौंदर्य (जो यौवन नामक गुण के कारण संभव है) का स्रोत 'गुण' ही है। यौवन नामक गुण के अभाव में अलंकार का कोई अर्थ नहीं है। इससे स्पष्ट है कि वामन काव्य में जिस 'रीति' को महत्त्व

देते हैं, वह 'गुण' के कारण और गुणों की इतनी संख्या मानी है, ऐसे-ऐसे अर्थों का उसमें समावेश किया है कि न केवल सौंदर्याधायक वस्तु सामान्य और कलात्मक उपकरणों की ही स्थिति ध्वनित है अपितु समाधि जैसे काव्यकारण का भी उल्लेख हो गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वामन रीति को महत्त्व ('रीति' के कारण) गुणवत्ता के कारण देते हैं। ऐसी स्थित में वामन को उक्त चतुर्विध विकल्पों में कहाँ रखा जाय, यह विचारणीय है।

डॉ॰ नगेन्द्र के मन में भी यह बात गूँजती है, पर निष्कर्ष विपरीत है। देखें—"गुण के अर्थगुण और शब्दगुण ये दो भेद कर और कान्ति में रस दीप्ति मानते हुए वामन ने अर्थ अथवा वस्तु की सत्ता तथा महत्त्व दोनों अगीकार किये हैं, फिर भी सब मिलाकर सापेक्षिक महत्त्व रीति का ही है जिसके बिना अर्थगुण सम्पदा का उत्कर्ष सिद्ध ही नहीं हो सकता।"

काव्य-सिद्धान्त के अनन्तर इस विवेचन का दूसरा महत्त्वपूर्ण खण्ड है—
'रीतिसिद्धान्त' शीर्षक । इसके अन्तर्गत पूर्ववृत्त, रीति की परिभाषा और
स्वरूप, रीति के आधार, रीति के मूलतत्त्व, रीति के नियामक हेतु तथा रीति
का प्रवृत्ति, वृत्ति तथा शैली से अन्तर स्पष्ट किया गया है । इन सारे वैचारिक
बिन्दुओं के माध्यम से भी वे ही दो उक्त बातें—वामन ही की स्थिति और
उक्ति की व्यापक पीठिका पर विशद आख्यान तथा यत्र-तत्र वर्तमान साहित्यक
समस्याओं के चौखटें में किसी पक्ष को रखकर अपनी बौद्धिक प्रतिक्रिया । इस
सारे संदर्भ में दो विवादास्पद बिंदु विशेष द्रष्टव्य हैं—एक तो रीति और शैली
की एकरूपता तथा विरूपता और दूसरे 'गुण' का स्वरूप और उसकी
मनोवैज्ञानिक स्थिति । गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति स्पष्ट करते हुए दार्शनिक
पीठिका पर निरूपित 'गुण' की नई पीठिका पर पुनराख्यान किया गया है ।

रीति और शैली की एकरूपता और विरूपता की समस्या को लेकर डॉ॰ नगेन्द्र ने जो स्थापना की है, वह इस प्रकार है। शैली के दो मूल तत्त्व हैं: वस्तु तत्त्व और व्यक्तितत्त्व। इन दोनों पक्षों से विचार करते हुए डॉ॰ नगेन्द्र ने डॉ॰ डे के इस वक्तव्य से कि रीति और शैली दोनों में उक्त दोनों तत्त्वों के आधार पर सर्वथा भेद है, असहमित व्यक्त की है। वस्तुतत्त्व की दृष्टि से तो भेद मानना वे अनावश्यक मानते ही हैं, व्यक्ति तत्त्व की दृष्टि से भी उतना महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। साथ ही वे यह स्वीकार करते हैं कि इधर 'शैली' में व्यक्तित्व का समावेश जितना हुआ है उतना रीति तत्त्व में नहीं था अर्थात् व्यक्तितत्त्व के समावेश में मात्रात्मक भेद है, आत्यन्तिक नहीं। भारतीय रीति

में न तो व्यक्तितत्त्व का एकांत अभाव है और न ही 'व्यक्ति गैली है' की भाँति एकांत सर्वापहारी अधिकार ही। इस संदर्भ में भी मेरा यह कहना है कि संघटना या रीति के विषय में भारतीय आचार्यों (जैसे कुन्तक) ने जिस 'स्वभाव' की बात का उल्लेख किया है, वह 'स्वभाव' भी वस्तुमुखी है, व्यक्तिमुखी नहीं—अन्यथा कुन्तक संघटना को कितपय निर्धारित गुणों से जकड़कर तीन ही नहीं मानते।

दूसरा उल्लेख्य बिंदु है: गुण का स्वरूप और मनोविज्ञान के आलोक में उसकी स्थिति, मनोवृत्तियों के समन्वयन में उसका योगदान । 'गुण' के स्वरूप पर भारतीय आचार्यों ने ख़ूब जमकर दार्शनिक दृष्टि से भी विचार किया है। डाँ० नगेन्द्र ने इस वैचारिक श्रृंखला का शक्त आख्यान किया है। वास्तव में पण्डितराज ने पूर्ववर्ती ध्वनिवादियों के विपक्ष में अपना मत प्रकट किया है और अनुभव तथा तर्क दोनों के आधार पर खण्डन किया है। उन्होंने नव रसों के दो त्रिकों में (प्रुंगार, शान्त, करुण तथा वीर, वीभत्स, रौद्र) त्रिकसाधारण एक 'विशेषता' मानी है और उसी को गुण कहा है। प्रथम त्रिक परस्पर स्वरूप में भिन्न होकर भी इस माने में एक समानता रखते हैं कि उनका प्रभाव द्रवात्मक होता है और दूसरे त्रिक का दीप्त रूप। मात्रात्मक भेद संभव है, पर मूलतः नहीं । अतः 'तीन' में रहने वाली 'एक' विशेषता को तीन से अभिन्न नहीं कहा जा सकता। तथापि डॉ॰ नगेन्द्र ने ठीक ही कहा है और पण्डितराज की भाँति उनका आख्यान संगत है कि इस एक 'विशेषता' (त्रिकव्यापिनी) को पृथक् 'गुण' क्यों कहा जाय और रस से भिन्न कारण क्यों कहा जाय। रस को ही उस द्रुति या दीप्ति का प्रयोजक क्यों न माना जाय ? रस से पृथक् 'गुण' की कल्पना कर उसे प्रयोजक क्यों माना जाय ? पण्डितराज ने तो दार्शनिक भूमिका पर भी उसका प्रत्याख्यान किया है और कहा है कि रस ह्म आत्मा तो निर्गुण है, उसमें 'गुण' कहाँ ? परवर्ती आचार्य अच्युतराय ने अपने 'साहित्यसार' में पण्डितराज का खण्डन करते हुये कहा है कि 'रत्याद्य-विच्छिन्न चित्' यदि रस है और यह पण्डितराज को स्वीकार है तो निर्गुण और निविशेष चित् में 'गुण' न हो पर सविशेष और सोपाधिक 'रस'-सगुण आत्मा में तो 'गुण' की सत्ता माननी होगी ही । तब भी यह जिज्ञासा अक्षत ही रहेगी कि उपाधिभूता रित रसात्मक कोटि का आटीकन (स्पर्श) करके द्रुति का प्रयोजक होगी, अतः उससे पृथक् रूप में प्रयोजक गुण क्यों माना जाय ? जब रसात्मक कोटि तक विकसित स्थायी स्वतः द्रुति, दीप्ति तथा विकास में क्षम हैं, तो उनमें प्रमाण भाव में भी एक अतिरिक्त गुण की कल्पना क्यों की

जाय ? विपरीत इसके कि रस धर्म के रूप में गुण की निराधार कल्पना मानी जाय, यहीं मान लेना कि द्रुति, दीप्ति आदि हार्दिक प्रभाव की प्रयोजकता वर्ण वाक्य, रचना अर्थ तथा रस—सबसे मान ली जाय और व्यवहार दृष्ट मधुर वर्ण, मधुर वाक्य, मधुर रचना, आदि व्यवहार की भी उपपत्ति विठा ली जाय। इस प्रकार 'गुण' का जो स्वरूप बहुत दिनों से चलता चला आ रहा था, पण्डित-राज ने उसे हिला दिया। डॉ॰ नगेन्द्र ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस समस्या पर विचार करते हुए कहा है कि रस और गुण दोनों ही मन की स्थिति विशेष हैं। उनकी धारणा है कि रस वह आनन्दरूपी मनःस्थिति है जिसमें हमारी सभी वृत्तियाँ अन्वित हो जाती हैं और गुण वह रस की पूर्ववितनी मनःस्थिति है जहाँ हमारी चित्त-वृत्तियाँ पिघलकर, दीप्ति होकर या परिव्याप्त होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं। इस प्रकार डॉ॰ नगेन्द्र पि॰डतराज से हटकर अपना मत रखते हैं और लोचनकार के उद्धरण से अपने मत की पुष्टि करते हैं। निश्चय ही इस विचारोत्तेजक दिशा में साहित्य-शास्त्री अभी कुछ और सोचेंगे। विचारणीय यह है कि रसानुभूति का प्रभाव द्रुति आदि है अथवा द्रुति आदि की परिणति रसानुभूति है।

रीति-सिद्धान्त के अन्तर्गत उन्होंने गुण-संख्या, गुण और रीति, रीति प्रकार तथा दोष का भी व्यापक पीठिका पर आख्यान किया है । गुण की भाँति दोष की भी मनोवैज्ञानिक पीठिका पर रिचार्ड्स-सम्मत रसानुभूति के अनुरूप विचार कर पुनराख्यान की सम्भावना मूर्त की है ।

रीति-विवेचन का तीसरा खण्ड है पाश्चात्य काव्यशास्त्र में रीति और चौथा है हिन्दी में रीतिसिद्धान्त का विकास । अंततः संभावना करते हुए डॉ॰ नगेन्द्र ने रीतिमत की सीमाओं और उपलिक्धिओं का उल्लेख किया है । तीसरा और चौथा खण्ड व्यवस्थित आख्यान ही कहा जा सकता है । कारण वह प्रासंगिक और पीठिका है पुनराख्यान मूल और केन्द्रीय विवेचन के संदर्भ की वस्तु है । वहाँ यह है भी । रसवादी डॉ॰ नगेन्द्र की दृष्टि में रस की अवहेलनान्त्रण जहाँ रीतिमत समादृत न हो सका, वहीं वीस गुणों में सभी सौंदर्य-स्रोतों के समावेशवश वह अपने को एकांगिता से बचा भी सका है ।

# [ग] ध्वनि-सम्प्रदाय

'भारतीस काव्यशास्त्र की भूमिका' में डॉ॰ नगेन्द्र ने दो ही काव्य सिद्धांतों— रीतिमत तथा वक्रोक्तिमत—का समावेश किया है। ध्वनि-सिद्धांत पर डॉ॰ साहब ने हिन्दी 'ध्वन्यालोक' की भूमिका तथा 'रीति-काव्य की भूमिका' में अपने विचार व्यक्त किए हैं। 'रीति-काव्य की भूमिका' में इसका स्वरूप परिचयात्मक ही है। 'हिन्दी ध्वन्यालोक' की भूमिका में अपेक्षाकृत विस्तार-पूर्वक आख्यान उपलब्ध होता है।

अन्य रसेतर काव्यसिद्धांतों की भाँति ध्वनि-सिद्धांत का आख्यान भी जिन विभिन्न शीर्षकों में हुआ है, वे हैं : पूर्ववृत्त, ध्वान का अर्थ और परिभाषा, ध्वनि की प्रेरणा—स्फोट सिद्धांत, ध्वनि की स्थापना, काव्यत्व का अधि-वास, ध्वनि के भेद, ध्वनि की व्यापकता, ध्वनि और रस, ध्वनि के अनुसार काव्य के भेद, ध्वनि में अन्य सिद्धांतों का समाहार, ध्वनि और पाण्चात्य साहित्यशास्त्र, हिन्दी में ध्वनि, उपसंहार, ग्रन्थकार तथा ध्वन्या-लोक का प्रतिपाद्य विषय । यह सिद्धांत अपने मुल रूप में ही इतना ग्राह्य और अद्यावधिक नव्य से नव्यतर काव्य धारा पर चरितार्थ होने वाला सिद्धान्त है कि उसमें पुनराख्यान की यों ही कम आवश्यकता है। सिद्धांत जब इतना निगूढ़ हो, पूर्व विवेचित रूप में अपर्याप्त हो तब उसके युगानुरूप पुनराख्यान की आवश्यकता भी होती है। ध्वनि-सिद्धांत में ये सब कमियाँ स्वयम् ही नहीं हैं। इसीलिए इसका आख्यान और पुनराख्यान रीति और वक्रोक्ति मत की तुलना में नास्तिप्राय है और इस नास्तिप्रायता का कारण स्पष्ट है। इससे आख्याता के सामर्थ्य की कमी नहीं, अपितु आख्येय के सामर्थ्य का प्रचुर ध्वनन है । यों दो-तीन ऐसे प्रसंग अवश्य हैं जहाँ आख्याता को स्वकीय सामर्थ्य का प्रकाशन करना पड़ा है ।

इन विशेष प्रसगों में एक विवाद है—काव्यत्व का अधिवास कहाँ? वाच्यार्थ में या व्यंग्यार्थ में ? ध्वन्यालोककार की स्थापना है कि व्यञ्जकता और काव्यवारता ये दोनों समनियत धर्म हैं अर्थात् काव्यत्व का बीज है चारुता और चारुता का स्रोत है व्यजंकता । जहाँ व्यंजकत्व नहीं, वहाँ चारुता नहीं और जहाँ चारुता नहीं, वहाँ काव्यत्व नहीं । इस प्रकार काव्यत्व का संबंध व्यंजकत्व से हैं जो वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य—तीनों में रह सकता है । अतः काव्यत्व का अधिवास वाच्यार्थ में ही है—यह 'ही' अवधारण सर्वथा व्यामोहकारी तत्व है । वाच्यार्थ-व्यंग्यार्थ निरपेक्ष होकर व्यंजक नहीं और व्यंजक न हों के प्रयोकता अपनी सामर्थ्य से व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य में ही चारुता उत्पन्न कर दे । जैसे, उत्प्रेक्षा-सम्नाट् हर्ष हैं और उपमा-सम्नाट् कालिदास । उपमा में सादृश्य या साधम्यं वाच्य है और उत्प्रेक्षा में व्यंग्य, तथापि जो चारुता कालिदास के वाच्य में है वह श्रीहर्ष के व्यंग्य में नहीं।

अत: प्रयोक्तृ-निरपेक्ष रूप में तो ध्वनिकार की बात सही है कि चारुता व्यंजक वाच्य में होती है - केवल वाच्य में नहीं। इस संदर्भ में शुक्ल जी भी जब काव्य-त्व का अधिवास व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य में कहते हैं और जिन उदाहरणों की पीठिका पर उसे स्पष्ट करते हैं उससे साफ़ जाहिर है कि वे व्यंजक वाच्य की चारुता की बात करते हैं, मात्र वाच्य की नहीं। डॉ० नगेन्द्र ने शुक्ल जी के उद्धरणों को माध्यम बनाकर प्रकृत यह खड़ा किया है कि 'जीकर हाय पतंग मरे क्या', से प्रतीत चारुता या चमत्कार वाच्य 'विरोधाभास' में है या व्यंग्य रतिगत उत्कटता में ? यदि चारुता का आधार उत्पन्न 'लक्ष्यार्थ' और अनुपपन्न 'वाच्यार्थ' की तुलना द्वारा उभरा हुआ 'विराधाभास' है तो वह शुक्ल जी की अपनी ही मान्यता के विरुद्ध है और यदि दूसरा हो तो व्यंग्यार्थ से भी काव्यत्व के अधिवास को दूर नहीं किया जा सकता। अतः डॉ॰ नगेन्द्र शुक्ल जी की इस स्थापना को दिशान्तर भ्रमण और वदतोव्याघात मानते हैं। शुक्ल जी ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि अनूठी से अनूठी उक्ति काव्य तभी हो सकती है जबिक उसका संबंध कुछ दूर का ही सही हदय के किसी भाव या वृत्ति से होगा। शुक्ल जी के इस वक्तव्य के आलोक में डॉ० नगेन्द्र का निष्कर्ष संगत लगता है।

इस संदर्भ में यह भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए की ध्वनिकार ध्वनि की बात करते हुए भी अभिनिवेश अंततः ध्वनित रस में ही रखते हैं और आत्म-स्थानीय उसी को मानते हैं। वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि को जो महत्व है, वह रसपर्यवसायी और सिन्नहित होने के कारण गौण रूप से।

शुक्ल जी की यह आपित्त कि वस्तुव्यंजना तथा भावव्यंजना में केवल संलक्ष्य और असंलक्ष्यक्रम का मात्रात्मक भेद ही नहीं है, अपितु गुणात्मक या प्रकारात्मक भेद है, सही लगता है। वस्तुव्यंजना बोध का एक रूप है जब कि भावव्यंजना स्पष्ट अनुभूति है। शुक्ल जी का यह भी सोचना संगत लगता है कि वस्तुव्यंजना तक एक अर्थ के सहारे वैसे ही पहुँ बा जाता है जैसे अनुमिति की प्रक्रिया में। परन्तु व्यंजना की प्रक्रिया में भी हम एक अर्थ के सहारे दूसरे अर्थ तक पहुँ चते हैं। अत: एक अर्थ बोध के सहारे (धूप से आग तक) दूसरे अर्थ के बोध तक पहुँ चना अनुमान ही है—यह निष्कर्ष विवादास्पद है। अनुमान का लक्ष्य और व्यंजना का लक्ष्य भिन्न है। अनुमान जिस अर्थ का बोध कराता है उसका लक्ष्य बोध का प्रायोगिक और सत्य बताना होता है—व्यंजना का नहीं। व्यंजना से हम जिस अर्थ तक पहुँ चते हैं—वह चमत्कारी हो, बस इतना ही आवश्यक है, सत्यासत्य निर्णय से कोई सरोकार नहीं। इस सत्य से महिम

भी परिचित थे, अतएव उन्होंने लोकानुमान से काव्यानुमान को पृथक् भी कहा है—फलत: ऐसे चमत्कारी स्थलों की अनुमिति को वे काव्यानुमिति कहाना अधिक पसंद करते हैं।

डॉ॰ नगेन्द्र के इस निष्कर्ष से कि शुक्ल जी वस्तुव्यंजता में काव्यत्व नहीं मानते, मैं भी सहमत हूँ, पर इस शर्त के साथ कि यदि वह यथाकथि चिदिष् भावपर्यवसायिनी न हो।

डॉ॰ नगेन्द्र ने एक दूसरी बात 'ध्विन और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र' शीर्षक विचार प्रवाह के संदर्भ में कही है और वह यह िक किव अपने हृदय का रस हृदयान्तर में संक्रान्त करने के लिए चित्रभाषा का प्रयोग करता है और यह कार्य किव की कल्पना-शिक्त से ही संभव है। ग्राहक जब भाषा से 'चित्र' और 'चित्र' से भाव तक उलटी यात्रा करता है तब किव की प्रतिभा या कल्पना का भी साक्षात्कार कर लेता है। डॉ॰ नगेन्द्र ने बहुत सुन्दर तथ्य को पकड़ा है। ध्वन्यालोककार ने कहा है—

#### सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् । अलोकसामान्यमभिव्यनिकत परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।

अर्थात् रस प्रवाही महाकवि की वाणी निहित अलोकसामान्य प्रतिभाविशेष का प्राकट्य कर देती है। ग्राहक भाषा में निहित क्षमता (व्यंजना) से किव की कल्पना का साक्षात्कार कर लेता है। दूसरे की कल्पना (कारियत्री) का साक्षात्कार करने के लिए स्वयम् में भी (भावियत्री) कल्पना होनी चाहिये पर इस सुप्त शक्ति को कौन जगावे ? उत्तर है किवप्रयुक्त भाषा की क्षमता ही। इस आधार पर डॉ॰ नगेन्द्र का निष्कर्ष है कि शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगाने वाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने 'व्यंजना' और रस के संवेदन सूत्र को ही 'रस ध्वनि' कहा है। वैसे यह ठीक है कि व्यंजना शब्द की एक क्षमता है और उसका कार्य अर्थविध या अर्थप्रकाश है—पर वह यह कार्य कल्पना को जाग्रत कर के भी, ग्राहिका शक्ति को दीप्त करके ही तो कर सकती है।

अन्तिम बात है ग्रन्थकार के सम्बन्ध में। डॉ॰ नगेन्द्र ने विभिन्न क्रेमागत तर्क-प्रतितकों का उल्लेख किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ग्रन्थकार और वृत्तिकार एक ही है। मैं इस विषय में बात बहुत नहीं बढ़ाना चाहता, पर द्वितीय उद्योत में लोचनकार की एक पंक्ति है—वृत्तिकारेण सता मया (आन्दवर्द्धनाचार्यण)। इससे निर्भान्त पुष्टि होती है कि ग्रन्थकार ही वृत्तिकार होकर अपना स्पष्टीकरण दे रहा है। अंततः भूमिका के अंत में सक्षेप में डॉ० नगेन्द्र ने प्रतिपाद्य विषयों की तालिका प्रस्तुत कर दी है।

इस प्रकार ध्विन-सिद्धान्त के सम्बन्ध में उनका अभिमत है कि वह काव्य का एक सार्वभौम सिद्धान्त है। इसीलिए वह युग का मान्य रहा है और है। अलंकार और रीतियाँ तो काव्य के बिहरंग को छकर रह जाते हैं—पर ध्विन-वाद एक साथ प्रबन्ध और मुक्तक—सब की उँचाई का शक्त प्रतिमान है। रसवाद को मुक्तक या श्रव्यकाव्य पर लागू करने में रबर के चन्दोवा की तरह इसे खींचना पड़ता है—'ध्विन' के साथ यह बात नहीं है। दूसरे, ध्विन-सिद्धान्त की एक विशेष महिमा यह भी है कि वह सौन्दर्य के अन्य समस्त स्रोतों को ध्विनत रस के सूत्र में समन्वित भी कर लेता है।

## 🏴 🏥 [घ] वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

वक्रोक्ति मत का अभिव्यंनावाद के संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र गुक्ल ने वाग्वैचित्र्यवाद कहकर अवसूल्यन कर दिया था, पर डॉ॰ नगेन्द्र के सुविस्तृत आख्यान और पुनाराख्यान जैसे प्रयासों ने उसे न केवल वाग्वैचित्र्यवाद के गर्त से उवारा, प्रत्युत 'स्थाने' प्रतिष्ठित भी किया। निर्माण की दृष्टि से काव्य के विभिन्न पक्षों पर इतना सूल्यवान् प्रकाश विकीर्ण करने वाला भारतीय काव्यशास्त्र में कोई दूसरा मत नहीं है। यह अवश्य है कि भारतीय काव्यशास्त्र का सर्वाधिक शक्त सिद्धान्त ध्वनि-सिद्धान्त है और कुन्तक ने उसका खण्डन कर अपने को विपक्ष में रखा। इस कारण उनके शब्दशक्ति-सम्बन्धी वक्तव्यों में कुछ कमजोरी आ गई है और सूक्ष्मदर्शी समीक्षक उसे पकड़ लेते हैं। व्यञ्जनाश्रित ध्वनि का प्रत्याख्यान करने के वावजूद कुन्तक ने 'रसं' और 'प्रतीयमान' का स्थान-स्थान पर न केवल उल्लेख किया है, अपितु उसे मूल साध्य भी बताया है। कुन्तक के यहाँ 'भाव' और 'स्वभाव' ही अलंकार्य है और वक्रोक्ति अलंकृति। वे वक्रोक्ति को साध्य नहीं मानते और 'वक्रत्वं किव व्यापारः' कहने वाला व्यक्ति साध्य मान भी कैसे सकता है? साध्य तो परिणित है, आन्तरालिक व्यापार नहीं।

डॉ॰ नगेन्द्र के आख्यान की एक विशेषता यह भी है कि वे प्राचीन काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त को अपने और युग के चिन्तन-ढाँचे में भर देते हैं—फलतः प्राचीन चिन्तन आज के चिन्तकों और जिज्ञासुओं के लिये ग्राह्य हो जाता है। प्राचीन चिन्तन को वर्तमान में पुनरुज्जीवित करने का यही प्रशस्त पथ है कि एक ओर जहाँ उसे वर्तमान ढाँचे में विठाया जाय और वर्तमान शब्दावली में ढाला जाय, वहीं दूसरी ओर वर्तमान समस्याओं का समाधान देने में क्षम निहित संभावनाओं को उजागर किया जाय। इनके आख्यान और पुनराख्यान में ये दोनों ही वातों मिलती हैं। उनके विवेचन में इसीलिए पढ़ने को मिलता है— 'आधुनिक काव्यशास्त्र की शब्दावली में कुन्तक की स्थापनाएँ प्रस्तुत की जा मकती हैं।' दूसरी तरफ़ स्वच्छंदतावादी क्रोचे जैसे दार्शनिक चिन्तकों के संदर्भ कुन्तक की विवेचना में निहित संभावनाओं को उजागर किया गया है।

डॉ॰ नगेन्द्र व्यापक परिप्रेक्ष्य में भारतीय काव्यशास्त्र की व्याख्या करते हुए बार-बार इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—''भारतीय साहित्यवेत्ता शताब्दियों पूर्व साहित्य के मूल मर्मों तक पहुँच गया था—उसकी शब्दावली मात्र भिन्न थी।" और मैं इससे शतशः सहमत हूँ। मेरी भी धारणा है कि भारतीय जीवन जिस आध्यात्मिक परिधि को स्वीकार करता था, उसमें स्वतःस्फूर्त सत्यों का महत्व था। विज्ञान आज उन स्फूर्त सत्यों की तार्किक संगति लगाकर आधुनिक लोगों के गले उतार सकता है। डॉ॰ नगेन्द्र ने इस पथ पर यथाशक्ति संचरण किया है। इस संदर्भ में उनका वह विवेचन लिया जा सकता है जहाँ उन्होंने कुन्तक के 'वक्रत्वं कविव्यापारः' के अनुसार विषयवस्तु की अपेक्षा निर्माता किव व्यापार को महत्व दिया है और उसका स्पष्टीकरण व्यापक परिनेप्रक्ष्य में कर एक प्रकार से पुनराख्यान ही प्रस्तुत किया है।

साहित्य जगत् का एक बहुत बड़ा प्रश्न है कि काव्य में वर्ण्य महत्व का है या किव-व्यक्तित्व। डॉ॰ नगेन्द्र ने पूर्व और पिश्चम के साहित्यशास्त्र को ही नहीं, दर्शन और मनोविज्ञान को भी सामने रखकर अपना पक्ष प्रस्तुत किया है और कुंतक की संभावनाएँ भी मूर्त की हैं। उन्होंने व्यक्तित्व और कर्तृ त्व का भी अंतर साफ़ किया है। उनके अनुसार भारतीय काव्यशास्त्र जहाँ रस के माध्यम से विषय को महत्व दे रहा था वहाँ पिश्चम में अरस्तू से मैथ्यू आर्नल्ड तक महान् विषयवस्तु का ही महत्व माना जाता रहा है। परन्तु इस अविच्छिन्नता में जहाँ-तहाँ व्यक्तिपरक दृष्टिकोण की ज्योति भी कौंधती हुई लक्षित होती थी। क्रोचे ने तो वस्तु का एकान्त निषेध ही कर दिया था। पिश्चम में वस्तु समर्थकों का दृष्टिकोण क्षीण नहीं हुआ। इलियट और प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युंग तक ने इस पक्ष का जोरदार समर्थन किया। डॉ॰ साहब ने इसका बड़ा ही विशद और प्रांजल उपस्थापन किया है। इलियट कवि-व्यक्तित्व का किसी प्रकार का योगदान नहीं मानते। यद्यपि कर्तृ त्व का एकान्त निषेध भी नहीं करते, परन्तु उसे वे कान्श्रस एक्टिविटी (सचेष्ट क्रिया) भी नहों भी नहीं करते, परन्तु उसे वे कान्श्रस एक्टिविटी (सचेष्ट क्रिया) भी नहों भी नहीं करते, परन्तु उसे वे कान्श्रस एक्टिविटी (सचेष्ट क्रिया) भी नहों भी नहीं करते, परन्तु उसे वे कान्श्रस एक्टिविटी (सचेष्ट क्रिया) भी नहों

मानते । वे मानते हैं कि सृजन प्रेरणा के प्रभाव में भावों और संवेदनों के समन्वय का नाम ही काव्य रचना है। युंग भी मानते हैं कि महान कला वस्तुपरक और अव्यक्तिगत ही होती है। भारतीय काव्यशास्त्र में भी जो प्राक्तन और इदानीन्तन वासना को निर्माता या ग्राहक के व्यापार की विशेषता कहा गया है युंग के वक्तव्य के आलोक में उसकी स्पष्ट ही संवादी व्याख्या हो जाती है। डॉ॰ नगेन्द्र ने उसको लक्षित किया है। कुन्तक से पूर्व भारतीय काव्यशास्त्र न तो भोक्ता और स्रष्टा का तादात्म्य मानता था और न ही कवि को माध्यम मात्र । वह तो काव्य को प्रतिभा अथवा व्युत्पति, अभ्यास या प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास की परिणति मानता था। इस सारी पीठिका पर जहाँ तक कुन्तक का संबंध है, डाँ० नगेन्द्र मानते हैं कि वह किव को केवल माध्यम नहीं मानता, विपरीत इसके कवि के कर्नुत्व की निर्भ्रान्त घोषणा करता है। इस कर्तृत्व स्वीकृति में भी उनके अनुसार दो विकल्प हैं-पहला यह कि कर्तृत्व क्या केवल कवि की सक्रियता है अथवा कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भी ? काव्य को कविकर्म कहने वाला कुंतक सक्रियता को तो मानता ही है, प्रतिभा को काव्य का कारण मानते हुए और उसे 'प्राक्तनाद्यतन संस्कारपरिपाक-प्रौढा' समझते हुए कवि व्यक्तित्व को भी अभिव्यक्त मानता है। पर डॉ० साहव के अनुसार आधुनिक मनोविज्ञान की भाँति कुन्तक व्यक्तित्व और भोक्ता को पर्याय नहीं मानते । 'स्वभाव' को महत्व देते हुए भी कुन्तक काव्य को कवि की प्रत्यक्ष आत्मानुभूति नहीं मानते । डॉ० नगेन्द्र की दृष्टि में कुन्तक द्वारा भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रतिपादित कवि की 'सवासनता' और पाश्चात्य मनोविज्ञान द्वारा स्थापित 'आत्माभिव्यक्ति' का मध्यवर्ती है। इस प्रकार डॉ॰ नगेन्द्र भारतीय काव्यशास्त्र की स्वतः स्फूर्त मान्यताओं को आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली और तर्क-प्रक्रिया द्वारा न केवल ग्राह्म बना देते हैं, अपितु विश्वसनीय भी। प्रतिभा तथा कल्पना के स्वरूप-विश्लेषण में जो व्यापक पीठिका और सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है उससे भी चिन्तकों को अपने अनुरूप सोचने की संभावना का अनावरण होता है। इस प्रकार वे समस्या का अपनी दृष्टि से समाधान देते तथा औरों के लिए संभावना की जगह बनाते बढ़ते चलते हैं।

इसी प्रकार सींदर्य वस्तुगत है या व्यक्तिगत? प्रकृति उद्दीपन है या आलम्बन ? ऐसे प्रश्नों को भी लिया और कुन्तक का पक्ष वर्तमान संदर्भ में स्पष्ट किया है। कुंतक के अनुसार वस्तु या काव्यवस्तु सहज और आहार्य दो प्रकार की है। सहज वस्तु का सींदर्य वस्तुगत और आहार्य का व्यक्तिगत है। रहा प्रकृति के आलम्बनत्व का प्रश्न, सो डॉ॰ नगेन्द्र कुन्तक के साथ हैं और उसे उद्दीपन ही कहना चाहते हैं । स्वयम् शुक्ल जी ने रित या प्रेम को चेतन के कूलों में बाँध-कर निरूपित किया है ।

इस प्रकार वक्रोक्ति-सिद्धान्त के विभिन्न पक्षों का शक्त पुनराख्यानगर्भ आख्यान कर लेने के बाद डॉ॰ नगेन्द्र इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वक्रोक्ति-सिद्धान्त एक व्यापक सिद्धान्त है जिसमें वर्ण से लेकर प्रबंध तक काव्य-सौंदर्य के समस्त रूप वक्रता के ही प्रकार हैं। साथ ही तब तक के समस्त सौन्दर्य-स्रोत वक्रता के ही प्रकार हैं। वक्रता केवल वाक्चातुर्य नहीं है, वह किव-व्यापार है। भावप्रेरित कल्पना या प्रतिभा पर बल होने के कारण इस बाद में कला का अतिचार नहीं है। कुन्तक का किव-व्यापार या प्रतिभा प्रस्थान में किवगत और पर्यवसान तथा परिणित में अन्तश्चमत्कारात्मक वस्तुगत हो जाती है। इसीलिए भावदीप्ति-मूलक उक्ति-दीप्ति ही कुन्तक की संतुलित वक्रता है। वक्रोक्ति कलातत्व की मार्मिक व्याख्या है और यही कुन्तक का भारतीय काव्य-शास्त्र को योगदान है। साथ ही अलंकृति को जीवित कहना उसकी सीमा भी है। पर 'जीवित' को Soul की जगह Life कहें तो विशेष गड़बड़ भी नहीं है।

and the state of the state of the state of the state of

to recognize the Manne pe

# लेखक के ग्रन्थ ग्रन्थ

intrining ish	to provide the matter as researched the contract of the contra	
-office "d	१ —व्यंजना और नवीन कविता	१६५७
Triplanting.	२ — नृसिंह चम्पू भी के अपनि स्थान	9845
Market State	३—भारतीय साहित्य दर्शन	१६४६
11 10 10 10 10 10 10 10 10 10 10 10 10 1	४ — औचित्य-विमर्श	१६६६
	५ रस-विमर्श	१६६४
	६ साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष	१६६६
1 7 97 37	७ लक्षणा और उसका आधुनिक हिंदी काव्य में प्रसार	
Anna Carlo	<ul> <li>काव्यालंकार-सार-संग्रह और लघुवृत्ति की व्याख्या</li> </ul>	9855
	<u>६ रहस्यवाद</u>	9866
00	<b>९०</b> —हिंदी साहित्य का इतिहास	9840
	११—कवि श्री रामकुमार वर्मा	9807
	<b>१२—भारतीय काव्यशास्त्र</b> ः नए संदर्भ 🙀	9852
	<b>१३</b> —आदिकालीन हिंदी साहित्य की सांस्कृतिक पीठिका	9803
	१४ - कामायनी : कला और दर्शन	१६७३
	<b>१५</b> —आधुनिक काव्य : कला और दर्शन	१६७३





